माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमालायाः चतुर्विंशतितमो ग्रन्थः

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिविरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकयोपेतः ।

श्रीयुक्त पण्डित जुगलकिशोर-मुख्तारलिखित—
प्रस्तावनेतिहासादिसमलङ्कृतः ।

प्रकाशिका—

माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमालासमितिः ।

प्रथमावृत्तिः] श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४५१ [मू० रुप्यकद्वयम् ।

विक्रमाब्द १९८२ ।

निवेदन ।



सटीक रत्नकरण्डको छपकर तैयार हुए एक वर्षसे भी अधिक हो गया, परन्तु इसकी प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासके लिखनेमें आशासे अधिक समय लग गया और इस कारण यह अब तक प्रकाशित होनेसे रुका रहा । मुझे आशा है कि ग्रन्थमालाके शुभचिन्तक और पाठक जब इसकी विस्तृत प्रस्तावना और स्वामी समन्तभद्रके इतिहासको पढ़ेंगे, तब इस विलम्बजनित दोषको भूल जावेंगे, साथ ही उन्हें इसे पढ़कर बहुत अधिक प्रसन्नता भी होगी ।

सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजीने प्रस्तावना और इतिहासके लिखनेमें जो परिश्रम किया है, उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती । इतिहासज्ञ बहुश्रुत विद्वान् ही इनके मूल्यको समझेंगे । आधुनिक कालमें जैनसाहित्यके सम्बन्धमें जितने आलोचना और अन्वेषणात्मक लेख लिखे गये हैं, मेरी समझमें उन सबमें इन दोनों निबन्धोंको (प्रस्तावना और इतिहासको) अग्रस्थान मिलना चाहिए । ग्रन्थमालाके संचालक इन निबन्धोंके लिए बाबू साहबके बहुत ही अधिक कृतज्ञ हैं । साथ ही उन्हें इन बहुमूल्य निबन्धोंको इस ग्रन्थके साथ प्रकाशित कर सकनेका अभिमान है ।

सटीक रत्नकरण्डका सम्पादन नीचे लिखी तीन हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे किया गया है —

क—बम्बईके तेरापन्थी मन्दिरकी प्रति जो हाल ही को लिखी हुई है ।

ख—बारामतीके पण्डित वासुदेव नेमिनाथ उपाध्यायकी खुदकी लिखी हुई प्रति ।

ग—श्रीमान् सेठ हीराचन्द नेमिचन्दजी शोलापुरद्वारा प्राप्त प्रति ।

हस्तलिखित प्रतियोंके स्वामियोंको अनेकानेक धन्यवाद ।

एक विद्वान् शास्त्रीके द्वारा इस ग्रन्थकी प्रेसकापी तैयार कराई गई और एक न्यायतीर्थ पण्डितके द्वारा प्रूफसंशोधन कराया गया, फिर भी दुःखकी बात है कि ग्रन्थ बहुत ही अशुद्ध छपा—पण्डित महाशयोंने अपने उत्तरदायित्वका जरा भी खयाल नहीं रक्खा । मैं नहीं जानता था कि जिनवाणी-प्रकाशनके

प्रस्तावना ।



ग्रन्थ-परिचय ।

जिस ग्रथरत्नकी यह प्रस्तावना आज पाठकोंके सामने प्रस्तुत की जाती है वह जैनसमाजका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रत्नकरडक' नामका उपासकाध्ययन है, जिसे साधारण बोलचालमें अथवा आम तौर पर 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। जैनियोंका शायद ऐसा कोई भी शास्त्रभडार न होगा जिसमें इस ग्रथकी एक आध प्रति न पाई जाती हो, और इससे ग्रथकी प्रसिद्धि, उपयोगिता तथा बहुमान्यतादि-विषयक कितनी ही बातोंका अच्छा अनुभव हो सकता है।

यद्यपि यह ग्रथ कई बार मूल रूपसे तथा हिन्दी, मराठी और अग्रेजी आदिके अनुवादों सहित प्रकाशित हो चुका है, परन्तु यह पहला ही अवसर है जब यह ग्रथ अपनी एक सस्कृतटीका और ग्रथ तथा ग्रथकर्तादिके विशेष परिचयके साथ प्रकाशित हो रहा है। और इस दृष्टिसे ग्रथका यह सस्करण अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें सदेह नहीं है।

मूल ग्रथ स्वामीसमतभद्राचार्यका बनाया हुआ है, जिनका विशेष परिचय अथवा इतिहास अलग लिखा गया है, और वह इस प्रस्तावनाके साथ ही प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रथमें श्रावकोंको लक्ष्य करके उस समीचीन धर्मका उपदेश दिया गया है जो कर्मोंका नाशक है और ससारी जीवोंको ससारके दु खोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला—अथवा स्थापित करनेवाला है। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रस्वरूप है और इसी क्रमसे आराधनीय है। दर्शनादिककी जो स्थिति इसके प्रतिकूल है—अर्थात्, सम्यक्रूप न होकर मिथ्या रूपको लिये हुए है—वही अधर्म है और वही ससार-परिभ्रमणका कारण है, ऐसा आचार्य महोदयने प्रतिपादन किया है।

(५) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हुए जीव, अव्रती होने पर भी, नारक, तिर्यंच, नपुसक और स्त्रीपर्यायको धारण नही करते, न दुष्कुलोंमे जन्म लेते हैं, न विकृताग तथा अल्पायु होते हैं और न दरिद्रीपनेको ही पाते हैं।

द्वितीय परिच्छेदमें सम्यग्ज्ञानका लक्षण देकर उसके विषयभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका सामान्य स्वरूप दिया है।

तीसरे परिच्छेदमें सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी पात्रता और आवश्यकताका वर्णन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवा और परिग्रहरूप पापप्रणालिकाओंसे विरतिरूप वतलाया है। साथ ही, चारित्रके 'सकल' और 'विकल' ऐसे दो भेद करके और यह जतलाकर कि सकल चारित्र सर्वसगविरत मुनियोंके होता है और विकलचारित्र परिग्रहसहित गृहस्थोंके, गृहस्थोंके योग्य विकलचारित्रके बारह भेद किये हैं, जिनमे पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत शामिल हैं। इसके वाद हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवा और परिग्रहरूपी पॉच पापोके स्थूलरूपसे त्यागको 'अणुव्रत' वतलाया है और अहिंसादि पॉचों अणुव्रतोंका स्वरूप उनके पॉच पॉच अतीचारों सहित दिया है। साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि मद्य, मांस और मधुके त्यागसहित ये पचअणुव्रत गृहस्थोंके 'अष्ट मूलगुण' कहलाते हैं।

चौथे परिच्छेदमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण नामसे तीन गुणव्रतोंका उनके पॉच पाँच अतिचारोंसहित कथन है, पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु श्रुति और प्रमादचर्या ऐसे अनर्थदडके पाँच भेदोंका वर्णन है और भोगोपभोगकी व्याख्याके साथ उसमें कुछ विशेष त्यागका विधान, व्रतका लक्षण और यमनियमका स्वरूप भी दिया है।

पॉचवें परिच्छेदमें देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैय्यावृत्य नामके चार शिक्षाव्रतोंका, उनके पाँच पॉच अतीचारोंसहित, वर्णन है। सामायिक और प्रोषधोपवासके कथनमें कुछ विशेष कर्तव्योंका भी उल्लेख किया है और सामायिकके समय गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट मुनि' की उपमा दी है। वैय्यावृत्यमें सयमियोंको दान देने और देवाधिदेवकी पूजा करनेका भी विधान किया है और उस दानके आहार, औषध, उपकरण, आवास ऐसे चार भेद किये हैं।

छठे परिच्छेदमें, अनुष्ठानावस्थाके निर्देशसहित, सल्लेखना (समाधिमरण)-का स्वरूप और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए, सक्षेपमें समाधि

मरणकी विधिका उल्लेख किया है और सल्लेखनाके पॉच अतीचार भी दिये हैं। अन्तमे सद्धर्मके फलका कीर्तन करते हुए, नि श्रेयस सुखके स्वरूपका कुछ दिग्दर्शन भी कराया गया है।

सातवें परिच्छेदमे श्रावकके उन ग्यारह पदोंका स्वरूप दिया गया है जिन्हे 'प्रतिमा' भी कहते है और जिनमे उत्तरोत्तर प्रतिमाओंके गुण पूर्वपूर्वकी प्रतिमाओंके सपूर्ण गुणोंको लिये हुए होते है और इस तरह पर क्रमश विवृद्ध होकर निष्ठते है। इन प्रतिमाओंमे छठी प्रतिमा 'रात्रिभोजनत्याग' बतलाई गई है।

इस तरह पर, इस ग्रथमे, श्रावकोंके अनुष्ठानयोग्य धर्मका जो वर्णन दिया है वह बडा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक और प्रामाणिक है। और इसलिये प्रत्येक गृहस्थको, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अवश्य ही इस ग्रथका भले

कोई भी उपलब्ध नहीं है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव उपासका-ध्ययन, अमितगति उपासकाचार, वसुनन्दिश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, और लाटीसंहिता आदिक जो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं वे सब इसके बादके ही बने हुए हैं। और इस लिये, उपलब्ध जैनसाहित्यमें, यदि इस ग्रंथको 'प्रथम श्रावकाचार'का नाम दिया जाय तो शायद कुछ भी अनुचित न होगा। छोटा होनेपर भी इसमें श्रावकोंके लिये जिन सल्लक्षणान्वित धर्मरत्नोंका संग्रह किया गया है वे अवश्य ही बहुमूल्य हैं। और इस लिये यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी मूल्यमें बड़ा है, ऐसा कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता। प्रभाचंद्रजीने इसे अखिल सागारमार्ग (गृहस्थधर्म) को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य लिखा है और श्रीवादिराजसूरिने 'अक्षय्यसुखावह' विशेषणके साथ इसका स्मरण किया है।

ग्रन्थपर सन्देह।

कुछ लोगोंका खयाल है कि यह ग्रंथ उन स्वामी समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है जो कि जैन समाजमें एक बहुत बड़े प्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं और जिन्होंने ' देवागम ' (आप्तमीमांसा) जैसे अद्वितीय और अपूर्व तर्क-पूर्ण तात्त्विक ग्रंथोंकी रचना की है; बल्कि ' समंतभद्र ' नामके अथवा समन्त-भद्रके नामसे किसी दूसरे ही विद्वानका बनाया हुआ है, और इस लिये अधिक प्राचीन भी नहीं है। परंतु उनके इस खयाल अथवा संदेहका क्या कारण है और किस आधार पर वह स्थित है, इसका कोई स्पष्टोल्लेख अभीतक उनकी ओरसे किसी पत्रादिकमें प्रकट नहीं हुआ, जिससे उसका यथोचित उत्तर दिया जा सकता। फिर भी इस व्यर्थके संदेहको दूर करने, उसकी संभावनाको मिटा देने और भविष्यमें उसकी संततिको आगे न चलने देनेके लिये यहाँ पर कुछ प्रमाणोंका उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है और नीचे उसीका यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है—

(१) ऐतिहासिक पर्यालोचन करनेसे इतना जरूर मालूम होता है कि ' समन्तभद्र ' नामके दो चार विद्वान् और भी हुए हैं, परंतु उनमें ऐसा एक भी नहीं था जो 'स्वामी' पदसे विभूषित अथवा इस विशेषणसे विशेषित हो, बल्कि एक तो लघुसमंतभद्रके नामसे अभिहित हैं, जिन्होंने अष्टसहस्री पर 'विषम-पदतात्पर्यटीका' नामकी एक वृत्ति (टिप्पणी) लिखी है। ये विद्वान् स्वयं भी अपनेको 'लघुसमंतभद्र' प्रकट करते हैं।

यथा—

देवं स्वामिनममलं विद्यानंदं प्रणम्य निजभक्त्या ।
विवृणोम्यष्टसहस्रीविषमपदं लघुसमंतभद्रोऽहम् ॥

दूसरे ' चिक्क समन्तभद्र ' कहलाते हैं । आराके जैनसिद्धान्तभवनकी सूचीमें ' चिक्कसमंतभद्रस्तोत्र ' नामसे जिस पुस्तकका उल्लेख है वह इन्हींकी बनाई हुई कही जाती है और उसको निकलवाकर देखनेसे मालूम हुआ कि वह वही स्तुति है जो ' जैनसिद्धान्तभास्कर' की ४ थी किरणमें 'एक ऐतिहासिक स्तुति' के नामसे प्रकाशित हुई है और जिसके अन्तिम पद्यमें उसके रचयिताका नाम 'माघनंदिव्रती' दिया है । इससे चिक्कसमंतभद्र उक्त माघनंदीका ही नामान्तर जान पड़ता है ।

के एडेहल्लि जैनवसतिसे मिले हुए चार ताम्रशासनोंमें पाया जाता है *। इन ताम्रशासनोंमें आपको 'गेरुसोप्पे–समन्तभद्र–देव' लिखा है। पहला ताम्रशासन आपके ही समयका–शक स० १३५५ का–लिखा हुआ है और शेष आपके प्रशिष्य, अथवा आपके शिष्य गुणभद्रके शिष्य, वीरसेनके समयादिकसे सम्बन्ध रखते हैं।

चौथे 'अभिनव समन्तभद्र' के नामसे नामांकित थे। इन अभिनव समन्तभद्र मुनिके उपदेशसे योजन-श्रेष्ठिके वनवाये हुए नेमीश्वर चैत्यालयके सामने कांसीका एक मानस्तभ स्थापित हुआ था, जिसका उल्लेख शिमोगा जिलान्तर्गत सागर ताल्लुकेके शिलालेख न० ५५ में मिलता है ×। यह शिलालेख तुलु, कोंकण आदि देशोंके राजा देवरायके समयका है और इस लिये मि० लेविस राइस साहबने इसे ई० सन् १५६० के करीवका वतलाया है। इससे अभिनव समतभद्र किस समयके विद्वान थे यह सहजहीमें मालूम हो जाता है।

पॉचवें एक समन्तभद्र भट्टारक थे, जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करद्वारा प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें, अभिनव सोमसेन भट्टारकके पट्टशिष्य जिनसेन भट्टारकके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले लिखा है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि ये अभिनव सोमसेन गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य थे। गुणभद्र भट्टारकके पट्टशिष्य सोमसेन भट्टारकका वनाया हुआ धर्मरसिक नामका एक त्रैवर्णिकाचार (त्रिवर्णाचार) ग्रथ सर्वत्र प्रसिद्ध है–वह मुद्रित भी हो चुका है–और इस लिये ये समन्तभद्र भट्टारक उन्हीं सोमसेन भट्टारकके प्रपट्टशिष्य थे जिन्होंने उक्त त्रिवर्णाचारकी रचना की है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। सोमसेनका यह त्रिवर्णाचार विक्रम सवत् १६६७ में वनकर समाप्त हुआ है। अत इन समतभद्र भट्टारकको विक्रमकी सतरहवीं शताब्दीके अन्तिम भागका विद्वान् समझना चाहिये।

'गेरुसोप्पे–प्रपात' (Waterfall) भी इसी स्थानके नामसे नामाकित है देखो E C, VIII. की भूमिका। पहले २१ नवरके ताम्रशासनमे 'गेरुसोप्पेय' ऐसा पाठ दिया है।

* देखो, सन १९०१ में मुद्रित हुई, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatica) की जिल्द छठीमें, कोप्प ताल्लुकेके लेख न० २१,२२,२३,२४।

× देखो, 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका,' जिल्द आठवीं।

छठे ' गृहस्थ समतभद्र' थे जिनका समय विक्रमकी प्रायः १७ वीं शताब्दी पाया जाता है। वे उन गृहस्थाचार्य नेमिचद्रके भतीजे थे जिन्होंने 'प्रतिष्ठा-तिलक'नामके एक ग्रथकी रचना की है और जिसे 'नेमिचद्रसंहिता' अथवा 'नेमिचद्र-प्रतिष्ठापाठ' भी कहते हैं और जिसका परिचय अप्रेल सन् १९१६ के जैनहितै-षीमें दिया जा चुका है। इस ग्रथमें समतभद्रको साहित्यरसका प्रेमी सूचित किया है और यह बतलाया है कि वे भी उन लोगोंमें शामिल थे जिन्होंने उक्त ग्रथके रचनेकी नेमिचद्रसे प्रार्थना की थी। सभव है कि 'पूजाविधि' नामका ग्रथ जो ' दिगम्बरजैनग्रथकर्ता और उनके ग्रथ ' नामकी सूचीमें दर्ज है वह इन्हींका बनाया हुआ हो।

(२) रत्नकरडकके प्रणेता आचार्य समंतभद्रके नामके साथ 'लघु,' 'चिक्क,' 'गेरुसोप्पे,' ' अभिनव ' या ' भट्टारक ' शब्द लगा हुआ नहीं है और न ग्रथमें उनका दूसरा नाम कहीं 'माघनदी' ही सूचित किया गया है, बल्कि ग्रथकी सपूर्ण सधियोंमे—टीकामें भी—उनके नामके साथ 'स्वामी' शब्द लगा हुआ है और यह वह पद है जिससे ' देवागम'के कर्ता महोदय खास तौरसे विभूषित थे और जो उनकी महती प्रतिष्ठा तथा असाधारण महत्ताका द्योतक है। बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उन्हे प्राय इसी (स्वामी) विशेषणके साथ स्मरण किया है और यह विशेषण भगवान् समतभद्रके साथ इतना रूढ जान पड़ता है कि उनके नामका प्राय एक अग हो गया है। इसीसे कितने ही बड़े बड़े विद्वानों तथा आचार्योंने, अनेक स्थानोंपर, नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि 'स्वामी' रूपसे आचार्य महोदयकी कितनी अधिक प्रसिद्धि थी।

ऐसी हालतमें यह ग्रथ लघुसमतभद्रादिका बनाया हुआ न होकर उन्हीं समन्तभद्र स्वामीका बनाया हुआ प्रतीत होता है जो ' देवागम ' नामक आप्तमीमासाग्रथके कर्ता थे ।

(३) ' राजावलिकथे ' नामक कनडी ग्रथमें भी, स्वामी समतभद्रकी कथा देते हुए, उन्हें ' रत्नकरडक' आदि ग्रन्थोंका कर्ता लिखा है । यथा—

" आ भावितीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणात्वम पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेल्लि स्याद्वादवादिगल् आगि समाधियि् ओडेदरु । "

(४) विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान प० आशाधरजीने अनगार धर्मामृत और सागारधर्मामृतकी स्वोपज्ञटीका (भव्यकुमुदचद्रिका) में, स्वामिसमतभद्रके पूरे अथवा सक्षिप्त (स्वामी) नामके साथ, रत्नकरंडकके कितने ही पद्योंका–अर्थात्, उन पद्योंका जो इस ग्रथके प्रथम परिच्छेदमें न० ५, २२, २३, २४, ३० पर, तृतीय परिच्छेदमें न० १६, २०, ४४ पर और पॉचवें परिच्छेदमें* न० ७, १६, २० पर दर्ज हैं–उल्लेख किया है । और कुछ पद्योंको—जो प्रथम परिच्छेदमें न० १४, २१,३२,४१ पर पाये जाते हैं—बिना नामके भी उद्धृत किया है । इन सब पद्योंका उल्लेख उन्होंने प्रमाणरूपसे–अपने विषयके पुष्ट करनेके अर्थ–अथवा स्वामिसमतभद्रका मतविशेष प्रदर्शित करनेके लिये ही किया है । अनगारधर्मामृतके १६ वें पद्यकी टीकामें आप्तका निर्णय करते हुए, आपने ' **आप्तो नोत्सन्नदोषेण** ' इत्यादि पद्य न० ५ को आगमका वचन लिखा है और उस आगमका कर्ता स्वामिसमतभद्रको बतलाया है ।

यथा—

वेद्यते निश्चीयते । कोसौ ? स आप्तोत्तम ।...कस्मात् ? आगमात्—
" आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना । भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता

---

* प्रभाचद्राचार्यने, अपनी टीकामें इस ग्रथको पॉच परिच्छेदोंमें ही विभाजित किया है, परतु सनातनग्रथमालादिकमें प्रकाशित मूल ग्रथमें सात परिच्छेद पाये जाते हैं, और उसकी दृष्टिसे ७ वें नबरका पद्य छठे परिच्छेदका, और शेष दोनों पद्य सातवें परिच्छेदके (न० २, ६ वाले) हैं ।

भवेत् ॥" इत्यादिकात्। किंविशिष्टात्? शिष्टानुशिष्टात्। शिष्टा आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषा स्वामिसमन्तभद्रादयः तैरनुशिष्टाद्गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात्।

इस उल्लेखसे यह बात भी स्पष्ट है कि विद्वद्वर आशाधरजीने रत्नकरंडक नामके उपासकाध्ययनको 'आगमग्रंथ' प्रतिपादन किया है।

एक स्थान पर आपने मूढताओंका निर्णय करते हुए, 'कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत' इस वाक्यके साथ रत्नकरंडकका 'भयाशास्नेहलोभाच्च' इत्यादि पद्य नं० ३० उद्धृत किया है और उसके बाद यह नतीजा निकाला है कि इस स्वामिसूक्तके अनुसार ही ठक्कुर (अमृतचंद्राचार्य) ने भी 'लोके शास्त्राभासे' इत्यादि पद्यकी (जो कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायका २६ वे नंबरका पद्य है) घोषणा की है।

यथा—"एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—

> लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
> नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥"

इस उल्लेखसे यह पाया जाता है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे माननीय ग्रंथमें भी रत्नकरंडकका आधार लिया गया है और इस लिये यह ग्रंथ उससे भी अधिक प्राचीन तथा माननीय है।

(५) श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवने, नियमसारकी टीकामें, '**तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः**' '**उक्तं चोपासकाध्ययने**' इन वाक्योंके साथ, रत्नकरंडकके '**अन्यूनमनतिरिक्तं**' और '**आलोच्यसर्वमेनः**' नामके दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो क्रमशः यहाँ द्वितीय परिच्छेदमें नं० १ और पाँचवें परिच्छेदमें नं० ४ पर दर्ज हैं। पद्मप्रभमलधारिदेवका अस्तित्व समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके आरम्भ पाया जाता है। इससे यह ग्रंथ आजसे आठसौ वर्ष पहले भी स्वामिसमन्तभद्रका बनाया हुआ माना जाता था, यह बात स्पष्ट है।

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥
—रत्नकरंडक ।

दर्शनिकः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः पचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शन-
शुद्धश्च भवति ।
—चारित्रसार ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च नि.प्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्याः ॥
—रत्नकरंडक ।

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतीकाररुजायां । धर्मार्थं तनुत्यजन सल्लेखना ।
—चारित्रसार ।

यह 'चारित्रसार' ग्रन्थ उन पाँच सात खास माननीय* ग्रन्थोंमेंसे है जिनके आधारपर प० आशाधरजीने सागरधर्मामृतकी रचना की है, और इसलिये उसमें रत्नकरडकके इस प्रकारके शब्दानुसरणसे रत्नकरंडककी महत्ता, प्राचीनता और मान्यता और भी अधिकताके साथ ख्यापित होती है। और भी कितने ही प्राचीन ग्रथोंमें अनेक प्रकारसे इस ग्रथका अनुसरण पाया जाता है, जिनके उल्लेखको विस्तारभयसे हम यहाँ छोड़नेके लिये मजबूर हैं।

(७) श्रीवादिराजसूरि नामके सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्यने अपना 'पार्श्वनाथ-चरित' शक संवत् ९४७ में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रथमे साफ तौरसे 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' दोनोंके कर्ता स्वामी समतभद्रको ही सूचित किया है। यथा—

' स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

अर्थात्—उन स्वामी (समतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक नहीं है जिन्होंने 'देवागम' के द्वारा आज तक सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है।

* वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—१ रत्नकरडक, २ सोमदेवकृत यशस्तिलकान्तर्गत उपासकाध्ययन, ३ चारित्रसार, ४ वसुनदिश्रावकाचार, ५ श्रीजिनसेनकृत आदि-पुराण, ६ तत्त्वार्थसूत्र आदि ।

वे ही योगीन्द्र (समतभद्र) त्यागी (दानी) हुए हैं जिन्होंने अर्थी भव्यसमूहको अक्षयसुखकारक ‘ रत्नकरडक ’ (धर्मरत्नोंका पिटारा) दान किया है ।

इन सव प्रमाणोंकी मौजूदगीमें इस प्रकारके संदेहको कोई अवसर नहीं रहता कि, यह ग्रथ ‘देवागम’के कर्ता स्वामी समतभद्रको छोड़कर दूसरे किसी समतभद्रका वनाया हुआ है, अथवा आधुनिक है । खुद ग्रथका साहित्य भी इस सदेहमे कोई सहायता नहीं देता । वह, विषयकी सरलताआदिकी दृष्टिसे, प्रायः इतना प्रौढ, गभीर, उच्च और क्रमवद्ध है कि उसे स्वामी समतभद्रका साहित्य स्वीकार करनेमे जरा भी हिचकिचाट नहीं होती । ग्रथभरमें ऐसा कोई कथन भी नही है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रथके विरुद्ध पड़ता हो, अथवा जो जैनसिद्धान्तोंके ही प्रतिकूल हो और जिसको प्रचलित करनेके लिये किसीको भगवान् समतभद्रका सहारा लेना पड़ा हो । ऐसी हालतमें और उपर्युक्त प्रमाणोंकी रोशनीमे इस वातकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती कि इतने सुदूरभूत कालमे—हजार वर्षसे भी पहले—किसीने विनावजह ही स्वामी समतभद्रके नामसे इस ग्रथकी रचना की हो, और तवसे अवतक, ग्रथके इतना अधिक नित्यके परिचयमे आते-और अच्छे अच्छे अनुभवी विद्वानों तथा आचार्योंके हाथोंमेसे गुजरनेपर भी, किसीने उसको लक्षित न किया हो । इस लिये ग्रथके कर्ताविषयका यह सपूर्ण सदेह निर्मूल जान पड़ता है ।

जहाँतक हम समझते है और हमे मालूम भी हुआ है, लोगोंके इस सदेहका सिर्फ एक ही कारण है और वह यह है कि, ग्रथमें उस ‘ तर्कपद्धति’ का दर्शन नहीं होता जो समतभद्रके दूसरे तर्कप्रधान ग्रथोंमें पाई जाती है और जिनमें अनेक विवादग्रस्त विषयोंका विवेचन किया गया है—सशयालु लोग समन्तभद्रद्वारा निर्मित होनेके कारण इस ग्रथको भी उसी रँगमें रंगा हुआ देखना चाहते थे जिसमे वे देवागमादिकको देख रहे है । परंतु यह उनकी भारी भूल तथा गलत भ्रम है । मालूम होता है उन्होंने श्रावकाचारविषयक जैनसाहि-

एक मात्र पथप्रदर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनोंकी खासी बहुलत थी और उनका प्राय हरवक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत अथवा व्रतसमूहकी याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्य कर्मका उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते थे तो उसकी गुरुमत्रपूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थिति-योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध कर देते थे, साथ ही जिस व्रतादिकका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधिविधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल ही नियन्त्रित कर देते थे। इस तरहपर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा श्रावकोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उसमें 'चूँचरा' (किं, कथमित्यादि) करना उन्हें नहीं आता था, अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (सशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकोंमें सर्वत्र आज्ञाप्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग श्रावक* तथा श्राद्ध× कहलाते थे। उस वक्त तक श्रावकधर्ममे, अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकोंमे तर्कका प्राय प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्योंका परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामजस्य स्थापित

---

* 'शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावक ' (सा० ध० टी०) जो गुरु आदिकके मुखसे धर्म श्रवण करता है उसे श्रावक (सुननेवाला) कहते हैं।

संपत्तदसणाई पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परम जो खलु तं सावगं बिन्ति ॥ —श्रावकप्रज्ञप्ति।

जो सम्यग्दर्शनादियुक्त गृहस्थ प्रतिदिन मुनिजनोके पास जाकर परम सामाचारीको (साधु तथा गृहस्थोंके आचारविशेषको) श्रवण करता है उसे 'श्रावक' कहते हैं।

× श्रद्धासमन्वित अथवा श्रद्धा-गुण-युक्तको 'श्राद्ध' कहते हैं, ऐसा हेमचद्र तथा श्रीधरसेनादि आचार्योंने प्रतिपादन किया है। मुनिजनोंके आचार-विचारमें श्रद्धा रखनेके कारण ही उनके उपासक 'श्राद्ध' कहलाते थे।

-करने आदिके लिये किसीको तर्क-पद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्राय स्वपरमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्तविषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटीपर चढे हुए थे, उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इसलिये उस वक्तके जो तर्क-प्रधान ग्रथ पाये जाते हैं वे प्राय उन्हीं विषयोंको लिये हुए हैं। जहॉ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छंद, अलकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रथ तर्कपद्धतिसे प्राय-शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समतभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रथ भी इसी कोटिमे स्थित है—स्वामीद्वारा निर्मित होनेपर भी उसमे 'देवागम' जैसी तर्क-प्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालकारप्रधान ग्रथ है और आचार्य महोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरणपांडित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। 'रत्नकरंडक' भी उन्हीं तर्कप्रधानता-रहित ग्रथोंमेसे एक ग्रथ है और इसलिये उसकी यह तर्कहीनता सदेहका कोई कारण नहीं हो सकती। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रथकार अपने सपूर्ण ग्रथोंमे एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये वाध्य हो सके। नाना विषयोंके ग्रथ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमे विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखनपद्धतिमे भी अक्सर विभिन्नता हुआ करता है। यह दूसरी बात है कि उनके साहित्यमे प्रौढता, प्रतिपादनकुशलता और शब्दविन्यासादि कितनी ही बातोंकी परस्पर समानता पाई जाती है और इस समानतासे 'रत्नकरडक' भी खाली नहीं है।

यहाँ पर ग्रन्थकर्तृत्व सम्बन्धमे इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि मिस्टर बी० लेविस राइस साहबने, अपनी 'इन्स्क्रिपशन्स ऐट [illegible]' नामक पुस्तककी भूमिकामे रत्नकरडकके सल्लेखनाधिकारसम्बन्धी '[illegible]' इत्यादि सात पद्योंको उद्धृत करते हुए, लिखा है कि [illegible] 'रत्नकरडक' '[illegible]वर्मा'का बनाया हुआ एक ग्रन्थ है। यथा—

परंतु आयितवर्म्मा कौन थे, कब हुए हैं और कहाँसे अथवा किस जगहकी ग्रन्थप्रतिपरसे उन्हें इस नामकी उपलब्धि हुई इत्यादि बातोंका भूमिकामें कोई उल्लेख नहीं है। हाँ आगे चलकर स्वामी समन्तभद्रको भी 'रत्नकरडक'का कर्ता लिखा है और यह बतलाया है कि उन्होने पुनर्दीक्षा लेनेके पश्चात् इस ग्रन्थकी रचना की है—

Samantabhadra, having again taken dîksha, composed the Ratna Karandaka & other Jinâgam, Purans & became a professor of Syâdvâda

यद्यपि, 'आयितवर्म्मा' यह नाम बहुत ही, अश्रुतपूर्व जान पड़ता है और जहाँ तक हमने जैनसाहित्यका अवगाहन किया है हमें किसी भी दूसरी जगहसे इस नामकी उपलब्धि नहीं हुई। तो भी इतना सभव है कि 'शातिवर्मा'की तरह 'आयितवर्मा' भी समन्तभद्रके गृहस्थजीवनका एक नामान्तर हो अथवा शातिवर्म्माकी जगह गलतीसे ही यह लिख गया हो। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो उपर्युक्त प्रमाण-समुच्चयके आधार पर हमें इसे कहनेमें जरा भी सकोच नहीं हो सकता कि राइस साहबका इस ग्रथको आयितवर्म्माका बतलाना बिलकुल गलत और भ्रममूलक है—उन्हे अवश्य ही इस उल्लेखके करनेमें कोई गलतफहमी अथवा विप्रतिपत्ति हुई है। अन्यथा यह ग्रथ स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ है और उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

यह सब लिखे जानेके बाद, हालमें हमें उक्त पुस्तकके नये सस्करणको देखनेका अवसर मिला, जो सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है, और उस परसे हमें यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि इस सस्करणमें राइस साहबकी उक्त गलतीका सुधार कर दिया गया है और साफ तौर पर 'रत्नकरडक आव् समतभद्र' (Ratna Karandaka of Samantabhadra) शब्दोंके द्वारा 'रत्नकरडक'को समन्तभद्रका ही ग्रथ स्वीकार किया है।

ग्रन्थके पद्योंकी जाँच।

समाजमे कुछ ऐसे भी विद्वान् है जो इस ग्रथको स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ तो जरूर स्वीकार करते है, परतु उन्हें इस ग्रथके कुछ पद्यों पर सदेह है। उनके विचारसे ग्रथमें कुछ ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो मूल ग्रथका अग न होकर किसी दूसरे ग्रथ अथवा ग्रथोंके पद्य हैं और बादको किसी

तरह पर ग्रथमें शामिल हो गये हैं। ऐसे पद्योंको वे लोग 'क्षेपक' अथवा 'प्रक्षिप्त' कहते हैं और इस लिये ग्रन्थपर सदेहका यह एक दूसरा प्रकार है जिसका यहाँ पर विचार होनेकी जरूरत है—

ग्रथपर इस प्रकारके सदेहको सबसे पहले प० पन्नालालजी बाकलीवालने, सन् १८९८ ईसवीमे, लिपिबद्ध किया। इस सालमे आपने रत्नकरण्डश्रावकाचारको अन्वय, और अन्वयानुगत हिन्दी अनुवादसहित तयार करके उसे 'दिगम्बर जैनपुस्तकालय—वर्धा' द्वारा प्रकाशित कराया है। ग्रथके इस सस्करणमे २१ इक्कीस पद्योको 'क्षेपक' प्रकट किया गया अथवा उनपर 'क्षेपक' होनेका सदेह किया गया है जिनकी क्रमिकसूची, कुछ आद्याक्षरोंको लिये हुए, निम्न प्रकार है—

तावदजन, ततोजिनेद्र, यदि पाप, श्वापि देवो, भयाशास्नेह, मातगो; धनश्री, मद्यमास, प्रत्याख्यान, यदनिष्ट, व्यापार, श्रीषेण, देवाधिदेव, अर्हच्चरण, नि श्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, कालेकल्प, नि श्रेयसमधिपन्ना, पूजार्था; सुखयतु।

इन पद्योमेसे कुछके 'क्षेपक' होनेके हेतुओंका भी फुट नोटों द्वारा उल्लेख किया गया है जो यथाक्रम इस प्रकार है—

पद्यको भी शायद ऐसा ही भारी क्षेपक समझा है और इसीसे उसका भी अन्वयार्थ नहीं किया गया। शेष पद्योंके सम्बधमे सिर्फ इतना ही प्रकट किया है कि वे 'क्षेपक' मालूम होते अथवा बोध होते हैं। उनके क्षेपकत्वका कोई हेतु नहीं दिया। हाँ, भूमिकामें इतना जरूर सूचित किया है कि "शेषके श्लोकोंका हेतु विस्तृत होनेके कारण प्रकाशित नहीं किया गया सो पत्रद्वारा या साक्षात् होनेपर प्रगट हो सकता है।"

इस तरहपर वाकलीवालजीके तात्कालिक सदेहका यह रूप है। उनकी इस कृतिसे कुछ लोगोंके सदेहको पुष्टि मिली और कितने ही हृदयोंमे नवीन सदेहका सचार भी हुआ।

यद्यपि, इस ग्रथके सम्बधमे अभीतक कोई प्राचीन उल्लेख अथवा पुष्ट प्रमाण ऐसा देखनेमें नहीं आया जिससे यह निश्चित हो सके कि स्वामी समतभद्रने इसे इतने श्लोकपरिमाण निर्माण किया था, न ग्रथकी सभी प्रतियोंमें एक ही श्लोकसख्या पाई जाती है—वल्कि कुछ प्रतियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनमें श्लोकसख्या डेढसौसे भी वढी हुई है—और इसमे तो कोई सदेह ही नहीं कि टीका-टिप्पणवाली प्रतियोंपरसे किसी मूल ग्रथकी नकल उतारते समय, लेखकोकी असावधानी अथवा नासमझीके कारण, कभी कभी उन प्रतियोंमें 'उक्त च' रूपसे दिये हुए अथवा समर्थनादिके लिये टिप्पणी किये हुए—हाशियेपर (Margin) नोट किये हुए—दूसरे ग्रथोंके पद्य भी मूल ग्रथमें शामिल हो जाते हैं, और इसीसे कितने ही ग्रथोंमे 'क्षेपक' पाये जाते हैं *। इसके सिवाय प्रकृत ग्रथमे कुछ पद्य ऐसी अवस्थामे भी अवश्य हैं कि यदि उन्हें ग्रथसे पृथक् कर दिया जाय तो उससे शेप पद्योंके क्रम तथा विषयसम्बधमें परस्पर कोई वाधा नहीं आती और न कुछ अन्तर ही पड्ता है। ‡ ऐसी हाल-

---

* इस विषयके एक उदाहरणके लिये देखो 'पूज्यपाद–उपासकाचारकी जॉच' वाला हमारा लेख, जो जैनहितैपी भाग १५ के अक १२ वें में प्रकाशित हुआ है। हालमें 'दशभक्ति' नामका एक ग्रथ शोलापुरसे, सस्कृतटीका और मराठी अनुवादसहित, प्रकाशित हुआ है। उससे मालूम होता है कि दशभक्तियोंके मूलपाठोंमें भी कितने ही क्षेपक शामिल हो रहे हैं। यह सव नासमझ और असाववान लेखकोंकी कृपाका ही फल है!

‡ जैसे कि कथाओंका उल्लेख करनेवाले 'तावदजन चौरोङ्गे' आदि पद्य।

त्तमें ग्रथके कुछ पद्योंपर संदेहका होना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु ये सब बातें किसी ग्रन्थप्रतिमें 'क्षेपक' होनेका कोई प्रमाण नहीं हो सकतीं।

और इसलिये इतने परसे ही, बिना किसी गहरी खोज और जाँचके सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रथकी वर्तमान (१५० पद्यों वाली) प्रतिमें भी कोई क्षेपक जरूर शामिल है। ग्रथके किसी भी पद्यको 'क्षेपक' बतलानेसे पहले इस बातकी जाँचकी बड़ी जरूरत है कि, उक्त पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धादिकमे किसी प्रकारकी बाधा न आते हुए भी, नीचे लिखे कारणोंमेसे कोई कारण उपलब्ध है या कि नहीं—

१ दूसरे अमुक विद्वान्, आचार्य अथवा ग्रथका वह पद्य है और ग्रथमें 'उक्त च' आदिरूपसे नहीं पाया जाता।

२ ग्रथकर्ताके दूसरे ग्रथ या उसी ग्रथके अमुक पद्य अथवा वाक्यके वह विरुद्ध पड़ता है।

३ ग्रथके विषय, सदर्भ, कथनक्रम अथवा प्रकरणके साथ वह असम्बद्ध है।

४ ग्रथकी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध और असदिग्ध प्रतिमें वह नहीं पाया जाता।

५ ग्रन्थके साहित्यसे उसके साहित्यका कोई मेल नाहीं खाता, ग्रन्थकी कथनशैली उसके अस्तित्वको नहीं चाहती अथवा ग्रन्थकर्ताद्वारा ऐसे कथन-की सभावना ही नहीं है।

जब तक इन कारणोंमेंसे कोई भी कारण उपलब्ध न हो और जब तक यह न बतलाया जाय कि उस पद्यकी अनुपस्थितिसे ग्रथके प्रतिपाद्य विषयसम्बन्धा-दिकमे कोई प्रकारकी बाधा नहीं आती तब तक किसी पद्यको क्षेपक कहनेका साहस करना दु साहस मात्र होगा।

प० पन्नालालजी वाकलीवालने जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया है अथवा जिन-पर क्षेपक होनेका सदेह किया है उनमेसे किसी भी पद्यके सम्बधमे उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि वह दूसरे अमुक आचार्य, विद्वान् अथवा ग्रथका पद्य है, या उनका कथन स्वामी समतभद्रप्रणीत उसी या दूसरे ग्रन्थके अमुक पद्य अथवा वाक्यके विरुद्ध है, न यही सूचित किया कि रत्नकरडककी दूसरी अमुक प्राचीन, शुद्ध तथा असदिग्ध प्रतिमे वह नहीं पाया जाता, या उसका साहित्य ग्रथके दूसरे साहित्यसे मेल नहीं खाता, और न एक पद्यको छोड़कर दूसरे

किसी पद्यके सम्बंधमें इस प्रकारका कोई विवेचन ही उपस्थित किया कि, वैसा कथन स्वामी समंतभद्रका क्यों कर नहीं हो सकता। और इस लिये आपका संपूर्ण हेतुप्रयोग उपर्युक्त कारणकलापके प्रायः तीसरे नम्बरमें ही आ जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि बाकलीवालजीने उन पद्योंको मूल ग्रंथके साथ असम्बद्ध समझा है। उनकी समझमें कुछ पद्योंका अन्वयार्थ ठीक न बैठने या विषयसम्बंध ठीक प्रतिभासित न होने आदिका भी यही प्रयोजन है। अन्यथा, 'चतुरावर्तत्रितय' नामके पद्यको भी वे 'क्षेपक' बतलाते जिसका अन्वयार्थ उन्हें ठीक नहीं भासा।

परंतु वास्तवमें वे सभी पद्य वैसे नहीं हैं जैसा कि बाकलीवालजीने उन्हें समझा है। विचार करनेपर उनके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बंधमें कोई खास खराबी मालूम नहीं होती और इसका निर्णय ग्रंथकी संस्कृतटीका परसे भी सहजहीमें हो सकता है। उदाहरणके तौर पर हम यहाँ उसी एक पद्यको लेते हैं जिसे बाकलीवालजीने 'अनभिमतक्षेपक' लिखा है और जिसके विषयमें आपका विचार संदेहकी कोटिसे निकलकर निश्चयकी हदको पहुँचा हुआ मालूम होता है। साथ ही जिसके सम्बंधमें आपने यहाँ तक कहनेका भी साहस किया है कि "स्वामी समंतभद्रके ऐसे वचन कदापि नहीं हो सकते।" वह पद्य इस प्रकार है—

> व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
> सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा॥

इस पद्यमें, प्रधानतासे और तदनन्तरानुसारी सब साधारणकी दृष्टिसे, उपवास तथा एकभुक्तके दिन सामायिक करनेका विधान किया गया है—यह नहीं कहा गया है कि केवल उपवास तथा एकभुक्तके दिन ही सामायिक करना चाहिये। फिर भी इससे कहीं कोई यह न समझ ले कि दूसरे दिन अथवा नित्य सामायिक करनेका निषेध है अतः आचार्य महोदयने अगले पद्यमें इस बातको स्पष्ट कर दिया है और लिख दिया है कि नित्य भी (प्रतिदिवसमपि) निरालसी होकर सामायिक करना चाहिये। वह अगला पद्य इस प्रकार है—

> सामायिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
> व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन॥

इस पद्यमें 'प्रतिदिवस' के साथ 'अपि' शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस पदसे पहले 'प्रतिदिवससामायिक' से भिन्न किसी

दूसरे विधानको माँगता है। यदि पहला पद्य ग्रथसे निकाल दिया जाय तो यह 'अपि' शब्द बहुत कुछ खटकने लगता है। अतः उक्त पद्य क्षेपक नहीं है और न अगले पद्यके साथ उसका कोई विरोध जान पड़ता है। उसे 'अनभिज्ञक्षेपक' वतलाना अपनी ही अनभिज्ञता प्रकट करना है। मालूम होता है कि वाकलीवालजीका ध्यान इस 'अपि' शब्द पर नहीं गया और इसीसे उन्होंने इसका अनुवाद भी नहीं दिया। साथ ही, उस अनभिज्ञक्षेपकका अर्थ भी उन्हें ठीक प्रतिभासित नहीं हुआ। यही वजह है कि उन्होंने उसमें व्यर्थ ही 'केवल' और 'ही' शब्दोंकी कल्पना की और उन्हें क्षेपकत्वके हेतु स्वरूप यह भी लिखना पड़ा कि इस पद्यका अन्वय ही ठीक नहीं बैठता। अन्यथा इस पद्यका अन्वय कुछ भी कठिन नहीं है–'सामयिक बध्नीयात्'को पद्यके अन्तमें कर देनेसे सहज ही अन्वय हो जाता है। दूसरे पद्योंके अन्वयार्थ तथा विषयसम्बधकी भी प्राय ऐसी ही हालत है। उन्हें भी आपने उस वक्त ठीक तौरसे समझा मालूम नहीं होता और इस लिये उनका वह सब उल्लेख प्रायः भूलसे भरा हुआ जान पड़ता है। हालमें, हमारे दर्याफ्त करने पर, बालकीवालजीने, अपने १८ जून सन् १९२३ के पत्रमें, इस भूलको स्वीकार भी किया है, जिसे हम उन्हींके शब्दोंमे नीचे प्रकट करते हैं—

"रत्नकरंडके प्रथम सस्करणमें जिन पद्योंको मैंने क्षेपक ठहराया था उसमें कोई प्रमाण नहीं उस वक्तकी अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही ऐसा अनुमान हो गया था। संस्कृतटीकामें सबकी युक्तियुक्त टीका देखनेसे मेरा मन अब नहीं है कि वे क्षेपक हैं। वह प्रथम ही प्रथम मेरा काम था संस्कृत टीका देखनेमें आई नहीं थी इसीलिये विचारार्थ प्रश्नात्मक (?) नोट कर दिये गये थे। सो मेरी भूल थी।"

यद्यपि यह वाकलीवालजीकी उस वक्तकी भूल थी परन्तु इसने कितने ही लोगोंको भूलके चक्करमें डाला है, जिसका एक उदाहरण प० नाना रामचद्रजी नाग हैं। आपने वाकलीवालजीकी उक्त कृति परसे उन्हीं २१ पद्योंपर क्षेपक होनेका संदेह किया हो सो नहीं, बल्कि उनमेंसे पद्रह + पद्योंको बिलकुल ही

+ उक्त २१ पद्योंमेंसे निम्नलिखित छह पद्योंको छोड़कर जो शेष रहते हैं उनको—

भयमान, इदमिष्ट, निःश्रेयस, जन्मजरा, विद्यादर्शन, काले कल्प।

ग्रंथसे वाहरकी चीज समझ लिया। साथ ही तेरह* पद्योंको और भी उन्हीं जैसे मानकर उन्हें उसी कोटिमे शामिल कर दिया और इस तरहपर इक्कीसकी जगह अट्ठाईस पद्योंको 'क्षेपक' करार देकर उन्हें 'उपासकाध्ययन' की उस प्रथमावृत्तिसे विलकुल ही निकाल डाला—छापा तक भी नहीं—जिसको उन्होंने शक स० १८२६ (वि० स० १९६१) में मराठी अनुवादसहित प्रकाशित किया था। इसके वाद नाग साहवने अपनी वुद्धिको और भी उसी मार्गमे दौड़ाया और तव आपको अन्धकारमें ही—विना किसी आधार प्रमाणके—यह सूझ पड़ा कि इस ग्रंथमे और भी कुछ क्षेपक हैं जिन्हे ग्रंथसे वाहर निकाल देना चाहिये। साथ ही, यह भी मालूम पड़ा कि निकाले हुए पद्योंमेंसे कुछका फिरसे ग्रंथमे प्रवेश कराना चाहिये। और इस लिये पिछले साल, शक स० १८४४ (वि० स० १९७९) में जव आपने इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित कराई तव आपने अपनी उस सूझ वूझको कार्यमे परिणत कर डाला—अर्थात्, प्रथमावृत्तिवाले २८ पद्योंमेंसे २३ + और २६ † नये इस प्रकार ४९ × पद्योंको उक्त

---

* उन तेरह पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

ओजस्तेजो, अष्टगुण, नवनिधि, अमरासुर, शिवमजर, रागद्वेष, मकराकर, पचाना (७२), गृहहारि, सवत्सर, सामायिक, गृहकर्मणा, उच्चैर्गोत्र।

+ पाच पद्य जिन्हें प्रथमावृत्तिमे, ग्रन्थसे वाहरकी चीज समझकर, निकाल दिया गया था और द्वितीयावृत्तिमें जिनको पुन प्रविष्ट किया गया है वे इस प्रकार हैं—

मकराकर, गृहहारि, सवत्सर, सामयिक, देवाधिदेव।

† इन २६ पद्योंमें छह तो वे वाकलीवालजीवाले पद्य हैं जिन्हें आपने प्रथमावृत्तिके अवसर पर क्षेपक नहीं समझा था और जिनके नाम पहले दिये जाचुके है। शेष २० पद्योंकी सूची इस प्रकार है—

देशयामि, क्षुत्पिपासा, परमेष्ठी, अनात्मार्थं, सम्यग्दर्शन (२८), दर्शनं, गृहस्थो, न सम्यक्त्व, मोहतिमिरा, हिंसानृत, सकल, अल्पफल, सामयिके, शीतोष्ण, अशरण, चतुराहार, नवपुण्यै, क्षितिगत, श्रावकपदानि, येन स्वयं।

× नवम्बर सन १९२१ के 'जैनबोधक' में सेठ रावजी सखाराम दोशीने इन पद्योंकी संख्या ५८ (अट्ठावन) दी है और निकाले हुए पद्योंके जो क्रमिक नम्बर, समूचे ग्रन्थकी दृष्टिसे, दिये हैं उनसे वह संख्या ५९ हो जाती है।

आवृत्तिमें स्थान नहीं दिया। उन्हें क्षेपक अथवा ग्रन्थसे बाहरकी चीज समझकर एकदम निर्वासित कर दिया है—और आपने ऐसा करनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं दिया। हाँ, टाइटिल और प्रस्तावना द्वारा इतना जरूर सूचित किया है कि, ग्रन्थकी यह द्वितीयावृत्ति प० पन्नालाल बाकलीवालकृत 'जैनधर्मामृतसार' भाग २ रा नामक पुस्तककी उस प्रथमावृत्तिके अनुकूल है जो नागपुरमे जून सन १८९९ ईसवीको छपी थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि उस पुस्तकमेंसे सिर्फ उन्हीं श्लोकोंको यहाँ छोड़ा गया है जो दूसरे आचार्यके थे, बाकी भगवत्समतभद्रके १०० श्लोक इस आवृत्तिमें ज्योंके त्यो ग्रहण किये गये हैं। परतु उस पुस्तकका नाम न तो 'उपासकाध्ययन' है और न 'रत्नकरड,' न नाग साहबकी इस द्वितीयावृत्तिकी तरह उसके सात भाग हैं और न उसमें समतभद्रके १०० श्लोक ही पाये जाते हैं, बल्कि वह एक सग्रहपुस्तक है जिसमें प्रधानत रत्नकरडश्रावकाचार और पुरुपार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रथोंसे श्रावकाचार विषयका कुछ कथन प्रश्नोत्तर रूपसे सग्रह किया गया है ओर उसे 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' ऐसा नाम भी दिया है। उसमे यथावश्यकता 'रत्नकरडश्रावकाचार' से कुल ८६ श्लोक उद्धृत किये गये है। अत नाग साहबकी यह द्वितीयावृत्ति उसीके अनुकूल है अथवा उसीके आधार पर प्रकाशित की गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मालूम होता है कि उन्होने इस प्रकारकी बातोंद्वारा पबलिकके सामने असिल बात पर कुछ

साथ ही, २१, २६, ३२, ४१, ६३, ६७, ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८३, ८७, ८८, ८९, ९१, ९३, ९४, ९५, ९९, १०१, ११२, और १४८ नम्बरवाले २५ पद्योंको भी निकाले हुए सूचित किया है, जिन्हे वास्तवमें निकाला नहीं गया!! और निकाले हुए २, २८, ३१, ३३, ३४, ३६, ३९, ४०, ४७, ४८, ६६, ८५, ८६, १०४, और १४९ नम्बरवाले १५ पद्योंका उस सूचीमें उल्लेख ही नहीं किया! इस प्रकारके गलत और भ्रामक उल्लेख, नि:सन्देह बडे ही खेदजनक और अनर्थमूलक होते है। बम्बई प्रान्तिक सभाने भी शायद इसीपर विश्वास करके अपने २१ वें अधिवेशनके तृतीय प्रस्तावमें ५८ संख्याका गलत उल्लेख किया है। (देखो जनवरी सन् १९[illegible] का 'जैनबोधक' पत्र।)

* एक दो बातें और भी ऐसी ही हैं जिन्हें लेख बढ़ जानेके भयादिसे यहाँ छोड दिया है।

पर्दा डालना चाहा है । और वह असल बात यह है कि, आपकी समझमें यह ग्रन्थ एक 'शतक' ग्रन्थ मालूम होता है और इसलिये आप इसमें १०० श्लोक मूलके और बाकी सब क्षेपक समझते हैं। इसी बातको आपने अपने चैत्र शुक्र ४ शक संवत् १८४४ के पत्रमें हम पर इस प्रकार प्रकट भी किया था—

"....यह शतक है, और ५० * श्लोक क्षेपक हैं, १०० श्लोक लक्षणके हैं,"

परंतु यह सब आपकी केवल कल्पना ही कल्पना है । आपके पास इसके समर्थनमे कोई भी प्रमाण मालूम नही होता, जिसका यहाँ पर ऊहापोह किया जाता । हाँ एक बार प्रथमावृत्तिके अवसर पर, उसकी प्रस्तावनामें, आपने ग्रन्थमे निकाले हुए २८ पद्योंके सम्बधमे यह प्रकट किया था कि, वे पद्य ग्रथकी कर्णाटक वगैरह प्रतिमें 'उक्तच' रूपसे दिये हुए हैं, अत समतभद्राचार्यके न होकर दूसरे आचार्यके होनेसे, हमने उन्हें इस पुस्तकमें ग्रहण नहीं किया। प्रस्तावनाके वे शब्द इस प्रकार हैं—

"ह्या पुस्तकाच्या प्रती कर्नाटकांत वगैरे आहेत त्यांत कांहीं 'उक्तंच, म्हणून श्लोक घातलेले आहेत ते श्लोक समतभद्र आचार्यांचे रचलेले नसून दुसऱ्या आचार्यांचे असल्यामुळें ते आम्हीं ह्या पुस्तकांत घेतले नाहींत ।"

परतु कर्णाटक वगैरहकी वह दूसरी प्रति कौनसी है जिसमे उन २८ पद्योंको 'उक्त च' रूपसे दिया है, इस बातका कोई पता आप, कुछ विद्वानोंके दर्याफ्त करने पर भी, नहीं बतला सके । और इस लिये आपका उक्त उल्लेख मिथ्या पाया गया। इस प्रकारके मिथ्या उल्लेखोंको करके व्यर्थकी गडबड पैदा करनेमें आपका क्या उद्देश्य अथवा हेतु था, इसे आप ही समझ सकते हैं । परंतु कुछ भी हो, इसमें सदेह नही और न इसे कहनेमे हमे जरा भी सकोच हो सकता है कि, आपकी यह सब कार्रवाई बिलकुल ही अविचारित हुई है और बहुत ही आपत्तिके योग्य है । कुछ पद्योंका क्रम भी आपने बदला है और वह भी आपत्तिके योग्य है । एक माननीय ग्रथमेसे, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी

* यद्यपि उक्त द्वितीयावृत्तिमें ५० की जगह ४९ श्लोक ही निकाले गये हैं और १०१ छापे गये हैं परतु प्रस्तावनामें १०० श्लोकोंके छापनेकी ही सूचना की गई है । इससे सभव है कि अन्तका 'पापमराति' वाला पद्य गलतीसे कम्पोज होकर छप गया हो और, सब पद्योंपर एक क्रमसे नम्बर न होनेके कारण, उसका कुछ खयाल न रहा हो ।

उपलब्धिके और विना इस बातका अच्छी तरहसे निर्णय हुए कि उसमें कोई क्षेपक शामिल है या नहीं, अपनी ही कोरी कल्पनाके आधारपर अथवा स्वरुचिमात्रसे कुछ पद्योंको (चाहे उनमें कोई क्षेपक भी भले ही हों) इस तरहपर निकाल डालना एक वहुत ही वडे दु साहस तथा भारी धृष्टताका कार्य है। और इस लिये नागसाहवकी यह सव अनुचित कार्रवाई कदापि अभिनदनके योग्य नहीं हो सकती। आपने उन पद्योंको निकालते समय यह भी नहीं सोचा कि उनमेंसे कितने ही पद्य ऐसे हैं जो आजसे कई शताब्दियों पहलेके वने हुए ग्रथोंमें स्वामी समतभद्रके नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं, कितने ही 'श्रावकपदानि देवै' जैसे पद्योंके निकाल डालनेसे दूसरे पद्योंका महत्त्व तथा विषय कम हुआ जाता है, अथवा रत्नरडकपर सस्कृत तथा कनडी आदिकी कितनी ही टीकाए ऐसी मिलती है जिनमें वे सव पद्य मूलरूपसे दिये हुए हैं, और इस लिये मुझे अधिक सावधानीसे काम लेना चाहिये। सचमुच ही नागसाहवने ऐसा करते हुए वडी भारी भूलसे काम लिया है। परतु यह अच्छा हुआ कि अन्तमें आपको भी अपनी भूल मालूम पड गई और आपने अपनी इस नासमझीपर खेद प्रकट करते हुए, यह प्रण किया है कि, मैं भविष्यमें ऐसी कमती श्लोकवाली कोई प्रति इस ग्रथकी प्रकाशित नहीं करूँगा *।

यह सव कुछ होते हुए भी, ग्रथके कितने ही पद्योंपर अभी तक आपका सदेह वना हुआ है। एक पत्रमें तो आप हमें यहाँतक सूचित करते हैं कि—"क्षेपककी शका वहुत लोगोंको है परतु उसका पक्का आधार नहीं मिलता।"

इस वाक्यसे यह विलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नाग साहवने जिन पद्योंको 'क्षेपक' करार दिया है उन्हें क्षेपक करार देनेके लिये आपके अथवा आपके मित्रोंके पास कोई पक्का आधार (प्रमाण) नहीं है और इसलिये आपका यह सव कोरा सदेह ही सदेह है। अस्तु, ग्रथकी सस्कृतटीकाके साथ इस प्रस्तावनाको पढ जानेपर आशा है आपका और आपके मित्रोंका वह सदेह वहुत कुछ दूर हो जायगा। इसी लिये जाँचका यह सव प्रयत्न किया जा रहा है।

रत्नकरड श्रावकाचारकी एक आवृत्ति दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके जनरल सेक्रेटरी († प्रोफेसर अण्णा साहव वावाजी लट्ठे) ने भी मराठी अनुवादादिसहित

---

* देखो 'जैनबोधक' वर्ष ३[illegible] का छठा अक।

† यह नाम हमें प० नाना रामचन्द्रजी नागके पत्रसे मालूम हुआ है। साथ ही

प्रकाशित कराई है। प्रकाशक हैं 'भाऊ बावाजी लट्ठे, कुरुदवाड।' इस आवृत्तिमें यद्यपि, मूल श्लोक वही १५० दिये हैं जो पाठकोंके सामने उपस्थित इस सटीक प्रतिमें पाये जाते हैं परंतु प्रस्तावनामें इतना जरूर सूचित किया है कि इन श्लोकोंमें कुछ 'असम्बद्ध' श्लोक भी हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि, कनडी लिपिकी एक प्रतिमें, जो उन्हें रा० देवाप्पा उपाध्यायसे प्राप्त हुई थी, ५० श्लोक अधिक हैं जिनमेंसे उन श्लोकोंको छोड़कर जो स्पष्ट रूपसे 'क्षेपक' मालूम होते थे शेष ७ पद्योंको परिशिष्टके तौरपर दिया गया है। इस सूचनासे दो बातें पाई जाती हैं—एक तो यह कि, कनडी लिपिमें इस ग्रन्थकी ऐसी भी प्रति है जिसमें २०० श्लोक पाये जाते हैं, दूसरी यह कि, लट्ठे साहबको भी इन डेढ़सौ श्लोकोंमेंसे कुछ पर क्षेपक होनेका संदेह है जिन्हें वे असम्बद्ध कहते हैं। यद्यपि आपने ऐसे पद्योंकी कोई सूची नहीं दी और न क्षेपकसम्बंधी कोई विशेष विचार ही उपस्थित किया—बल्कि उस प्रकारके विचारको वहाँ पर 'अप्रस्तुत' कह कर छोड़ दिया है—×तो भी उदाहरणके लिये आपने २७ वें पद्यकी ओर संकेत किया है और उसे असम्बद्ध बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है—

यदि पापनिरोधोन्यसंपदा किं प्रयोजनं।
अथ पापास्रवोस्त्यन्यसंपदा किं प्रयोजनं॥

यह पद्य स्थूलदृष्टिसे भले ही कुछ असम्बद्धसा मालूम होता हो परंतु जब इसके गंभीर अर्थपर गहराईके साथ विचार किया जाता है और पूर्वापर पद्योंके अर्थके साथ उसकी शृंखला मिलाई जाती है तो यह असम्बद्ध नहीं रहता। इसके पहले २५ वें पद्यमें मदका अष्टभेदात्मक स्वरूप बतला कर २६ वें पद्यमें उस मदके करनेका दोष दिखलाया गया है और यह जतलाया गया है कि किसी कुल जाति या ऐश्वर्यादिके मदमें आकर धर्मात्माओंको सम्यग्दर्शनादिक युक्त व्यक्तियोंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। इसके बाद विवादस्थ पद्यमेंसे इस बातकी शिक्षा की गई है कि जो लोग कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिसे युक्त हैं वे अपनी तत्तद्विषयक मदपरिणतिको दूर करनेके लिये कैसे और किस प्रकारके

यह भी ज्ञात हुआ है कि इस आवृत्तिका अनुवादादि कार्य भी प्रोफेसर साहबका ही किया हुआ है।

× यथा—"मूल पुस्तकात म्हणून दिलेल्या १५० श्लोकात देखील काहीं असम्बद्ध दिसतात उदाहरणार्थ २७ वा श्लोक पहा. परंतु हा विचार या ठिकाणीं अप्रस्तुत आहे."

विचारों द्वारा समर्थ हो सकते हैं। धर्मात्मा वही होता है जिसके पापका निरोध है—अर्थात्, पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके, जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिये। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसपत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुलैश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं–अप्रयोजनीय है–उसके अतरगमें उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर सपत्तिका सद्भाव है जो कालांतरमे प्रकट होगी और इस लिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामे पापास्रव बना हुआ है उसके कुलैश्वर्यादि सम्पत्ति किसी कामकी नहीं। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गति गमनादिकको रोक नही सकेगी। ऐसी सपत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस सपूर्ण तत्त्वको समझते हैं वे कुलैश्वर्यादिविहित धर्मात्माओका कदापि तिरस्कार नहीं करते। अगले दो पद्योंमें भी इसी भावको पुष्ट किया गया है–यह समझाया गया है कि, एक मनुष्य जो सम्यग्दर्शनरूपी धर्मसम्पत्तिसे युक्त है वह चाण्डालका पुत्र होने पर भी–कुलादि सम्पत्तिसे अत्यत गिरा हुआ होने पर भी–तिरस्कारका पात्र नहीं होता। उसे गणधरादिक देवोंने 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। उसकी दशा उस अंगारके सदृश होती है जो बाह्यमे भस्मसे आच्छादित होने पर भी अन्तरंगमे तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता। मनुष्य तो मनुष्य, एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे–सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे–देव बन जाता है और पापके प्रभावसे–मिथ्यात्वादिके कारण–एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। ऐसी हालतमे दूसरी ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो मनुष्योंको अथवा संसारी जीवोंको धर्मके प्रसादसे प्राप्त न हो सकती हो? कोई भी नहीं। और इसलिये कुलैश्वर्यादिविहीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नहीं होते। यहाँ २९ वे पद्यमे 'अन्या सम्पत्' और ३० वे पद्यमें 'अन्य सम्पदा' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इनमें 'अन्या' और 'अन्य' विशेषणोंका प्रयोग उस कुलैश्वर्यादि सम्पत्तिको लक्ष्य करके किया गया है जिसे पाकर मूढ लोग मद करते हैं और जिनके उस मदका उल्लेख २५, २६ नम्बरके पद्योंमें किया गया है और इससे इन सब पद्योंका भले प्रकार एक सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः उक्त २७ वाँ पद्य असम्बद्ध नहीं है।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि सम्यग्दर्शनकी महिमावाले पद्योंमे कितने ही पद्य क्षेपक हैं। उनकी रायमें या तो वे सभी पद्य क्षेपक हैं जो छंद परिवर्तनको लिये हुए—३४ वे पद्यके बाद परिच्छेदके अन्त तक—पाये जाते हैं और नहीं तो वे पद्य क्षेपक जरूर होने चाहियें जिनमें उन्हें पुनरुक्तियाँ मालूम देती हैं। इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थमें ३४ वें पद्यके बाद अनुष्टुपकी जगह आर्या छंद बदला है। परंतु छंदका परिवर्तन किसी पद्यको क्षेपक करार देनेके लिये कोई गारंटी नहीं होता। बहुधा ग्रन्थोंमें इस प्रकारका परिवर्तन पाया जाता है—खुद स्वामी समंतभद्रके 'जिनशतक' और 'बृहत्स्वयंभू स्तोत्र' ही इसके खासे उदाहरण हैं जिनमें किसी किसी तीर्थंकरकी स्तुति भिन्न छंदमें ही नहीं किन्तु एकसे अधिक छंदोंमें भी की गई है। इसके सिवाय यहाँ पर जो छंद बदला है वह दो एक अपवादोंको छोड़कर बराबर ग्रन्थके अंत तक चला गया है—ग्रन्थके बाकी सभी परिच्छेदोंकी रचना प्रायः उसी छंदमें हुई है—और इस लिये छंदाधार पर उठी हुई इस शंकामें कुछ भी बल मालूम नहीं होता। हाँ पुनरुक्तियोंकी बात जरूर विचारणीय है यद्यपि केवल पुनरुक्ति भी किसी पद्यको क्षेपक नहीं बनाती तो भी इसे कहनेमें हमें जरा भी संकोच नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्रके प्रबन्धोंमें व्यर्थकी पुनरुक्तियाँ नहीं हो सकतीं। इसी बातकी जाँचके लिये हमने इन पद्योंको कई बार बहुत गौरके साथ पढ़ा है परन्तु हमें उनमें जरा भी पुनरुक्तिका दर्शन नहीं हुआ। प्रत्येक पद्य नये नये भाव और नये नये शब्दविन्यासको लिये हुए है। प्रत्येकमें विशेषता पाई जाती है—सबका प्रतिपाद्यविषय सम्यग्दर्शनका माहात्म्य अथवा फल होते हुए भी अलग अलग है—और सभी पद्य एक टकसालके—एक ही विद्वान द्वारा रचे हुए—मालूम होते हैं। उनमेंसे किसी एकको अथवा किसीको भी क्षेपक कहनेका साहस नहीं होता। मालूम नहीं उन लोगोंने कहाँसे इनमें पुनरुक्तियोंका अनुभव किया है। शायद उन्होंने यह समझा हो और वे इसी बातको कहते भी हैं कि 'जब ३५ वें पद्यमें यह बतलाया जा चुका है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायोंमें जन्म नहीं लेता, न दुष्कुलोंमें जाता है और न विकलांग, अल्पायु तथा दरिद्री ही होता है तो इससे यह नतीजा सहजहीमें निकल जाता है कि वह मनुष्य और देवपर्यायोंमें जन्म लेता है, उत्तम होता है, अच्छे कुलोंमें जाता है, साथ ही धनादिककी अच्छी अवस्थाको भी पाता है। और इस लिये मनुष्य तथा देव पर्या-

यकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी जरूरत नहीं रहती। यदि उन्हे दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी कोई जरूरत न थी। और अन्तका ४१ वॉ पद्य तो विलकुल ही अनावश्यक जान पडता है, वह साफ तौरसे पुनरुक्तियोंको लिये हुए है—उसमें पहले चार पद्योंके ही आशयका सग्रह किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही दे देना काफी था।'

इस सम्वधमे हम सिर्फ इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अव्वल तो 'जरूरत नहीं रहती' या 'जरूरत नहीं थी' और 'पुनरुक्ति' ये दोनों एक चीज नहीं है, दोनोंमे वहुत वड़ा अन्तर है और इस लिये जरूरत न होनेको पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधारपर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है। दूसरे, ३५ वे पद्यसे मनुष्य और देव पर्यायसम्वधी जो नतीजा निकलता है वह वहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेष अवस्थाओंका

कोरा संग्रहवृत्त नहीं है। उसमें ग्रंथकार महोदयने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले पद्योंमें उपलब्ध नहीं होता। पहले पद्य अपनी अपनी बातका जुदा उल्लेख करते हैं। वे इस बातको नहीं बतलाते कि एक ही जीव, सम्यग्दर्शनके महात्म्यसे, उन सभी अवस्थाओंको भी क्रमशः प्राप्त कर सकता है—अर्थात्, देवेन्द्र, चक्रवर्ति और तीर्थंकर पदोंको पाना हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी खास बातको बतलानेके लिये इस पद्यका अवतार हुआ मालूम होता है। और इस लिये यह भी 'क्षेपक' नहीं है।

यकी अवस्थाओंके सूचक अगले दो पद्योंके देनेकी जरूरत नहीं रहती। यदि उन्हें दिया भी था तो फिर उनसे अगले दो पद्योंके देनेकी कोई जरूरत न थी। और अन्तका ४१ वाँ पद्य तो विलकुल ही अनावश्यक जान पडता है, वह साफ तौरसे पुनरुक्तियोंको लिये हुए है—उसमे पहले चार पद्योंके ही आशयका संग्रह किया गया है—या तो उन चार पद्योंको ही देना था और या उन्हें न देकर इस एक पद्यको ही दे देना काफी था।'

इस सम्बधमे हम सिर्फ इतना ही कहना उचित समझते हैं कि अव्वल तो 'जरूरत नहीं रहती' या 'जरूरत नहीं थी' और 'पुनरुक्ति' ये दोनों एक चीज नहीं है, दोनोंमे वहुत वडा अन्तर है और इस लिये जरूरत न होनेको पुनरुक्ति समझ लेना और उसके आधारपर पद्योंको क्षेपक मान लेना भूलसे खाली नहीं है। दूसरे, ३५ वे पद्यसे मनुष्य और देव पर्यायसम्वधी जो नतीजा निकलता है वह वहुत कुछ सामान्य है और उससे उन विशेप अवस्थाओंका लाजिमी तौरपर वोध नहीं होता जिनका उल्लेख अगले पद्योंमें किया गया है—एक जीव देव पर्यायको प्राप्त होता हुआ भी भवनत्रिकमे (भवनवासी-व्यंतर-ज्योतिपियोंमें) जन्म ले सकता है और स्वर्गमें सावारण देव हो सकता है। उसके लिये यह लाजिमी नहीं होता कि वह स्वर्गमें देवोंका इन्द्र भी हो। इसी तरह मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता हुआ कोई जीव मनुष्योंकी दुष्कुल और दरिद्रतादि दोपोंसे रहित कितनी ही जघन्य तथा मध्यम श्रेणियोंमे जन्म ले सकता है। इसके लिये मनुष्यपर्यायमे जाना ही इस वातका कोई नियामक नहीं है कि वह महाकुल और महा धनादिककी उन सपूर्ण विभूतियोंसे युक्त होता हुआ 'मानवतिलक' भी हो जिनका उल्लेख ३६ वे पद्यमे किया गया है। और यह तो स्पष्ट ही है कि एक मनुष्य महाकुलादिसम्पन्न मानवतिलक होता हुआ भी, नारायण, वलभद्रादि पदोंसे विभूपित होता हुआ भी, चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर नहीं होता। अत सम्यग्दर्शनके माहात्म्य तथा कुलको अच्छी तरहसे प्रख्यापित करनेके लिये उन विशेप अवस्थाओंको दिखलानेकी खास जरूरत थी जिनका उल्लेख वादके चार पद्योंमे किया गया है और इस लिये वे पद्य क्षेपक नहीं हैं। हाँ अन्तका ४१ वाँ पद्य, यदि वह सचमुच ही 'संग्रहवृत्त' है—जैसा कि टीकाकारने भी प्रकट* किया है—कुछ खटकता जरूर है। परतु हमारी रायमें वह

---

* यथा—'यस्मात् प्रत्येक श्लोकैः सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्तं तद्दर्शनाधिकारस्य समाप्तौ संग्रहवृत्तेनेदानीं प्रतिपादयन्नाह—"

कोरा संग्रहवृत्त नहीं है। उसमें ग्रथकार महोदयने एक दूसरा ही भाव रक्खा है जो पहले पद्योंसे उपलब्ध नहीं होता। पहले पद्य अपनी अपनी वातका खडश· उल्लेख करते हैं। वे इस वातको नहीं वतलाते कि एक ही जीव, सम्यग्दर्शनके महात्म्यसे, उन सभी अवस्थाओंको भी क्रमश· प्राप्त कर सकता है-अर्थात्, देवेन्द्र, चक्रवर्ति और तीर्थंकर पदोंको पाता हुआ मोक्षमें जा सकता है। इसी खास वातको वतलानेके लिये इस पद्यका अवतार हुआ मालूम होता है। और इस लिये यह भी 'क्षेपक' नहीं है।

सल्लेखना अथवा सद्धर्मका फल प्रदर्शिति करनेवाले जो 'नि· श्रेयस' आदि छह पद्य हैं उनका भी हाल प्राय· ऐसा ही है। वे भी सब एक ही टाइपके पद्य हैं और पुनरुक्तियोंसे रहित पाये जाते हैं। वहाँ पहले पद्यमें जिन 'नि·श्रेयस' और 'अभ्युदय' नामके फलोंका उल्लेख है अगले पद्योंमें उन्हीं दोनोंके स्वरूपादिका स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थात दूसरेमें नि श्रेयसका और छठेमें अभ्युदयका स्वरूप दिया है और शेप पद्योंमें नि श्रेयसको प्राप्त होने वाले पुरुषोंकी दशाका उल्लेख किया है इस लिये उनमें भी कोई क्षेपक नही और न उनमें परस्पर कोई असम्वद्धता ही पाई जाती है।

इसी तरह पर 'क्षुत्पिपासा' 'परमेष्ठि परंज्योति' और 'अनात्मार्थं विनारागै' नामके तीनों पद्योंमें भी कोई क्षेपक मालूम नहीं होता। ये आप्तके स्वरूपको विशद करनेके लिये यथावश्यकता और यथास्थान दिये गये हैं। पहले पद्यमे क्षुधा तृपादि दोपोंके अभावकी प्रधानतासे आप्तका स्वरूप वतलाया है और उसके वतलानेकी जरूरत थी, क्योंकि दिगम्वर और श्वेताम्वर दोनों सम्प्रदायोंके अष्टादशदोपसम्वधी कथनमें परस्पर वहुत वडा अन्तर *पाया जाता है। श्वेताम्वर भाई आप्तके क्षुधा-तृषादिकका होना भी मानते हैं जो दिगम्वरोंको इष्ट नहीं है—और ये सव अन्तर उनके प्रायः सिद्धान्तभेदोंपर अवलम्वित है। इस पद्यके द्वारा पूर्वपद्यमें आए हुए 'उत्सन्न-

---

* श्वेताम्वर सम्प्रदाय द्वारा माने हुए अठारह दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दानान्तराय, ५ लाभान्तराय, ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा, १० हास्य, ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व। (देखो विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श।)

दोषेण' पदका वहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। दूसरे पद्यमें आप्तके कुछ खास खास नामोंका उल्लेख किया गया है—यह वतलाया गया है कि आप्तको परमेष्ठी, परज्योति, विराग, (वीतराग) विमल, कृती, सर्वज्ञ, सार्व तथा शास्ता आदि भी कहते हैं—और नामकी यह परिपाटी दूसरे प्राचीन ग्रंथोंमें भी पाई जाती है जिसका एक उदाहरण श्रीपूज्यपादस्वामीका समाधितंत्र ग्रंथ है, उसमें भी परमात्माकी नामावलीका एक 'निर्मल केवल' इत्यादि पद्य दिया है। अस्तु। तीसरे पद्यमें आप्तस्वरूपसे उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्नको हल किया गया है कि जव शास्ता वीतराग है तो वह किस तरहपर और किस उद्देशसे हितोपदेश देता है और क्या उसमें उनकी कोई निजी गर्ज है? इस तरहपर ये तीनों ही पद्य प्रकरणके अनुकूल हैं और ग्रंथके आवश्यक अंग जान पड़ते हैं।

कुछ लोगोंकी दृष्टिमें, भोगोपभोगपरिमाण नामक गुणव्रतके कथनमें आया हुआ, 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' नामका पद्य भी खटकता है। उनका कहना है कि 'इस पद्यमें मद्य, मांस और मधुके त्यागका जो विधान किया गया है। वह विधान उससे पहले अष्टमूल गुणोंके प्रतिपादक 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामके श्लोकमें आ चुका है। जव मूल गुणोंमें ही उनका त्याग आचुका तव उत्तर गुणोंमें, विना किसी विशेषताका उल्लेख किये, उसको फिरसे दुहरानेकी क्या जरूरत थी? इस लिये यह पद्य पुनरुक्त दोषसे युक्त होनेके साथ साथ अनावश्यक भी जान पड़ता है। यदि मांसादिकके त्यागका हेतु वतलानेके लिये इस पद्यके देनेकी जरूरत ही थी तो इसे उक्त 'मद्यमांसमधुत्यागैः' नामक पद्यके साथ ही—उससे ठीक पहले या पीछे देना चाहिये था। वही स्थान इसके लिये उपयुक्त था और तव इसमें पुनरुक्त आदि दोषोंकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी।'

ऊपरके इस कथनसे यह तो स्पष्ट है कि यह पद्य मद्यादिकके त्याग विषयक हेतुओंका उल्लेख करनेकी वजहसे कथनकी कुछ विशेषताको लिये हुए जरूर है और इसलिये इसे पुनरुक्त या अनावश्यक नहीं कह सकते। अव देखना सिर्फ इतना ही है कि इस पद्यको अष्ट मूलगुणवाले पद्यके साथ न देकर यहाँ क्यों दिया गया है। हमारी रायमें इसे यहाँ पर देनेका मुख्य हेतु यह मालूम होता है कि ग्रंथमें, इससे पहले, जो भोगोपभोगपरिमाण व्रतका तथा 'भोग' का स्वरूप दिया गया है उससे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि क्या मद्यादिक भोग पदार्थोंका भी इस व्रतवालेको परिमाण करना चाहिये? उत्तरमें आचार्य महोदयने इस पद्यके द्वारा, यही

सूचित किया है कि 'नहीं, इन चीजोंका उसके परिमाण नहीं होता, ये तो उसके लिये विलकुल वर्जनीय हैं । साथ ही, यह भी बतला दिया है कि क्यों वर्जनीय अथवा त्याज्य हैं । यदि यह पद्य यहाँ न दिया जाकर अष्टमूलगुण-वाले पद्यके साथ ही दिया जाता तो यहाँ पर इससे मिलते जुलते आशयके किसी दूसरे पद्यको देना पड़ता और इस तरह पर ग्रंथमें एक बातकी पुनरुक्ति अथवा एक पद्यकी व्यर्थकी वृद्धि होती । यहाँ इस पद्यके देनेसे दोनों काम निकल जाते हैं—पूर्वोद्दिष्ट मद्यादिके त्यागका हेतु भी मालूम हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस व्रतवालेके मद्यादिकका परिमाण नहीं होता, बल्कि उनका सर्वथा त्याग होता है । ऐसी हालतमें यह पद्य संदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य मालूम नहीं होता ।

कुछ लोग उक्त अष्टमूलगुणवाले पद्यको ही क्षेपक समझते हैं परंतु इसके समर्थनमें उनके पास कोई हेतु या प्रमाण नहीं है । शायद उनका यह खयाल हो कि इस पद्यमें पंचाणुव्रतोंको जो मूल गुणोंमें शामिल किया है वह दूसरे ग्रन्थोंके विरुद्ध है जिनमें अणुव्रतोंकी जगह पंच उदुम्बर फलोंके त्यागका विधान पाया जाता है और इतने परसे ही वे लोग इस पद्यको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे हों । यदि ऐसा है तो यह उनकी निरी भूल है। देशकालकी परिस्थितिके अनुसार आचार्योंका मतभेद परस्पर होता आया है ×। उसकी वजहसे कोई पद्य क्षेपक करार नहीं दिया जा सकता । भगवज्जिनसेन आदि और भी कई आचार्योंने अणुव्रतोंको मूल गुणोंमें शामिल किया है । पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीकामें समन्तभद्रादिके इस मतभेदका उल्लेख भी किया है । वास्तवमें सकलव्रती मुनियोंके मूलगुणोंमें जिस प्रकार पंच महाव्रतोंका होना जरूरी है उसी प्रकार देशव्रती श्रावकोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका होना भी जरूरी मालूम होता है । देशव्रती श्रावकोंको लक्ष्य करके ही आचार्य महोदयने इन मूल गुणोंकी सृष्टि की है । पंच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रायः बालकोंको—अव्रतियों अथवा अनभ्यस्त देशसंयमियोंको—लक्ष्य करके लिखे गये हैं, जैसा कि शिवकोटि आचार्यके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥

—रत्नमाला ।

ऐसी हालतमे यह पद्य भी सदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं । यह अणुव्रतोंके बाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है । इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि श्रावकाचारविषयक ग्रन्थमें श्रावकोंके मूल गुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रथमें एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिसकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी । इस लिये यह पद्य भी क्षेपक नहीं हो सकता ।

संदिग्ध पद्य ।

ग्रथमे प्रोपधोपवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पद्य इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्य· प्रोपधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभि· ॥

(२) चतुराहारविसर्जनमुपवास: प्रोपध सकृद्भुक्तिः
स प्रोपधोपवासो यदुपोप्यारभमाचरति ॥

इनमे पहले पद्यसे प्रोपधोपवास व्रतका कथन प्रारभ होता है और उसमे यह वतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमे सदेच्छा अथवा मदिच्छासे, जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे प्रोपधोपवास समझना चाहिये'। यह प्रोपधोपवास व्रतका लक्षण हुआ। टीकामे भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

'अधुना प्रोपधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणा प्राह'—

मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः ।
अष्टौ मूलगुणः पंचोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥

—रत्नमाला ।

ऐसी हालतमे यह पद्य भी सदेहकी दृष्टिसे देखे जानेके योग्य नहीं। यह अणुव्रतोंके वाद अपने उचित स्थान पर दिया गया है । इसके न रहनेसे, अथवा यों कहिये कि श्रावकाचारविपयक ग्रन्थमे श्रावकोंके मूल गुणोंका उल्लेख न होनेसे, ग्रथमे एक प्रकारकी भारी त्रुटि रह जाती जिमकी स्वामी समन्तभद्र जैसे अनुभवी ग्रन्थकारोंसे कभी आशा नहीं की जा सकती थी । इस लिये यह पद्य भी क्षेपक नहीं हो सकता ।

संदिग्ध पद्य ।

ग्रथमें प्रोषधोषवास नामके शिक्षाव्रतका कथन करनेवाले दो पद्य इस प्रकारसे पाये जाते हैं—

(१) पर्वण्यष्टम्यांच ज्ञातव्य प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभि· ॥

(२) चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषध सकृद्भुक्तिः
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारभमाचरति ॥

इनमें पहले पद्यसे प्रोषधोपवास व्रतका कथन प्रारभ होता है और उसमें यह वतलाया गया है कि 'पर्वणी (चतुर्दशी) तथा अष्टमीके दिनोंमें सदेच्छा अथवा सदिच्छासे, जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसे प्रोषधोपवास समझना चाहिये' । यह प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण हुआ। टीकामें भी निम्न वाक्यके द्वारा इसे लक्षण ही सूचित किया है—

'अथेदानीं प्रोषधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रतं व्याचक्षाणा प्राह'—

इस पद्यके वाद दो पद्यमे उपवास-दिनके विशेष कर्तव्योका निर्देश करके व्रतातीचारोंसे पहले, वह दूसरा पद्य दिया है जो ऊपर नवर २ पर उद्धृत है। इस पद्यमे भी प्रोपधोपवासका लक्षण वतलाया गया है । और उसमे वही चार प्रकारके आहार त्यागकी पुनरावृत्ति की गई है । मालूम नहीं, यहॉपर यह पद्य किम उद्देशसे रक्खा गया है । कथनक्रमको देखते हुए, इस पद्यकी स्थिति कुछ सदिग्ध जरुर मालूम होती है । टीकाकार भी उसकी इस स्थितिको स्पष्ट नहीं कर सके । उन्होंने इम पद्यको देते हुए सिर्फ इतना ही लिखा है कि—

' अधुना प्रोषधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह । '

अर्थात्—अब प्रोषधोपवासका लक्षण करते हुए कहते हैं । परंतु प्रोषधोपवासका लक्षण तो दो ही पद्य पहले किया और कहा जा चुका है, अब फिरसे उसका लक्षण करने तथा कहनेकी क्या जरूरत पैदा हुई, इसका कुछ भी स्पष्टीकरण अथवा समाधान टीकामें नहीं है । अस्तु, यदि यह कहा जाय कि इस पद्यमें ' प्रोषध ' और ' उपवास'का अलग अलग स्वरूप दिया है—चार प्रकारके आहारत्यागको उपवास और एक वार भोजन करनेको ' प्रोषध ' ठहराया है—और इस तरह पर यह सूचित किया है कि प्रोषधपूर्वक—पहले दिन एकवार भोजन करके—जो अगले दिन उपवास किया जाता है—चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है—उसे प्रोषधोपवास कहते हैं, तो इसके सम्बधमें सिर्फ इतना ही निवेदन है कि प्रथम तो पद्यके पूर्वार्धमें भले ही उपवास और प्रोषधका अलग अलग स्वरूप दिया हो परतु उसके उत्तरार्धसे यह ध्वनि नहीं निकलती कि उसमें प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम प्रोषधोपवास बतलाया गया है। उसके शब्दोंसे सिर्फ इतना ही अर्थ निकलता है कि उपोषण (उपवास) पूर्वक जो आरभाचरण किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं—बाकी धारणक और पारणकके दिनोंमें एकभुक्तिकी जो कल्पना टीकाकारने की है वह सब उसकी अतिरिक्त कल्पना मालूम होती है । इस लक्षणसे साधारण उपवास भी प्रोषधोपवास हो जाते हैं, और ऐसी हालतमें इस पद्यकी स्थिति और भी ज्यादा गड़बड़में पड़ जाती है । दूसरे, यदि यह मान भी लिया जाय कि, प्रोषधपूर्वक उपवासका नाम ही प्रोषधोपवास है और वही इस पद्यके द्वारा अभिहित है तो वह स्वामी समतभद्रके उस पूर्वकथनके विरुद्ध पड़ता है जिसके द्वारा पर्वदिनोंमें उपवासका नाम प्रोषधोपवास सूचित किया गया है और इस तरह पर प्रोषधोपवासकी ' प्रोषधे पर्वदिने उपवास प्रोषधोपवास.' यह निरुक्ति की गई है । प्रोषध शब्द ' पर्वपर्यायवाची ' है और प्रोषधोपवासका अर्थ ' प्रोषधे उपवास.' है, यह बात श्रीपूज्यपाद, अकलकदेव, विद्यानन्द, सोमदेव, आदि सभी प्रसिद्ध विद्वानोंके ग्रथोंसे पाई जाती है जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"प्रोषध शब्द पर्वपर्यायवाची । शब्दादिग्रहणं प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पचापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन्वसतीत्युपवास । चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थ. । प्रोषधे उपवास प्रोषधोपवास ।" —सर्वार्थसिद्धि. ।

"प्रोपधशब्दः पर्वपर्यायवाची, प्रोपधे उपवासः प्रोपधोपवासः ।" इत्यादि
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ।

"प्रोपधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवास· ।" —श्लोकवार्तिक ।

" पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च " इत्यादि—यशस्तिलक ।

" प्रोषधः पर्वपर्यायवाची । पर्वणि चतुर्विधाहारनिवृत्ति प्रोपधोपवास." ।
—चारित्रसार ।

"इह प्रोषधशब्द रूढया पर्वसु वर्तते । पर्वाणि चाष्टम्यादितिथय पूरणात्प-वंधर्मोपचयहेतुत्वादिति "— —श्रा० प्र० टीकाया हरिभद्र ।

बहुत कुछ छानबीन करनेपर भी दूसरा ऐसा कोई भी ग्रथ हमारे देखनेमें नहीं आया जिसमे प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' और प्रोषधोपवासका अर्थ 'सुकृद्भुक्तिपूर्वक उपवास' किया गया हो । प्रोषधका अर्थ 'सकृद्भुक्ति' नहीं है, यह वात खुद स्वामी समतभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट होती है जो इसी ग्रथमें वादको 'प्रोषधोपवास' प्रतिमाका स्वरूप प्रतिपादन करनेके लिये दिया गया है—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥

इससे 'चतुराहारविसर्जन' नामका उक्त पद्य स्वामी समतभद्रके उत्तर कथनके भी विरुद्ध है, यह स्पष्ट हो जाता है । ऐसी हालतमे—ग्रथके पूर्वोत्तर कथनोंसे भी विरुद्ध पडनेके कारण—इस पद्यको स्वामी समतभद्रका स्वीकार करनेमें बहुत अधिक सकोच होता है । आश्चर्य नहीं जो यह पद्य इस टीकासे पहले ही, किसी तरहपर, ग्रथमें प्रक्षिप्त हो गया हो और टीकाकारको उसका खयाल भी न हो सका हो ।

अव हम उन पद्योंपर विचार करते हैं जो अधिकाश लोगोंकी शकाका विषय वने हुए हैं । वे पद्य दृष्टातोंवाले पद्य हैं और उनकी सख्या ग्रथमे छह पाई जाती है । इनमेसे 'तावदजन' और 'ततो जिनेंद्रभक्त' नामके पहले दो पद्योंमें सम्यग्दर्शनके नि शकितादि अष्ट अगोंमे प्रसिद्ध होनेवाले आठ व्यक्तियोंके नाम दिये है । 'मातगो धनदेवश्च' नामके तीसरे पद्यमे पाच व्यक्तियोंके नाम देकर यह सूचित किया है कि इन्होने उत्तम पूजातिशयको प्राप्त किया है । परतु किस विषयमें ? इसका उत्तर पूर्व पद्यसे सम्बन्ध मिलाकर यह दिया जा सकता है कि अहिसादि पचाणुव्रतोंके पालनके विषयमे ।

इसके बाद ही ' धनश्री ' नामक पद्यमें पॉच नाम और देकर लिखा है कि उन्हें भी क्रमश उसी प्रकार उपाख्यानका विषय बनाना चाहिये । परतु इनके उपाख्यानका क्या विषय होना चाहिये अथवा ये किस विषयके दृष्टात हैं, यह कुछ सूचित नहीं किया और न पूर्व पद्योंसे ही इसका कोई अच्छा निष्कर्ष निकलता है । पहले पद्यके साथ सम्बध मिलानेसे तो यह नतीजा निकलता है कि ये पाचों दृष्टात भी अहिंसादिक व्रतोंके हैं और इस लिये इनके भी पूजातिशयको दिखलाना चाहिये । हॉ टीकाकारने यह जरूर सूचित किया है कि ये क्रमश हिंसादिकसे युक्त व्यक्तियोंके दृष्टात हैं । ' श्रीषेण ' नामके पॉचवे पद्यमें चार नाम देकर यह सूचित किया है कि ये चतुर्भेदात्मक वैयावृत्यके दृष्टात हैं । और ' अर्हच्चरणसपर्या ' नामक छठे पद्यमें लिखा है कि राजगृहमे एक प्रमोदमत्त (विशिष्ट धर्मानुरागसे मस्त) मेंडकने एक फूलके द्वारा अर्हतके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्माओंपर प्रकट किया था ।

इन पद्योंपर जो आपत्तियाँ की जाती हैं अथवा की जा सकती हैं उनका सार इस प्रकार है—

(१) ग्रथके सदर्भ और उसकी कथनशैलीपरसे यह स्पष्ट है कि ग्रथमें श्रावक धर्मका प्रतिपादन औपदेशिक ढगसे नहीं किन्तु विधिवाक्योंके तौरपर अथवा आदेशरूपसे किया गया है । ऐसी हालतमें किसी दृष्टात या उपाख्यानका उल्लेख करने अथवा ऐसे पद्योंके देनेकी कोई जरूरत नहीं होती और इस लिये ग्रथमें ये पद्य निरे अनावश्यक तथा बेमेल मालूम होते हैं । इनकी अनुपस्थितिसे ग्रथके प्रतिपाद्य विषयसम्बधादिकमें किसी प्रकारकी बाधा भी नहीं आती ।

(२) शास्त्रोंमें एक ही विषयके अनेक दृष्टात अथवा उपाख्यान पाये जाते हैं, जैसे अहिंसाव्रतमें ' मृगसेन ' धीवरका, असत्यभाषणमें राजा ' वसु'का, अब्रह्मसेवनमें ' कडार पिंग'का और परिग्रह विषयमें ' पिण्याक गध'का उदाहरण सुप्रसिद्ध है । भगवती आराधना और यशस्तिलकादि ग्रथोंमें इन्हींका उल्लेख किया गया है । एक ही व्यक्तिकी कथासे कई कई विषयोंके उदाहरण भी निकलते हैं—जैसे वारिषेणकी कथासे स्थितीकरण अग तथा अचौर्यव्रतका और अनतमतीकी कथासे ब्रह्मचर्यव्रत तथा निःकाक्षित अगका । इसी तरहपर कुछ ऐसी भी कथाएँ उपलब्ध हैं जिनके दृष्टातोंका प्रयोग विभिन्नरूपसे पाया जाता है । इसी ग्रथमे सत्यघोषकी जिस कथाको असत्य भाषणका दृष्टान्त बनाया गया है ' भगवती आराधना ' और ' यशस्तिलक'में उसीको चोरीके सम्बधमे प्रयुक्त किया गया

है। इसी तरह विष्णुकुमारकी कथाको कहीं कहीं 'वात्सल्य' अगमे न देकर 'प्रभाव-नाग'में दिया गया है †। कथासाहित्यकी ऐसी हालत होते हुए और एक नामके अनेक व्यक्ति होते हुए भी स्वामी समतभद्र जैसे सतर्क विद्वानोंसे, जो अपने प्रत्येक शब्दको बहुत कुछ जॉच तोलकर लिखते हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उन दृष्टातोंके यथेष्ट मार्मिक अशका उल्लेख किये विना ही उन्हे केवल उनके नामोंसे ही उद्धृत करनेमे सतोष मानते, और जो दृष्टात सर्वमान्य नहीं उसे भी प्रयुक्त करते, अथवा विना प्रयोजन ही किसी खास दृष्टातको दूसरोपर महत्त्व देते।

(३) यदि ग्रथकार महोदयको, अपने ग्रथमें, दृष्टातोंका उल्लेख करना ही इष्ट होता तो वे प्रत्येक व्यक्तिके कार्यकी गुरुता और उसके फलके महत्त्वको कुछ जॅचे तुले शब्दोंमें जरूर दिखलाते। साथ ही, उन दूसरे विषयोंके उदाहरणोंका भी, उसी प्रकारसे, उल्लेख करते जो ग्रथमें अनुदाहृत स्थितिमें पाये जाते हैं—अर्थात्, जब अहिंसादिक व्रतोंके साथ उनके प्रतिपक्षी हिंसादिक पापोंके भी उदाहरण दिये गये हैं तो सम्यग्दर्शनके नि.शकितादि अष्ट अगोंके साथ उनके प्रतिपक्षी शकादिक दोषोंके भी उदाहरण देने चाहियें थे। इसी प्रकार तीन मूढताओंको धरनेवाले न धरनेवाले, मद्य-मास-मधु आदिका सेवन करनेवाले न करनेवाले, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके पालनमें तत्पर—अतत्पर, 'उच्चैर्गोत्र प्रणते' नामक पद्यमें जिन फलोंका उल्लेख है उनको पानेवाले, सल्लेखनाकी शरणमें जानेवाले और न जानेवाले इन सभी व्यक्तियोंका अलग अलग दृष्टात रूपसे उल्लेख करना चाहिये था। परंतु यह सब कुछ भी नहीं किया गया और न उक्त छहों पद्योंकी उपस्थितिमें इस न करनेकी कोई माकूल (समुचित) वजह ही मालूम होती है। ऐसी हालतमे उक्त पद्योंकी स्थिति और भी ज्यादा सदेहास्पद हो जाती है।

(४) 'धनश्री' नामका पद्य जिस स्थितिमें पाया जाता है इससे उसके उपाख्यानोंका विषय अच्छी तरहसे प्रतिभासित नहीं होता। स्वामी समतभद्रकी रचनामे इस प्रकारका अधूरापन नहीं हो सकता।

(५) ब्रह्मचर्याणुव्रतके उदाहरणमे 'नीली' नामकी एक स्त्रीका जो दृष्टात दिया गया है वह ग्रथके सदर्भसे—उसकी रचनासे—मिलता हुआ मालूम नहीं

---

† देखो, 'अरुगल छेप्पु' नामक तामिल भाषाका ग्रथ, जो अग्रजी जैनगजटमें, अनुवादसहित, मुद्रित हुआ है।

होता। स्वामी समतभद्रद्वारा यदि उस पद्यकी रचना हुई होती तो वे, अपने ग्रथकी पूर्व रचनाके अनुसार, वहाँपर किसी पुरुष व्यक्तिका ही उदाहरण देते —स्त्रीका नहीं, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्याणुव्रतका जो स्वरूप ' न तु परदारान् गच्छति ' नामके पद्यमे ' परदारनिवृत्ति ' और ' स्वदारसंतोष ' नामोंके साथ दिया है वह पुरुषोंको प्रधान करके ही लिखा गया है। दृष्टान्त भी उसके अनुरूप ही होना चाहिये था।

(६) परिग्रह परिमाणव्रतमें ' जय ' का दृष्टात दिया गया है। टीकामें ' जय 'को कुरुवशी राजा 'सोमप्रभ'का पुत्र और सुलोचनाका पति सूचित किया है। परन्तु इस राजा 'जय' (जयकुमार) की जो कथा भगवज्जिन-सेनके ' आदिपुराण'में पाई जाती है उससे वह परिग्रहपरिमाण व्रतका धारक न होकर 'परदारनिवृत्ति' नामके शीलव्रतका—ब्रह्मचर्याणुव्रतका धारक मालूम होता है और उसी व्रतकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर उसे देवता द्वारा पूजातिशयकी प्राप्ति हुई थी। टीकाकार महाशय भी इस सत्यको छिपा नहीं सके और न प्रयत्न करने पर भी इस कथाको पूरी तौरसे परिग्रहपरिमाणनामके अणुव्रतकी बना सके हैं। उन्होंने शायद मूलके अनुरोधसे यह लिख तो दिया कि 'जय' परिमितपरिग्रही था और स्वर्गमें इन्द्रने भी उसके इस परिग्रहपरिमाणव्रतकी प्रशसा की थी परतु कथामें वे अन्ततक उसका निर्वाह पूरी तौरसे नहीं कर सके। उन्होंने एक देवताको स्त्रीके रूपमें भेजकर जो परीक्षा कराई है उससे वह जयके शील-व्रतकी ही परीक्षा हो गई है। आदिपुराणमें, इस प्रसगपर साफ तौरसे जयके शीलमाहात्म्यका ही उल्लेख किया है, जिसके कुछ पद्य इस प्रकार हैं—

> अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनं ।
> जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥ २६० ॥
> श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः ।
> श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥ २६१ ॥
> प्रेषिता काचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः ।
> .. . .
> स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्विकृतेक्षणा ।
> तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्था पापमीदृश ॥ २६७ ॥
> सोदर्या त्व ममादायि मया मुनिवराद्व्रत ।
> परांगनागसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥ २६८ ॥

....

आविर्भ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के ।
ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिन प्रति ॥ २७१ ॥
प्राशसत्सा तयोस्ताद्वङ्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् ।
रविप्रभः समागत्य तावुभौ तद्गुणप्रियः ॥ २७२ ॥
स्ववृत्तान्त समाख्याप युवाभ्यां क्षम्यतामिति ।
पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोक समीयिवान् ॥ २७३ ॥

—पर्व ४७ वाँ ।

श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत हरिवशपुराणमें भी, निम्नलिखित दो पद्यों द्वारा 'जय'के शीलमहात्म्यको ही सूचित किया है—

" शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः ।
परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥ १३० ॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते ।
शीलशुद्धिर्विशुद्धानां किंकरास्त्रिदशा नृणाम् ॥ ३१ ॥

—सर्ग १२ वाँ ।

इस तरह पर जयका उक्त दृष्टातरूपसे उल्लेख उसके प्रसिद्ध आख्यानके विरुद्ध पाया जाता है और इससे भी पद्यकी स्थिति सदिग्ध हो जाती है ।

(७) इन पद्योंमें दिये हुए दृष्टातोंको टीकामें जिस प्रकारसे उदाहृत किया है, यदि सचमुच ही उनका वही रूप है और वही उनसे अभिप्रेत है तो उससे इन दृष्टातोंमे ऐसा कोई विशेष महत्त्व भी मालूम नहीं होता, जिसके लिये स्वामी समतभद्र जैसे महान् आचार्योंको उनके नामोल्लेखका प्रयत्न करनेकी जरूरत पडती । वे प्रकृत विषयको पुष्ट बनाने अथवा उसका प्रभाव हृदयपर स्थापित करनेके लिये पर्याप्त नहीं हैं । कितने ही दृष्टात तो इनसे भी अधिक महत्त्वके, हिंसाअहिंसादिके विषयमे, प्रतिदिन देखने तथा सुननेमे आते हैं ।

इन्हीं सब कारणोंसे उक्त छहों पद्योंको स्वामी समतभद्रके पद्य स्वीकार करनेसे इनकार किया जाता है और कहा जाता है कि वे 'क्षेपक' हैं ।

हमारी रायमे, इन आपत्तियोंमेंसे सबसे पिछली आपत्ति तो ऐसी है जिसमे कुछ भी बल मालूम नहीं होता, क्योंकि उसकी कल्पनाका आधार एक मात्र टीका है । यह बिलकुल ठीक है, और इसमे कोई सदेह नहीं कि टीकाकारने इन

दृष्टान्तोंकी जो कथाएँ दी हैं वे बहुत ही साधारण तथा श्रीहीन हैं, और कहीं कहीं पर तो अप्राकृतिक भी जान पड़ती हैं। उनमें भावोंका चित्रण बिलकुल नहीं, और इस लिये वे प्राय निष्प्राण मालूम होती हैं। टीकाकारने, उन्हें देते हुए, इस बातका कुछ भी ध्यान रक्खा मालूम नहीं होता कि जिस व्रत, अव्रत अथवा गुण-दोषादिके विषयमे ये दृष्टान्त दिये गये हैं उनका वह स्वरूप उस कथाके पात्रमें परिस्फुट (अच्छी तरहसे व्यक्त) कर दिया गया या नहीं जो इस ग्रथ अथवा दूसरे प्रधान ग्रथोंमें पाया जाता है, और उसके फलप्रदर्शनमे भी किसी असाधारण विशेषताका उल्लेख किया गया अथवा नहीं। अनतमतीकी कथामे एक जगह भी 'नि·काक्षित' अगके स्वरूपको और उसके विषयमें अनतमतीकी भावनाको व्यक्त नहीं किया गया, प्रत्युत इसके अनतमतीके ब्रह्मचर्य व्रतके माहात्म्यका ही यत्र तत्र कीर्तन किया गया है, 'प्रभावना' अगकी लम्बी कथामें 'प्रभावना' के स्वरूपको प्रदर्शित करना तो दूर रहा, यह भी नहीं बतलाया गया कि वज्रकुमारने कैसे रथ चलवाया—क्या अतिशय दिखलाया और उसके द्वारा क्योंकर और क्या प्रभावना जैनशासनकी हुई; धनदेवकी कथामें इस बातको बतलानेकी शायद जरूरत ही नहीं समझी गई कि धनदेवकी सत्यताको राजाने कैसे प्रमाणित किया, और बिना उसको सूचित किये वैसे ही राजासे उसके हकमें फैसला दिला दिया गया! असत्यभाषणका दोष दिखलानेके लिये जो सत्यघोषकी कथा दी गई है उसमें उसे चोरीका ही अपराधी ठहराया है, जिससे यह दृष्टात, असत्यभाषणका न रहकर दूसरे ग्रथोंकी तरह चोरीका ही बन गया है। और इस तरहपर इन सभी कथाओंमें इतनी अधिक त्रुटियाँ पाई जाती हैं कि उनपर एक खासा विस्तृत निबध लिखा जा सकता है। परतु टीकाकार महाशय यदि इन दृष्टातोंको अच्छी तरहसे खिला नहीं सके, उनके मार्मिक अशोंका उल्लेख नहीं कर सके और न त्रुटियोंको दूर करके उनकी कथाओंको प्रभावशालिनी ही बना सके हैं, तो यह सब उनका अपना दोष है। उसकी वजहसे मूल ग्रथपर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। और न मूल आख्यान वैसे कुछ नि सार अथवा महत्त्वशून्य ही हो सकते जैसा कि टीकामे उन्हें बता दिया गया है। इसीसे हमारा यह कहना है कि इस ७ वीं आपत्तिमे कुछ भी बल नहीं है।

छठी आपत्तिके सम्बधमें यह कहा जा सकता है कि पद्यमें जिस 'जय' का उल्लेख है वह सुलोचनाके पतिसे भिन्न कोई दूसरा ही व्यक्ति होगा अथवा दूसरे

प्रकट किये यह जाँच अधूरी ही रहेगी। अतः पाठकोंकी अनुभववृद्धिके लिये यहाँ उस जॉचका कुछ सार दिया जाता है—

(१) भवनकी मुद्रित सूचीमें रत्नकरडश्रावकाचारकी जिस प्रतिका नवर ६३६ दिया है वह मूल प्रति है और उसमे ग्रथके पद्योंकी संख्या १९० दी है—अर्थात्, ग्रथकी इस सटीक प्रतिसे अथवा डेढसौ श्लोकोंवाली अन्यान्य मुद्रित अमुद्रित प्रतियोंसे उसमें ४० पद्य अधिक पाये जाते हैं। वे चालीस पद्य, अपने अपने स्थानकी सूचनाके साथ, इस प्रकार हैं—

'नाङ्गहीनमल' नामके २१ वें पद्यके वाद—

सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।
संध्यासेवाग्निसंस्कारो (सत्कारो) देहगेहार्चनाविधिः ॥२१॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारः तन्मूत्रस्य निषेवणं।
रत्नवाहनभूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवन ॥ २३ ॥

'न सम्यक्त्वसम' नामके ३४ वें पद्यके वाद—

दुर्गतावायुषो वंधात्सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरास्थितिः ॥ ३८ ॥

'अष्टगुण' नामके ३७ वे पद्यके वाद—

उक्त च—अणिमा महिमा लघिमागरिमान्तर्धानकामरूपित्व।
प्राप्ति प्राकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहतत्वमिति वैक्रियिकाः ॥४१॥

'नवनिधि' नामके ३८ वें पद्यके वाद—

उक्त च त्रय—रक्षितयक्षसहस्रकालमहाकालपाण्डुमाणवशंख—
नैसर्पपद्मपिंगलनानारत्नाश्च नवनिधय· ॥४३॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजनधान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि।
आभरणरत्ननिकरान् क्रमेण निधय· प्रयच्छति ॥४४॥
चक्र छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी।
गृहसेनापती तक्षपुरोधाश्वगजस्त्रियः ॥४५॥

'प्राणातिपात' नामके ५२ वे पद्यके वाद—

स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराणा तु पश्चात्स्याद्वा न वा वध. ॥ ६० ॥

'अतिवाहना' नामके ६२ वे पद्यके बाद—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रंथान्निवर्तन ।
पंचकाणुव्रतं राव्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥ ७१ ॥

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥ ७२ ॥

मौनं भोजनवेलाया ज्ञानस्य विनयो भवेत ।
रक्षणं चाभिमानस्येत्युद्दिशति मुनीश्वरा. ॥ ७३ ॥

हदन मूत्रण स्नानं पूजन परमेष्ठिना ।
भोजनं सुरत स्तोत्र कुर्यान्मौनसमन्वित' ॥ ७४ ॥

मासरक्तार्द्रचर्मास्थिपूयदर्शनतस्त्यजेन ।
मृतांगिवीक्षणादन्नं प्रत्याख्यानान्नसेवनात ॥ ७५ ॥

मातंगश्वपचादीना दर्शने तद्वच: श्रुतौ ।
भोजनं परिहर्तव्य मलमूत्रादिदर्शने ॥ ७६ ॥

'मद्यमास' नामके ६६ वे पद्यके बाद—

मांसाशिषु दया नास्ति न सत्य मद्यपायिषु ।
धर्मभावो न जीवेषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ ८१ ॥

'अल्पफल' नामके ८५ वें पद्यके बाद—

स्थूला: सूक्ष्मास्तथा जीवा: सन्त्युदुम्बरमध्यगा: ।
तन्निमित्तं जिनोद्दिष्ट पंचोदुम्बरवर्जन ॥ १०१ ॥

रससपृक्तफलं यो ददाति त्रसतनुरसैश्चसमिश्रम् ।
तस्य च मासनिवृत्तिर्विफला खलु भवति पुरुपस्य ॥ १०२ ॥

विल्वालावुफले त्रिभुवनविजयी शिलीट्ठकं (?) न सेवेत ।
आपंचदशतिथिभ्य: पयोऽपि वत्सोद्भवात्समारभ्य ॥ १०२ ॥

गालितं शुद्धमप्यम्बु संमूर्छति मुहूर्तक: ।
अहोरात्रं तदुष्णं स्यात्कांजिकं दूरवह्निकं ॥ १०४

दतिप्रायेषु पात्रेषु तोय स्नेह तु नाश्रयेत् ।
नवनीत न धर्तव्यंमूर्ध्वं तु प्रहरार्धत ॥ १०५ ॥

'चतुराहारविसर्जन' नामके १०९ वे पद्यके वाद—

स प्रोषधोपवासस्तूत्तममध्यमजघन्यतास्त्रिविधः ।
चतुराहारविसर्जनजलसहिता चाम्लभेदः स्यात् ॥ १३० ॥

'नवपुण्यै नामके पद्य न० ११३ के वाद—

खंडनी पेषणी चुल्ही उदकुंभी प्रमार्जिनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १३५ ॥
स्थापनमुच्चै स्थान पादोदकमर्चन प्रणामश्च ।
वाक्कायहृदयशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं ॥ १३६ ॥
श्रद्धाशक्तिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता दया क्षान्ति ।
यस्यैते सप्तगुणास्त दातारं प्रशसन्ति ॥ १३७ ॥

'आहारौषध' नामके पद्य न० ११७ के वाद—

उक्त च त्रयम्—भैषज्यदानतो जीवो वलवान् रोगवर्जितः ।
सल्लक्षण सुवज्राग. तप्त्वा मोक्षं व्रजेदसौ ॥ १४२ ॥

'श्रावकपदानि' नामके पद्य न० १३६ के वाद—

दर्शनिकव्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च (सौ च) ॥
सचित्तरात्रिभक्तव्रतनिरतो व्रह्मचारी च ॥ १६२ ॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमते. ततोद्दिष्टात् ।
इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥ १६३ ॥

'सम्यग्दर्शनशुद्ध' नामके पद्य न० १३७ के वाद—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषा पंचाविंशतिः ॥ १६५ ॥
द्यूत च मांस च सुरा च वेश्या पापर्द्धिचौर्या परदारसेवाः ।
एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसि क्रूरा भवंति ॥ १६६ ॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलान्यपि ।
त्यजेन्मधुविशुद्धयासौ दर्शनिक इति स्मृतः ॥ १६७ ॥

'मूलफल' नामके पद्य न० १४१ के वाद—

येन सचित्त त्यक्तं दुर्जयजिह्वा विनिर्जिता तेन ।
जीवदया तेन कृता जिनवचनं पालितं तेन ॥ १७२ ॥

'अन्नं पान' नामके पद्य नं० १४२ के बाद—

योे निशि भुक्तिं मुंचति तेनानशनं कृत च षण्मासं।
संवत्सरस्य मध्ये निर्दिष्ट मुनिवरेणेति ॥ १७४ ॥

'मलबीज' नामके पद्य नं० १४३ के बाद—

यो न च याति विकार युवतिजनकटाक्षबाणविद्धोपि।
सत्वेन (व) शूरशूरो रणशूरो नो भवेच्छूरः ॥ १७६ ॥

'बाह्येषु दशसु' नामके पद्य नं० १४५ के बाद—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपद च चतुष्पद।
यान शय्यासन कुप्यं भाडं चेति बहिर्दश ॥ १७९ ॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयं।
रागद्वेषाश्च सगा स्युरंतरंगचतुर्दश ॥ १८० ॥

बाह्यग्रथविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापत. सन्ति।
पुनरभ्यंतरसंगत्यागी लोकेऽतिदुल्भो जीव ॥ १८१ ॥

'गृहतो मुनिवन' नामके पद्य नं० १४७ के बाद—

एकादशके स्थाने चोत्कृष्टश्रावको भवेद्द्विविधः।
वस्त्रैकधर प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु ॥ १८४ ॥

कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन।
लोचं पिंछं धृत्वा भुक्ते ह्युपविश्य पाणिपुटे ॥ १८५ ॥

वीरचर्या च सूर्यप्रतिमा त्रैकालयोगनियमश्च।
सिद्धान्तरहस्यादिस्वध्ययनं नास्तिदेशविरताना ॥ १८६ ॥

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रय।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १८७ ॥

(२) भवनकी दूसरी मूलप्रतिमे, जिसका नवर ६३१ है, इन उपर्युक्त चालीस पद्योंमेंसे ४३,४४,४५,६० और ८१ नवरवाले पॉच पद्य तो विलकुल नहीं हैं; शेष पैंतीस पद्योंमें भी २२,२३,२७,१३५,१३६,१३७,१६२,१६३, १६५,१६६,१६७,१८४,१८५,१८६,१८७ नबरवाले पद्रह पद्योको मूलग्रथका अग नहीं बनाया गया—उन्हें टिप्पणीके तौरपर इधर उधर हाशियेपर दिया है और उनमेंसे 'खडनी पेषणी' आदि तीन पद्योंके साथ 'उक्त च' तथा 'एका-

दशके' आदि चार पद्योंके साथ 'उक्त च चतुष्टय' ये शब्द भी लगे हुए हैं। ४१,१७४ और १७६ नबरवाले तीन पद्योंको ग्रथका अग बनाकर पीछेसे कोष्टकके भीतर कर दिया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि ये पद्य मूलग्रथके पद्य नहीं हैं—भूलसे मध्यमें लिखे गये हैं—उन्हें टिप्पणीके तौरपर हाशियेपर लिखना चाहिये था। इस तरहपर अठारह पद्योंको ग्रथका अग नहीं बनाया गया है। बाकीके सतरह पद्योंमेसे, जिन्हें ग्रथका अग बनाया गया है, ७१ से ७६,१०१ से १०५ और १७२ नबरवाले बारह पद्योंको 'उक्त च' 'उक्त च पचक' इत्यादि रूपसे दिया है और उसके द्वारा प्रथम मूलप्रतिके आशयसे भिन्न यह सूचित किया गया है कि ये स्वामी समतभद्रसे भी पहलेके—दूसरे आचार्योंके—पद्य हैं और उन्हें समन्तभद्रने अपने मूलग्रथमें उद्धृत किया है। हॉ, पहली प्रतिमे 'भैषज्यदानतो' नामके जिस पद्य न० १४२ को 'उक्त च त्रय' शब्दोंके साथ दिया है वह पद्य यहॉ उक्त शब्दोंके ससर्गसे रहित पाया जाता है और इस लिये पहली प्रतिमे उक्त शब्दोंके द्वारा जो यह सूचित होता था कि अगले 'श्रीषेण' तथा 'देवाधिदेव' नामके वे पद्य भी 'उक्त च' समझने चाहिये जो डेढसौ श्लोकवाली प्रतियोंमें पाये जाते हैं वह बात इस प्रतिसे निकल जाती है। एक विशेषता और भी इस प्रतिमे देखी जाती है और वह यह है कि 'अतिवाहना' नामके ६२ वे पद्यके बाद जिन छह श्लोकोंका उल्लेख पहली प्रतिमें पाया जाता है उनका वह उल्लेख इस प्रतिमे उक्त स्थानपर नहीं है। वहॉ पर उन पद्योंमेसे सिर्फ 'अधोमुखे' नामके ७२ वे पद्यका ही उल्लेख है—और उसे भी देकर फिर कोष्टकमे कर दिया है। उन छहों पद्योंको इस प्रतिमे 'मद्यमास' नामके ६६ वे पद्यके बाद 'उक्त च' रूपसे दिया है और उनके बाद 'पचाणुव्रत' नामके ६३ वे मूल पद्यको फिरसे उद्धृत किया है।

(३) भवनकी तीसरी ६४१ नम्बरवाली प्रति कनडीटीकासहित है। इसमें पहली मूल प्रतिवाले वे सब चालीस पद्य, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं, अपने अपने पूर्वसूचित स्थानपर और उसी क्रमको लिये हुए, टीकाके अगरूपसे पाये जाते हैं। सिर्फ 'द्यूत च मास' नामके पद्य न० १६६ की जगह टीकामें उसी आशयका यह पद्य दिया हुआ है—

द्यूत मास सुरा वेश्या पापर्द्धि परदारता।
स्तोयेन सह सप्तेति व्यसनानि विदूरयेत्॥

इसके सिवाय इतनी विशेषता और भी है कि पहली मूल प्रतिमें सिर्फ पाँच पद्योंके साथ ही ' उक्त च, ' ' उक्त च त्रय ' शब्दोंका सयोग था। इस प्रतिमे उन पद्योंके अतिरिक्त दूसरे और भी २१ पद्योंके साथ वैसे शब्दोंका सयोग पाया जाता है–अर्थात्, न० १०१ से १०५ तकके पाच पद्योंको ' उक्त च पचक, ' १३५* से १३७ नवरवाले तीन पद्योंको ' उक्त च, ' १६५ से १६७ नवरवाले तीन पद्योको ' उक्त च त्रय ' १७२, १७४, १७६ नवरवाले पद्योको जुदा जुदा ' उक्त च, ' १७९ से १८१ नवरवाले तीन पद्योंको ' उक्त च त्रय' और १८४ से १८७ नवरवाले चार पद्योको ' उक्त च चतुष्टय ' शब्दोके साथ उद्धृत किया है। साथ ही, इस टीका तथा दूसरी टीकामे भी ' भैपज्यदानतो ' नामके पद्यके साथ ' श्रीषेण ' और ' देवाधिदेव ' नामके पद्योको भी 'उक्त च त्रय' रूपसे एक साथ उद्धृत किया है। भाऊ बाबाजी लटे द्वारा प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनादिसे ऐसा मालूम होता है कि उनकी लिखी २०० श्लोकोंवाली प्रतिमे ' भैपज्यदानतो ' नामक पद्यके बाद यह पद्य भी दिया हुआ है—

> शास्त्रदानफलेनात्मा कलासु सकलास्वपि।
> परिज्ञाता भवेत्पश्चात्केवलज्ञानभाजन ॥ १

सभव है कि श्रीषण' नामक पद्यको साथ लेकर ये तीनो पद्य ही ' उक्त च त्रय 'शब्दोंके वाच्य हों, और 'शास्त्रदान' नामका यह पद्य कनडी टीकाकी इन प्रतियोंमें छूट गया हो।

(४) भवनकी चौथी ६२९ नवरवाली प्रति भी कनडीटीकासहित है। इसकी हालत प्राय तीसरी प्रति जैसी है, विशेषता सिर्फ इतनी ही यहाँ उल्लेख योग्य है कि इसमें १७४ नवरवाले पद्यके साथ ' उक्त च ' शब्द नही दिये और १७२ नवरवाले पद्यके साथ ' उक्त च ' की जगह 'उक्त च त्रय' शब्दोका प्रयोग किया है परतु उनके वाद श्लोक वही एक दिया है। इसके सिवाय इस टीकामे ६० नवरवाले पद्यके ' उक्त च ' ७१ से ७६ नवरवाले छह पद्योंको ' उक्त च षट्क ' और १६२, १६३ नवरवाले दो पद्योंको ' उक्त च द्वय ' लिखा है। और इन ९ पद्योंका यह उल्लेख तीसरी प्रतिसे इस प्रतिमे अधिक है।

---

*१३५ और १३६ नवरवाले पद्य रत्नकरंडकी इस सस्कृतटीकामें भी 'तदुक्त' आदिरूपसे उद्धृत किये गये हैं।

(५) चारों प्रतियोंके इस परिचयसे * साफ जाहिर है कि उक्त दोनों मूल प्रतियोंमें परस्पर कितनी विभिन्नता है । एक प्रतिमें जो श्लोक टिप्पणादिके तौर पर दिये हुए हैं, दूसरीमे वे ही श्लोक मूल रूपसे पाये जाते हैं । इसी तरह दोनों टीकाओमे जिन पद्योंको 'उक्त च' आदिरूपसे दूसरे ग्रथोंसे उद्धृत करके टीकाका एक अग बनाया गया था उन्हें उक्त मूल प्रतियों अथवा उनसे पहली प्रतियोंके लेखकोंने मूलका ही अग बना डाला है ! यद्यपि, इस परिचयपरसे, किसीको यह बतलानेकी ऐसी कुछ जरूरत नहीं रहती कि पहली मूल प्रतिमें जो ४० पद्य बढ हुए हैं और दूसरी मूलप्रतिमें जिन १७ पद्योंको मूलका अग बनाया गया है वे सब मूल ग्रथके पद्य नहीं हैं, बल्कि टीका–टिप्पणियोंके ही अग हैं—विज्ञ पाठक ग्रथमें उनकी स्थिति, पूर्वापर पद्योंके साथ उनके सम्बध, टीकाटिप्पणियोंमें उनकी उपलब्धि, ग्रथके साहित्यसदर्भ, ग्रथकी प्रतिपादन शैली, समतभद्रके मूल ग्रथोंकी प्रकृति ‡ और दूसरे ग्रथोंके पद्यादि विषयक अपने अनुभवपरसे सहजहीमें इस नतीजेको पहुँच सकते हैं कि वे सब दूसरे ग्रथोंके पद्य हैं और इन प्रतियों तथा इन्हीं जैसी दूसरी प्रतियोंमे किसी तरहपर प्रक्षिप्त हो गये हैं—फिर भी साधारण पाठकोंके सतोषके लिये, यहाँपर कुछ पद्योंके सम्बधमे, नमूनेके तौरपर, यह प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि वे कौनसे ग्रथोंके पद्य है और इस ग्रथमे उनकी क्या स्थिति है । अत नीचे उसीका यत्किंचित् प्रदर्शन किया जाता है—

क–' सूर्यार्घ्यो ग्रहणस्नान,' 'गोपृष्ठान्तनमस्कार ' नामके ये दो पद्य, यशस्तिलक ग्रथके छठे आश्वासके पद्य है और उसके चतुर्थकल्पमे पाये जाते है । दूसरी मूल प्रतिमे, यद्यपि, इन्हे टिप्पणीके तौर पर नीचे दिया है तो भी पहली मूल प्रतिमे ' आपगासागरस्नान ' नामके पद्यसे पहले देकर यह सूचित किया है कि ये लोकमूढताके द्योतक पद्य है और, इस तरह पर, ग्रथकर्ताने लोकमूढताके तीन पद्य दिये है । परतु ऐसा नहीं है । ग्रथकार महोदयने शेष दो मूढताओंकी

---

* यह परिचय उस नोट परसे दिया गया है जो जैनसिद्धान्तभवन आराका निरीक्षण करते हुए हमने प० शान्तिराजजीकी सहायतासे तय्यार किया था ।

‡ दोनों मूल प्रतियोंमे कुछ पद्योंको जो ' उक्त च ' रूपसे ग्रथका अग बनाया गया है वह स्वामी समतभद्रके मूल ग्रथोंकी प्रकृतिके विरुद्ध जान पड़ता है ।

तरह 'लोकमूढता'का भी वर्णन एक ही पद्यमें किया है। १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधरजीने भी' अपने 'अनगारधर्मामृत'की टीकामें स्वामिसमन्तभद्रके नामसे—'स्वामिसूक्तानि' पदके साथ—मूढत्रयके द्योतक उन्हीं तीन पद्योंको उद्धृत किया है जो इस सटीक ग्रंथमें पाये जाते हैं। इसके सिवाय उक्त दोनों पद्य खालिस 'लोकमूढता'के द्योतक हैं भी नहीं। और न उन्हें वैसा सूचित किया गया है। यशस्तिलकमें उनके मध्यवर्ती यह पद्य और दिया है—

नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः।

और इस तरहपर तीनों पद्योंमें मूढताओंके कथनका कुछ समुच्चय किया गया है, पृथक् २ स्वरूप किसीका नहीं दिया गया—जैसा कि उनके बादके निम्न पद्यसे प्रकट है—

समयान्तरपाषण्डवेदलोकसमाश्रयम्।
एवमादि विमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा।

इस सब कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों पद्य मूलग्रंथके नहीं बल्कि यशस्तिलकके हैं।

ख—'मूढत्रय' नामका १६५ नंबरवाला पद्य भी यशस्तिलकके छठे आश्वास (कल्प नं० २१) का पद्य है। वह साफ तौरसे 'सम्यग्दर्शनशुद्ध' पदकी टीका टिप्पणीके लिये उद्धृत किया हुआ ही जान पड़ता है—दूसरी प्रतिकी टिप्पणीमें वह दिया भी है। मूलग्रंथके संदर्भके साथ उसका कोई मेल नहीं—वह वहाँ निरा अनावश्यक जान पड़ता है। स्वामिसमन्तभद्रने सूत्ररूपसे प्रत्येक प्रतिमाका स्वरूप एक एक पद्यमें ही दिया है।

इसी तरहपर, 'मांसाशिषु' और 'श्रद्धाशक्ति' नामके पद्य नं० ८१, १३७ भी यशस्तिलकके ही जान पड़ते हैं। वे क्रमशः उसके ७ वें, ८ वें आश्वासमें जरासे पाठभेदके * साथ पाये जाते हैं। मूलग्रंथके संदर्भके साथ इनका भी मेल

---

* पहले पद्यमें 'धर्मभावो न जीवेषु' की जगह 'आनृशंस्य न मर्त्येषु' यह पाठ दिया है। और दूसरे पद्यमें 'शक्ति' की जगह 'तुष्टिः,' 'दयाक्षान्ति'की जगह 'क्षमाशक्ति' और 'यस्मैते' की जगह 'यत्रैते' ये पाठ दिये हैं जो बहुत साधारण हैं।

नहीं। पहले पद्यमें 'उदुम्बरसेवा'का उल्लेख, खास तौरसे खटकता है—ये पद्य भी टीका टिप्पणीके लिये ही उद्धृत किये हुए जान पडते हैं। पहला पद्य दूसरी प्रतिमें है भी नहीं और दूसरा उसकी टिप्पणीमें ही पाया जाता है। इससे भी ये मूल पद्य मालूम नहीं होते।

ग—'अह्नोमुखेवसाने' नामका ७२ नंबरवाला पद्य हेमचंद्राचार्यके 'योगशास्त्र'का पद्य है और उसके तीसरे प्रकाशमें नंबर ६३ पर पाया जाता है। यहाँ मूलग्रंथकी पद्धति और उसके प्रतिपाद्य विषयके साथ उसका कोई सम्बंध नहीं।

घ—'वधादसत्यात्' नामका ७१ वाँ पद्य चामुंडरायके 'चारित्रसार' ग्रन्थका पद्य है और वहींसे लिया हुआ जान पड़ता है। इसमें जिन पंचाणुव्रतोंका उल्लेख है उनका वह उल्लेख इससे पहले, मूल ग्रन्थके ५२ वें पद्यमें आ चुका है। स्वामी समंतभद्रकी प्रतिपादनशैली इस प्रकार व्यर्थकी पुनरुक्तियोंको लिये हुए नहीं होती, इसके सिवाय ५१ वे पद्यमें अणुव्रतोंकी संख्या पाँच दी है और यहाँ इस पद्यमें 'रात्र्यभुक्ति' को भी छठा अणुव्रत बतलाया है, इससे यह पद्य ग्रंथके साथ बिलकुल असम्बद्ध मालूम होता है।

इसी तरह पर 'दर्शनिकव्रतकावपि,' 'आरंभाद्विनिवृत्त' और 'आद्यास्तु षट् जघन्या' नामके तीनों पद्य भी चारित्रसार ग्रंथसे लिये हुए मालूम होते हैं और उसमें यथास्थान पाये जाते हैं। दूसरी मूल प्रतिमें भी इन्हें टिप्पणीके तौर पर ही उद्धृत किया है और टीकामें तो 'उक्त च' रूपसे दिया ही है। मूल ग्रंथके संदर्भके साथ ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

ङ—'मौनं भोजनवेलायां', 'मांसरक्तार्द्रचर्मास्थि', 'स्थूला सूक्ष्मास्तथा जीवा', नामके ७३, ७५ और १०१ नम्बरवाले ये तीनों पद्य पूज्यपादकृत उस उपासकाचारके पद्य हैं, जिसकी जाँचका लेख हमने जैनहितैषी भाग १५ के १२ वें अंकमें प्रकाशित कराया था। उसमें ये पद्य क्रमशः नं० २९, २८ तथा ११ पर दर्ज हैं। यहाँ ग्रंथके साहित्य, संदर्भादिसे इनका कोई मेल नहीं और ये खासे असम्बद्ध मालूम होते हैं।

ऐसी ही हालत दूसरे पद्योंकी है और वे कदापि मूल ग्रंथके अंग नहीं हो सकते। इन्हें भी उक्त पद्योंकी तरह, किसी समय किसी व्यक्तिने, अपनी यादादाश्त आदिके लिये, टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किया है और बादको, इन टीका टिप्पणवाली प्रतियों परसे मूल ग्रंथकी नकल उतारते समय, लेख-

-कोंकी असावधानी और नासमझीसे वे मूल ग्रथका ही एक बेढगा अथवा बेडौल अग बना दिये गये हैं। सच है ' मुर्दा बदस्त जिन्दा ख्वाह गाडो या कि फूँको।' शास्त्र हमारे कुछ कह नहीं सकते, उन्हें कोई तोडो या मरोड़ो, उनकी कलेवरवृद्धि करो अथवा उन्हें तनुक्षीण बनाओ, यह सब लेखकोंके हाथका खेल और उन्हींकी कर्तूत है!! इन बुद्धू अथवा नासमझ लेखकोंकी बदौलत ग्रथोंकी कितनी मिट्टी खराब हुई है उसका अनुमान तक भी नहीं हो सकता। ग्रथोंकी इस खराबीसे कितनी ही गलतफहमियाँ फैल चुकी हैं और यथार्थ वस्तुस्थितिको मालूम करनेमें बड़ी ही दिक्कतें आ रही हैं। श्रुतसागरसूरिको भी शायद ग्रथकी कोई ऐसी ही प्रति उपलब्ध हुई है और उन्होंने उस पर ' एकादशके ' आदि उन चार पद्योंको स्वामी समतभद्र द्वारा ही निर्मित समझ लिया है जो ' गृहतो मुनिवनमित्वा ' नामके १४७ वें पद्यके बाद उक्त पहली मूल प्रतिमें पाये जाते हैं। यही वजह है कि उन्होंने ' षट्प्राभृत ' की टीकामें* उनका महाकवि समतभद्रके नामके साथ उल्लेख किया है और उनके आदिमें लिखा है ' उक्त च समन्तभद्रेण महाकविना '। अन्यथा, वे समन्तभद्रके किसी भी ग्रथमें नहीं पाये जाते और न अपने साहित्य परसे ही वे इस बात-को सूचित करते हैं कि उनके रचयिता स्वामी समतभद्र जैसे कोई प्रौढ विद्वान् और महाकवि आचार्य हैं। अवश्य ही वे दूसरे किसी ग्रथ अथवा ग्रथोंके पद्य हैं और इसीसे दूसरी मूल प्रतिके टिप्पणमें और दोनों कनडी टीकाओंमें उन्हें ' उक्त च चतुष्टय ' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। एक पद्य तो उन-मेंसे चारित्रसार ग्रथका ऊपर बतलाया भी जा चुका है।

यहाँ पर यह प्रगट करना शायद कुछ अप्रासगिक न होगा कि जो लोग अपनेको जिनवाणी माताके भक्त समझते हैं अथवा उसकी भक्तिका दम भरते हैं उनके लिये यह बड़ा ही लज्जाका विषय है जो उनके शास्त्रभडारोंमें उन्हींके धर्म-ग्रथोंकी ऐसी खराब हालत पाई जाती है। माता उनके सामने लुटती रहे, उस पर अत्याचार होता रहे, उसके अग विकृत अथवा छिन्न भिन्न किये जाते रहें, कोई उसका सतीत्व भी हरण करता रहे और वे उसकी कुछ भी पर्वाह न करते हुए मौनावलम्बी रहें! क्या इसीका नाम मातृभक्ति है? इसका नाम कदापि मातृभक्ति नहीं हो सकता। पुत्रोंका ऐसा आचरण उनके लिये महान् कलक है और

---

* देखो, सूत्रप्राभृत की गाथा नवर २१ की टीका।

उन्हें धिक्कारका पात्र बनाता है। उन्हें माताकी सच्ची खबरदारी और उसकी सच्ची रक्षाका प्रबध करना चाहिये—ऐसा विशाल आयोजन करना चाहिये जिससे जिनवाणीका प्रत्येक अग—प्रत्येक धर्मग्रथ अपनी अविकल स्थितिमें—अपने उस असली स्वरूपमें जिसमें किसी आचार्य महोदयने उसे जन्म दिया है—उपलब्ध हो सके। ऐसा होने पर ही वे अपना मुख उज्ज्वल कर सकेंगे और अपनेको जिनवाणी माताका भक्त कहला सकेंगे। अस्तु।

जॉचका सारांश।

इस लम्बी चौडी जॉचका साराश सिर्फ इतना ही है कि—

१—ग्रथकी दो प्रकारकी प्रतियॉ पाई जाती हैं—एक तो वे जो इस सटीक प्रतिकी तरह डेढसौ श्लोकसख्याको लिये हुए हैं और दूसरी वे जिन्हें ऊपर ‘अधिक पद्यों-वाली प्रतियॉ’ सूचित किया है। तीसरी प्रकारकी ऐसी कोई उल्लेखयोग्य प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हुई जिसमें पद्योंकी सख्या डेढसौसे कम हो। परतु ऐसी प्रतियोंके उपलब्ध होनेकी सभावना बहुत कुछ है। उनकी तलाशका अभी-तक कोई यथेष्ट प्रयत्न भी नहीं हुआ जिसके होनेकी जरूरत है।

२—ग्रथकी डेढसौ श्लोकोंवाली इस प्रतिके जिन पद्योंको क्षेपक बतलाया जाता है अथवा जिन पर क्षेपक होनेका सदेह किया जाता है उनमेंसे ‘चतुराहार-विसर्जन’ और दृष्टान्तोंवाले पद्योंको छोडकर शेप पद्योंका क्षेपक होना युक्ति-युक्त मालूम नहीं होता और इसलिये उनके विषयका सदेह प्राय निर्मूल जान पड़ता है।

३—ग्रथमें ‘चतुराहारविसर्जन’ नामका पद्य और दृष्टांतोंवाले छहों पद्य, ऐसे सात पद्य बहुत ही सदिग्ध स्थितिमें पाये जाते हैं। उन्हें ग्रथका अग मानने और स्वामी समतभद्रके पद्य स्वीकारनेमें कोई युक्तियुक्त कारण मालूम नहीं देता। वे खुशीसे उस कसौटी (कारणकलाप) के दूसरे तीसरे और पॉचवें भागोंमें आ जाते हैं जो क्षेपकोंकी जॉचके लिये इस प्रकरणके शुरूमें दी गई है। परतु इन पद्योंके क्षेपक होनेकी हालतमें यह जरूर मानना पड़ेगा कि इन्हें ग्रथमें प्रक्षिप्त हुए बहुत समय बीत चुका है—वे इस टीकासे पहले ही ग्रथमें प्रविष्ट हो चुके हैं—और इसलिये ग्रन्थकी ऐसी प्राचीन तथा असदिग्ध प्रतियोंकी खोज निकालनेकी खास जरूरत है जो इस टीकासे पहलेकी—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी—लिखी हुई हों अथवा जो खास तौर पर प्रकृत

विषय पर अच्छा प्रकाश डालनेके लिये समर्थ हो सकें। साथ ही, इस बातकी भी तलाश होनी चाहिये कि १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए कौन कौनसे ग्रंथोंमें किस रूपसे ये पद्य पाये जाते हैं और इस संस्कृत टीकासे पहलेकी बनी हुई कोई दूसरी टीका भी इस ग्रंथ पर उपलब्ध होती है या नहीं। ऐसा होने पर ये पद्य तथा दूसरे पद्य भी और ज्यादा रोशनीमें आजायँगे और मामला बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा।

४—अधिक पद्योंवाली प्रतियोंमें जो पद्य अधिक पाये जाते हैं वे सब क्षेपक हैं। उन पर क्षेपकत्वके प्रायः सभी कारण चारितार्थ होते हैं और ग्रंथमें उनकी स्थिति बहुत ही आपत्तिके योग्य पाई जाती है। वे बहुत साफ तौर पर दूसरे ग्रंथोंसे टीका टिप्पणीके तौर पर उद्धृत किये हुए और बादको लेखकोंकी कृपासे ग्रंथका अंग बना दिये गये मालूम होते हैं। ऐसे पद्योंको ग्रंथका अंग मानना उसे बेढंगा और बेडौल बना देना है। इस प्रकारकी प्रतियाँ पद्योंकी एक संख्याको लिये हुए नहीं हैं और यह बात उनके क्षेपकत्वको और भी ज्यादा पुष्ट करती है।

आशा है, इस जाँचके लिये जो इतना परिश्रम किया गया है और प्रस्तावनाका इतना स्थान रोका गया है वह व्यर्थ न जायगा। विज्ञ पाठक इसके द्वारा अनेक स्थितियों, परिस्थितियों और घटनाओंका अनुभव कर जरूर अच्छा लाभ उठाएँगे, और यथार्थ वस्तुस्थितिको समझनेमें बहुत कुछ कृतकार्य होंगे। साथ ही, जिनवाणी माताके भक्तोंसे भी यह आशा की जाती है कि वे, धर्म-ग्रंथोंकी ओर अपनी इस हानिकर लापरवाहीको और अधिक दिनों तक जारी न रखकर शीघ्र ही माताकी सच्ची रक्षा, सच्ची खबरगीरी और उसके सच्चे उद्धारका कोई ठोस प्रयत्न करेंगे जिससे प्रत्येक धर्मग्रंथ अपनी अविकल स्थितिमें सर्व साधारणको उपलब्ध हो सके।

टीका और टीकाकार प्रभाचंद्र।

इस ग्रंथपर, 'रत्नकरण्डक—विषमपदव्याख्यान' नामके एक संस्कृतटिप्पणको छोड़कर जो आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है और जिसपरसे उसके कर्ताका कोई नामादिक मालूम नहीं होता, संस्कृतकी * सिर्फ यही एक टीका

---

* कनड़ी भाषामें भी इस ग्रंथपर कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परंतु उनके रचयिताओं आदिका कुछ हाल मालूम नहीं हो सका। तामिल भाषाका 'अरुगल-

अभीतक उपलब्ध हुई है जो इस ग्रथके साथ प्रकाशित हो रही है। इसी टीकाकी बावत, पिछले पृष्ठोंमें, हम बराबर कुछ न कुछ उल्लेख करते आये हैं और उसपरसे टीकाका कितना ही परिचय मिल जाता है। हमारी इच्छा थी कि इस टीकापर एक विस्तृत आलोचना लिख दी जाती परतु समयके अभाव और लेखके अधिक बढ़ जानेके कारण वह कार्यमे परिणत नहीं हो सकी। यहाँ पर टीकाके सबधमे, सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना उचित मालूम होता है कि यह टीका प्राय साधारण है—ग्रथके मर्मको अच्छी तरहसे उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है और न इसमें गृहस्थधर्मके तत्त्वोका कोई अच्छा विवेचन ही पाया जाता है—सामान्य रूपसे ग्रथके प्राय शब्दानुवादको ही लिये हुए है। कहीं कहीं तो जरूरी पदोंके शब्दानुवादको भी छोड़ दिया है, जैसे 'भयाशास्नेह' नामके पद्यकी टीकामें 'कुदेवागमलिंगिनां' पदका कोई अनुवाद अथवा स्पष्टीकरण नहीं दिया गया जिसके देनेकी खास जरूरत थी, और कितने ही पदोंमे आए हुए 'आदि' शब्दकी कोई व्याख्या नहीं की गई जिससे यह मालूम होता कि वहाँ उससे क्या कुछ अभिप्रेत है। इसके सिवाय, 'टीकामे ये तीन खास विशेषताएँ पाई जाती हैं—

प्रथम तो यह कि, इसमें मूल ग्रथको सातकी जगह पाँच परिच्छेदोंमे विभाजित किया है—अर्थात्, 'गुणव्रत' और 'प्रतिमा' वाले अधिकारोको अलग अलग परिच्छेदोंमे न रखकर उन्हे क्रमश 'अणुव्रत' और 'सल्लेखना' नामके परिच्छेदोंमे शामिल कर दिया है। मालूम नही, यह लेखकोंकी कृपाका फल है अथवा टीकाकारका ही ऐसा विधान है। जहाँतक हम समझते हैं, विषय-विभागकी दृष्टिसे, ग्रथके सात परिच्छेद ही ठीक मालूम होते हैं और वे ही ग्रथकी मूल प्रतियोंमे पाये जाते हैं *। यदि सात परिच्छेद नहीं रखने थे तो फिर चार

होने चाहियें थे। गुणव्रतोंके अधिकारको तो, 'एव पंचप्रकारमणुव्रत प्रतिपाद्येदानीं त्रि.प्रकार गुणव्रतं प्रतिपादयन्नाह' इस वाक्यके साथ, अणुव्रत-परिच्छेदमें शामिल कर देना परतु शिक्षाव्रतोंके कथनको शामिल न करना क्या अर्थ रखता है, यह कुछ समझमें नहीं आता। इसीसे टीकाकी यह विशेषता हमें आपत्तिके योग्य जान पड़ती है।

दूसरी विशेषता यह कि, इसमें दृष्टान्तोंवाले छहों पद्योंको उदाहृत किया है—अर्थात्, उनकी तेईस कथाए दी हैं। ये कथाएँ कितनी साधारण, श्रीहीन, निष्प्राण, तथा आपत्तिके योग्य हैं और उनमें क्या कुछ त्रुटियाँ पाई जाती हैं, इस विषयकी कुछ सूचनाएँ पिछले पृष्ठोंमें, 'संदिग्धपद्य' शीर्षकके नीचे, सातवीं आपत्तिका विचार करते हुए, दी जा चुकी हैं। वास्तवमें इन कथाओंकी त्रुटियोंको प्रदर्शित करनेके लिये एक अच्छा खासा निबध लिखा जा सकता है, जिसकी यहाँ पर उपेक्षा की जाती है।

तीसरी विशेषता यह है कि, इस टीकामें श्रावकके ग्यारह पदोंको—प्रतिमाओं, श्रेणियों अथवा गुणस्थानोंको—सल्लेखनानुष्ठाता (समाधिमरण करनेवाले) श्रावकके ग्यारह भेद बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि जो श्रावक समाधिमरण करते हैं—सल्लेखनाव्रतका अनुष्ठान करते हैं—उन्हींके ये ग्यारह भेद हैं। यथा—

"साम्प्रत योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कतिप्रतिमा भवन्तीत्याशक्याह—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणै.सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा॰ ॥"

इस अवतरणमें 'श्रावकपदानि' नामका उत्तर अश तो मूल ग्रथका पद्य है और उससे पहला अश टीकाकारका वह वाक्य है जिसे उसने उक्त पद्यको देते हुए उसके विषयादिकी सूचना रूपसे दिया है। इस वाक्यमें लिखा है कि 'अब सल्लेखनाका अनुष्ठाता जो श्रावक है उसके कितनी प्रतिमाएँ होती हैं, इस बातकी आशका करके आचार्य कहते हैं।' परतु आचार्य महोदयके उक्त पद्यमें न तो वैसी कोई आशका उठाई गई है और न यही प्रतिपादन किया गया है कि ये ११

था। जैनग्रथरत्नाकर कार्यालय बम्बई आदि द्वारा प्रकाशित और भी बहुत सस्करणोंमें तथा पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंमें वे ही सात परिच्छेद पाये जाते हैं जिनका उल्लेख प्रस्तावनाके शुरूमें 'ग्रथपरिचय' के नीचे किया गया है।

प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके होती हैं, बल्कि 'श्रावकपदानि' पदके प्रयोग द्वारा उसमें सामान्य रूपसे सभी श्रावकोंका ग्रहण किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि श्रावकलोग ११ श्रेणियोंमें विभाजित हैं। इसके सिवाय, अगले पद्योंमें, श्रावकोंके उन ११ पदोंका जो अलग अलग स्वरूप दिया है उसमें सल्लेखनाके लक्षणकी कोई व्याप्ति अथवा अनुवृत्ति भी नहीं पाई जाती—सल्लेखनाका अनुष्ठान न करता हुआ भी एक श्रावक अनेक प्रतिमाओंका पालन कर सकता है और उन पदोंसे विभूषित हो सकता है। इस लिये टीकाकारका उक्त लिखना मूल ग्रंथके आशयके प्राय विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे प्रधान ग्रंथोंसे भी उसका कोई समर्थन नहीं होता—प्रतिमाओंका कथन करनेवाले दूसरे किसी भी आचार्य अथवा विद्वानके ग्रंथोंमे ऐसा विधान नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि ये प्रतिमाएँ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ग्यारह भेद हैं। प्रत्युत इसके ऐसा प्रकार देखनेमें आता है कि इन सभी श्रावकोंको मरणके निकट आनेपर सल्लेखनाके सेवनकी प्रेरणा की गई है, जिसका एक उदाहरण 'चारित्रसार' ग्रंथका यह वाक्य है—"उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।" और यह है भी ठीक, सल्लेखनाका सेवन मरणके सनिकट होनेपर ही किया जाता है और बाकीके धर्मों—व्रतानियमादिकों—का अनुष्ठान तो प्राय जीवनभर हुआ करता है। इस लिये ये ११ प्रतिमाएँ केवल सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके भेद नहीं हैं बल्कि श्रावकाचार*-विधिके विभेद हैं, श्रावकधर्मका अनुष्ठान करनेवालोंकी खास श्रेणियाँ हैं—और इनमें प्राय सभी श्रावकोंका समावेश हो जाता है। हमारी रायमें टीकाकारको 'सल्लेखनानुष्ठाता' के स्थानपर 'सद्धर्मानुष्ठाता' पद देना चाहिये था। ऐसा होनेपर मूलग्रंथके साथ भी टीकाकी संगति ठीक बैठ जाती, क्यों कि मूलमें इससे पहले उस सद्धर्म—अथवा समीचीन धर्मके फलका कीर्तन किया गया है जिसके कथनकी आचार्य महादेयने ग्रंथके शुरूमें प्रतिज्ञा की थी और पूर्व पद्यमें 'फलति सद्धर्मः' ये शब्द भी स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं—उसी सद्धर्मके अनुष्ठानाको अगले पद्योंद्वारा ११ श्रेणियोंमें विभाजित किया है। परंतु जान पड़ता है टीकाकारको शायद ऐसा करना इष्ट नहीं था और शायद यही वजह हो

---

* श्रीअमितगति आचार्यके निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है—

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः।
पवित्रमारोढुमनन्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम् ॥

—उपासकाचार।

जो उसने सल्लेखना और प्रतिमाओंके दोनों अधिकारोंको एक ही परिच्छेदमें शामिल किया है। परतु कुछ भी हो, यह तीसरी विशेषता भी आपत्तिके योग्य जरूर है। अस्तु।

यह टीका 'प्रभाचद्र' आचार्यकी वनाई हुई है। परतु टीकामें न तो प्रभाचद्रकी कोई प्रशस्ति है, न टीकाके बननेका समय दिया है और न टीकाकारने कहीं पर अपने गुरुका ही नामोल्लेख किया है। ऐसी हालतमें यह टीका कौनसे प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई है और कब बनी है, इस प्रश्नका उत्पन्न होना स्वाभाविक है, और वह अवश्य ही यहाँ पर विचार किये जानेके योग्य है, क्योंकि जैन समाजमें 'प्रभाचद्र' नामके बीसियों * आचार्य हो गये हैं, जिनमेंसे कुछका—जिनका हम अभी तक अनुसंधान कर सके हैं—सामान्य परिचय अथवा पता मात्र इस प्रकार है—

(१) वे प्रभाचद्र जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके प्रथम शि० लेखमें पाया जाता है, और जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहु श्रुतकेवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' थे।

(२) वे प्रभाचद्र जिनका श्रीपूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरणके 'रात्रेः कृति प्रभाचंद्रस्य' इस सूत्रमें उल्लेख मिलता है।

(३) वे प्रभाचद्र जिनका उल्लेख, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'शुभचद्राचार्यकी गुर्वावली' और 'नदिसघकी पट्टावलीके आचार्योंकी नामावलीमें, 'लोकचद'के बाद और 'नेमिचंद' से पहले पाया जाता है। साथ ही पट्टावलीमें जिनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेका समय भी वि० सवत् ४५३ दिया है †। यदि यह समय ठीक हो तो दूसरे नबर वाले प्रभाचद्र और ये दोनों एक व्यक्ति भी हो सकते हैं।

---

* सन् १९२१-२२ में इस टीकाके कर्तृत्व-विषय पर कुछ विद्वानोंने चर्चा चलाई थी, और 'प्रभाचद्र कितने हैं' इत्यादि शीर्षकोंको लिये हुए कितने ही लेख उस समय जैनमित्र, जैनसिद्धान्त, जैनबोधक और जैनहितेच्छु पत्रोंमें प्रकाशित हुए थे। उन लेखोंमें प्रभाचद्र नामके विद्वानोंकी जो सख्या प्रकाशित हुई थी वह शायद पॉचसे अधिक नहीं थी।

† जैनहितैषी भाग छठा, अक ७–८ में प्रकाशित 'गुर्वावली' और 'पट्टावली'में भी यह सब उल्लेख मिलता है।

(४) वे प्रभाचद्र जो परलुरुनिवासी ‘ विनयनन्दी ’ आचार्यके शिष्य थे और जिन्हे चालुक्य राजा ‘ कीर्तिवर्मा ’ प्रथमने एक दान दिया था* । ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्यों कि उक्त कीर्ति-वर्माका अस्तित्व समय शक स० ४८९ पाया जाता है ।

(५) ‘ प्रमेयकमलमार्तण्ड ’ और ‘ न्यायकुमुदचद्रोदय’के कर्ता वे प्रसिद्ध प्रभाचद्र, जो ‘ परीक्षामुख’के रचयिता माणिक्यनन्दी आचार्यके शिष्य थे और आदिपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने जिनकी स्तुति की है । ये आचार्य विक्रमकी प्राय. ८ वीं ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । जैनेन्द्र व्याकरण-का ‘ शब्दाम्भोजभास्कर ’ नामका महान्यास ‡ भी सभवत आपका ही बनाया हुआ है और शायद ‘ शाकटायनन्यास’के कर्ता भी आप ही हों, क्यों कि शिमोगा जिलेसे मिले हुए नगर ताल्लुकेके ४६ वें नंबरके शिलालेखमें एक पद्य इस प्रकार पाया जाता है—

सुखि....न्यायकुमुदचन्द्रोदयकृते नम ।
शाकटायनकृत्सूत्रन्यासकर्त्रे व्रतीन्दवे ॥

(६) वे प्रभाचद्र जो ‘ पुष्पनदी ’ के शिष्य और ‘ तोरणाचार्य ’ के प्रशिष्य थे और जिनके लिये शक संवत् ७१९ वि० सं० ८५४ मे एक वसतिका बनाई गई थी, जिसका उल्लेख राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविंदके एक ताम्रपत्रमें मिलता है । शक स० ७२४ के दूसरे ताम्रपत्रमें भी आपका उल्लेख है + ।

(७) वे प्रभाचद्र जो ‘ वृषभनन्दि ’ अपर नाम ‘ चतुर्मुखदेव’के शिष्य और वक्रगच्छके आचार्य ‘ गोपनन्दि’के × महाध्यायी (गुरुभाई) थे, और

---

* देखो ‘ माडर्न इडियन जैनिज्म ’ भाग दूसरा, पृ० ८८ ।

‡ इस न्यासकी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है परन्तु करीब १२००० श्लोक परिमाण होने पर भी वह अपूर्ण है—अन्तके दो अध्यायोंका न्यास इसमें नहीं है— पूरा न्यास ३०००० श्लोकपरिमाण बतलाया जाता है, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमी सूचित करते है ।

+ देखो, माणिकचद्रग्रंथमालामें प्रकाशित ‘षट्प्राभृतादिसग्रह’ की भूमिका ।

× गोपनन्दिको होयसल राजा एरेयगने शक स० १०१५ मे जीर्णोद्धार आदि कार्योंके लिये दो गाँव दान किये थे । देखो, एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ५वींमें चन्नरायपट्टन ताल्लुकेका शि० लेख न० १४८ ।

जिनकी प्रशसामें श्रवणबेलगोलके शिलालेख न० ५५ (६९) मे ये वाक्य दिये हुए हैं—,

श्रीधाराधिपभोजराजमुकुटप्रोताश्मरश्मिच्छटा-
च्छायाकुङ्कुमपङ्कलिप्तचरणाम्भोजातलक्ष्मीधवः ।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्जरोधो मणि ॥
स्थेयात्पण्डितपुण्डरीकतरणिश्श्रीमान्प्रभाचन्द्रमाः ॥
श्रीचतुर्मुखदेवानां शिष्यो धृष्यः प्रवादिभिः ।
पण्डितश्श्रीप्रभाचन्द्रो रुन्द्रवादिगजाङ्कुश· ॥

इन परिचय वाक्योंसे मालूम होता है कि ये प्रभाचद्र न्याय तथा व्याकरणके वहुत बड़े पडित थे और इनके चरणकमल धाराधिपति भोजराजके द्वारा पूजित थे और इसलिये इन्हें राजा भोजके समकालीन अथवा विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १२ वीं शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् समझना चाहिये ।

(८) वे प्रभाचद्र जो अविद्धकर्ण 'पद्मनदि' सैद्धान्तिकके शिष्य 'कुलभूषण'के सधर्मा—और इसलिये उक्त पद्मनदिके प्रसिद्ध नाम 'कौमारदेव'के शिष्य—थे और जिन्हें श्रवणबेल्गोलके ४० वें शिलालेखमे 'प्रथित तर्कग्रंथकार, आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है । यथा—

शब्दाम्भोरुहभास्कर प्रथिततर्कग्रंथकार प्रभा-
चंद्राख्यो मुनिराजपंडितवर श्रीकुण्डकुन्दान्वय ॥

ये आचार्य विक्रमकी प्राय. ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे ।

(९) वे प्रभाचद्र जिन्हे 'प्रमेयकमलमार्तंड'की मुद्रित प्रतिके अन्तमें दिये हुए निम्न पद्यमें 'पद्मनन्दि सेद्धान्त'के शिष्य तथा 'रत्ननन्दि'के पदमे रत लिखा है, और उसके बादकी गद्यपक्तियोंमें जिन्हें धारानिवासी तथा भोजदेव राजाके समकालीन विद्वान् सूचित किया है—

" श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचद्रश्चिरजीयाद्रत्ननन्दिपदे रत. ॥

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपंडितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।"

ये प्रभाचद्र ' प्रमेयकमलमार्तंड'के टीका–टिप्पणकार जान पड़ते हैं, इसीसे उक्त पद्य तथा गद्य पक्तिया ग्रथकी सभी प्रतियोंमें नहीं पाई जातीं *। मुद्रित प्रतिमे, प्रथम परिच्छेदके अन्तमगलके बाद जो सात पक्तियाँ मूल रूपसे छप गई हैं वे साफ तौर पर उक्त मगलपद्यकी टीका ही हैं और ग्रथकी टीका–टिप्पणीका ही एक अग होनेको सूचित करती हैं। इसके सिवाय मुद्रित प्रतिमें जो फुटनोट लगे हुए हैं वे सब भी प्राय उसी टीका–टिप्पणीपरसे लिये गये हैं ‡।

यदि इन प्रभाचद्रके गुरु ' पद्मनदिसैद्धान्त ' और ८ वें नबरवाले प्रभाचद्रके गुरु ' अविद्धकर्ण पद्मनदिसैद्धान्तिक ' दोनों एक ही व्यक्ति हों तो ये दोनों प्रभाचद्र भी एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, और यदि ये प्रभाचद्र ' चतुर्मुखदेव ' के भी शिष्य हों तो ७ वे नबरवाले प्रभाचद्र भी इनके साथ एक ही व्यक्ति हो सकते हैं।

(१०) वे प्रभाचद्र जो मेघचद्रत्रैविद्यदेवके प्रधान शिष्य तथा विष्णुवर्धन राजाकी पट्टराणी ' शातलदेवी'के गुरु थे, और शक स० १०६८ (वि० स० १२०३) में जिनके स्वर्गारोहणका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके शिलालेख न० ५० मे पाया जाता है। इस स्थानके और भी कितने ही शिलालेखोंमें आपका उल्लेख मिलता है। आपके गुरु मेघचद्रका देवलोक शक सं० १०३७ में हुआ था, ऐसा ४८ वें शिलालेखसे पाया जाता है।

(११) वे प्रभाचद्र जिन्हें श्रवणबेल्गोलके शक स० १११८ के लिखे हुए, शिलालेख न० १३० में महामडलाचार्य 'नयकीर्ति'का शिष्य लिखा है। नयकीर्तिका देहान्त शक स० १०९९ (वि० स० १२३४) में हो चुका था, ऐसा उक्त

* पूना के ' भाण्डारकर इन्स्टिटयूट ' में इस ग्रथकी जो दो प्रतियाँ देवनागरी लिपिमें मौजूद हैं उनमेंसे किसीमे भी उक्त गद्य पक्तियाँ नहीं हैं और ८३६ नबरकी प्रतिमें, जो विक्रम सं० १४८९ की लिखी हुई पुरानी प्रतिपरसे नकल की गई है, उक्त पद्य भी नहीं है, ऐसा प० नाथूरामजी प्रेमी स्वय उन प्रतियोंको देखकर सूचित करते हैं।

‡ ग्रथके सपादक प० वशीधरजी शास्त्रीने, इस बातको स्वीकार करते हुए मुझपर प० नाथूरामजी पर प्रकट किया है कि जिस प्रतिपरसे यह ग्रथ छपा है वह विस्तृत टिप्पणसहित है, और टिप्पणी जो छापी गई है वह वही है उनकी निजकी नहीं है।

स्थानके शिलालेख न० ४२ में पाया जाता है, और इस लिये ये प्रभाचद्र विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके प्राय पूर्वार्द्धके विद्वान् थे ।

(१२) वे प्रभाचद्र, जिन्होंने जयसिंहके राज्यमें 'पुष्पदन्त'के प्राकृत 'उत्तरपुराण' पर एक टिप्पण लिखा है और जो धारानगरीके निवासी थे । इस टिप्पणकी प्रशस्ति* इस प्रकार है—

"नित्य तत्र तव प्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातन्तेन समस्तवस्तुविषय चेतश्चमत्कारक ।
व्याख्यात हि तदा पुराणममल स्वस्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चंद्रार्कतारावधि. ॥ १ ॥
तत्वाधारमहापुराणगमनद्योती जनानंदन
सर्वप्राणिमन प्रभेदपटुताप्रस्पष्टवाक्यै करै ।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचंद्रत
जीयाट्टिपणकः प्रचंडतरणि सर्वार्थमग्रद्युति ॥ २ ॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यानिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीप्रभाचद्रपंडितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति ।"

जान पड़ता है यह जयसिंह राजा, जिसके राज्यकालमें उक्त टिप्पण लिखा गया है, 'देवपालदेव' का उत्तराधिकारी था और इसे 'जैतुगिदेव' भी कहते थे । वि० स० १२९२ और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयमें इसने अपने पिताका राज्यासन ग्रहण किया था और इसका राज्यकाल वि० स० १३१२ या १३१३ तक पाया जाता है । प्रसिद्ध विद्वान् प० आशाधरजीने इसी राजाके राज्यकालमें 'सागारधर्मामृत' और 'अनगारधर्मामृत' की टीकाएँ लिखी हैं ।

परतु ऊपरकी प्रशस्तिमें प्रभाचद्रने 'धारानिवासी' के अतिरिक्त अपने लिये जिन दो विशेषणोंका प्रयोग किया है वे वही हैं जो नवर ९ में उद्धृत की हुई प्रमेयकमलमार्तंडकी टिप्पणवाली अन्तिम गद्यपक्तियोंमें पाये जाते हैं और इससे दोनों टिप्पणकार एक ही व्यक्ति थे ऐसा कहा जा सकता है । यदि यह

---

* यह प्रशस्ति प० पन्नालालजी बाकलीवालने जयपुर पाटोदी मदिरके भडारकी २२३ नवरकी प्रति परसे उतारी थी, ऐसा हमें उनके एक पत्र परसे मालूम हुआ, जो ४ जून १९२३ का लिखा हुआ है ।

ठीक हो तब या तो यह कहना होगा कि प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण राजा भोज (प्रथम) के समयमें और महापुराणका टिप्पण भोजके उत्तराधिकारी जयसिंह (प्रथम) के समयमें लिखा गया है, अथवा यह कहना होगा कि महापुराणका टिप्पण जयसिंह (द्वितीय) के समयमें और प्रमेयकमलमार्तंडका टिप्पण भोज (द्वितीय) के समयमें—वि० स० १३४० के करीब—लिखा गया है। इसके सिवाय यह भी कहा जा सकता है कि दोनो प्रभाचद्र धारा-निवासी होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न थे और उनमेंसे एकने दूसरेका अनुकरण करके ही अपने लिये उन विशेषणोंका प्रयोग किया है जो अर्थकी दृष्टिसे प्राय साधारण हैं और कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखते। उत्तर-पुराण-टिप्पणकारके अन्तिम पद्योंमें जो ऊपर उद्धृत भी किये गये हैं, प्रमेयकमलमार्तंडके अन्तिम पद्योंका * कितना ही अनुकरण पाया जाता है, और इस समानता परसे यह कहा नहीं जा सकता कि प्रमेयकमलमार्तंड ग्रथके कर्ता प्रभाचद्र ही उत्तरपुराणके टिप्पणकार हैं, क्योंकि इन प्रभाचद्रके समयमें उक्त उत्तरपुराणका जन्म भी नहीं हुआ था–वह शक स० ८८७ (वि० स० १०२२) क्रोधन सवत्सरका वना हुआ पाया जाता है और उसमे 'वीरसेन' 'जिनसेन' का, उनके 'धवल जयधवल' नामक टीकाग्रथों तकके साथ, उल्लेख मिलता है। इतिहासमे भोजके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकी स्थिति भी वहुत कुछ सदिग्ध पाई जाती है। इन सव वातों परसे हमें तो यही प्रतीत होता है कि प्रमेयकमलमार्तंडके टिप्पणकार चाहे भोज प्रथमके समकालीन हों अथवा भोज द्वितीयके परतु उत्तरपुराणके उक्त टिप्पणकार जयसिंह

---

* वे पद्य इस प्रकार हैं—

गभीर निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रवोधप्रदं
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभो ।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतो किंचिन्मया लेशत·
स्थेयाच्छुद्धधिया मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ॥ १ ॥
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदो
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः ।
शिष्याब्जप्रतिवोधन समुदितो योऽद्रे परीक्षामुखा-
ज्जीयात्सोऽत्रनिवन्ध एष सुचिरं मार्तण्डतुल्योऽमलः ॥ २ ॥

द्वितीयके समकालीन ही होने चाहियें। इस विषयका और विशेष निर्णय दोनों टिप्पणोंके अच्छे अध्ययन पर अवलम्बित है।

(१३) वे प्रभाचद्र जो प्राकृत 'भावसग्रह' (भावत्रिभगी) के कर्ता 'श्रुतमुनि' के शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) थे और उक्त भावसग्रहकी प्रशस्तिमें * जिन्हें 'सारत्रयनिपुण' आदि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है। 'सारत्रय-निपुण' विशेषणसे ऐसा मालूम होता है कि आप समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय ग्रथोंके अच्छे जानकार थे, और इसलिये इन ग्रथोंपर प्रभाचद्रके नामसे जिन टीकाओंका उल्लेख 'दि० जैन ग्रथकर्ता और उनके ग्रथ ×' नामकी सूचीमें, पाया जाता है वे शायद इन्हीं प्रभाचदकी बनाई हुई हों। ये प्रभाचद्र विक्रमकी १३ वीं और १४ वी शताब्दीके विद्वान् थे, क्योंकि अभयचद्र सैद्धान्तकके शिष्य बालचद्र मुनिने, जो कि उक्त श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु होनेसे आपके प्राय समकालीन थे, शक स० ११९५ (वि० स० १३३०) में 'द्रव्य-सग्रह' सूत्रपर एक टीका लिखी है, जिसका उल्लेख 'कर्णाटक-कविचरित' अथवा 'कर्णाटक जैनकवि' में मिलता है। उक्त ग्रथसूचीमें वि० स० १३१६ का जो उल्लेख किया है वह भी आपके समयके अनुकूल पड़ता है।

(१४) वे प्रभाचद्र जिनकी बाबत 'विद्वज्जनबोधक' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे सवत् १३०५ में भ्रष्ट होकर दिल्लीमें रक्ताम्बर हो गये थे—बादशाहकी आज्ञासे उन्होंने रक्त वस्त्र धारण कर लिये थे—और शाही मदद पाकर जिन्होंने उस समय अनेक प्रकारके मिथ्यात्व तथा कुमार्गका प्रचार किया था। इनका समय भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी समझना चाहिये। इनके गुरुका नाम मालूम न होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे इससे पहले अथवा पीछेके उल्लखित किसी प्रभाचद्रसे भिन्न थे या अभिन्न।

एक रक्ताम्बर प्रभाचद्र भगवती आराधनाके टीकाकार भी हो गये हैं जिनका उल्लेख उक्त ग्रथसूचीमें मिलता है। मालूम नहीं वे ये ही थे अथवा इनसे भिन्न।

(१५) वे प्रभाचद्र जिन्हें, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रका-

---

* यह प्रशस्ति माणिकचदग्रथमालामें प्रकाशित 'भावसग्रहादि' ग्रथकी भूमिकामें प्रकाशित हुई है।

× देखो जैनहितैषी भाग ६ ठा, अक ५–६ और ९–१०।

शित, शुभचद्रकी गुर्वावली* तथा मूल (नंदी) सघकी दूसरी पट्टावलीमें रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य, शुभकीर्तिके प्रपट्टशिष्य, और पद्मनन्दिके पट्टगुरु लिखा है, और साथ ही निम्न पद्यके द्वारा यह भी सूचित किया है कि पूज्यपादके शास्त्रोंकी व्याख्या करनेसे आपकी कीर्ति लोकमें विख्यात हुई थी—

पट्टे श्रीरत्नकीर्तेरनुपमतपस· पूज्यपादीयशास्त्र—
व्याख्या-विख्यातकीर्तिर्गुणगणनिधिपः सत्क्रियाचारुचंचुः ।
श्रीमानानन्दधामा प्रतिबुधनुतमा मानसंदायिवादो
जीयादाचन्द्रतारं नरपतिविदितः: श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥

ये प्रभाचद्र जिन ' शुभकीर्ति ' (रत्नकीर्तिके पट्टगुरु †) के पट्टशिष्य थे वे ' वनवासी ' आम्नायके थे, ऐसा उक्त गुर्वावलीसे मालूम होता है । श्रवण-

* जैनहितैषी, छठे भागके अक ७–८ मे जो ' गुर्वावली ' छपी है उसमें भी यह सव दिया हुआ है ।

† गुर्वावलीमें पहले एक स्थान पर शुभकीर्तिको ' धर्मचद्र ' का पट्टगुरु और रत्नकीर्तिका ' प्रपट्टगुरु ' भी सूचित किया है, परतु वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उक्त धर्मचद्रकी वावत यह भी लिखा है कि वे ' हमीर ' भूपाल द्वारा पूजित थे, और हमीर (हम्मीर) का राज्यकाल वि० स० १३३८ या १३४२ से प्रारभ होकर १३५८ तक पाया जाता है । (देखो, भारतके प्राचीन राजवश, प्रथमभाग ।) ऐसी हालतमे प्रभाचद्रका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दी हो जाता है, जो पट्टावलीके समयके विरुद्ध पडता है और उक्त शिलालेखके भी अनुकूल मालूम नहीं होता । क्योकि शिलालेखमे शुभकीर्तिके प्रशिष्य रूपसे जिन ' अमरकीर्ति ' आचार्यका उल्लेख है प्रभाचद्र उनके प्रायः समकालीन विद्वान् होने चाहियें और शिलालेखमे अमरकीर्तिकी भी दो तीन पीढियोंका उल्लेख है । एक ' अमरकीर्ति ' आचार्यने वि० स० १२४७ में ' षट्कर्मोपदेश ' नामक प्राकृत ग्रथकी रचना की है । यदि ये वही अमरकीर्ति हो जो शुभकीर्तिके प्रशिष्य थे तो इनसे इन प्रभाचद्रका समय और भी स्पष्ट हो जाता है । पट्टावलियों तथा गुर्वावलियोंमे, आचार्योंके नामोंका सग्रह करते हुए, नाम–साम्यके कारण कहीं कहीं पर कुछ गडबड जरूर हुई है, और वह अच्छे अनुसधानके द्वारा ही सशोधित हो सकती है । परतु इसके लिये गहरे अध्ययनके साथ साथ साधनसामग्रीकी सुलभताकी बडी जरूरत है जिसकी ओर समाजका कुछ भी ध्यान नहीं है ।

बेल्गोलके शिलालेख न० १११ (२७४) से भी, जो शक स० १२९५ का लिखा हुआ है, इसका समर्थन होता है। और साथ ही, यह भी पाया जाता है कि शुभकीर्तिके एक शिष्य ‘ धर्मभूषण ’ भी थे, जिनकी शिष्यपरम्पराका इस शिलालेखमें उल्लेख है। अस्तु, ये प्रभाचद्र भी विक्रमकी १३ वीं और १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उक्त ४ थी किरणमें प्रकाशित नन्दिसघकी पट्टावलीके * आचार्योंकी नामावलीमें इनके पट्टारोहणका जो समय वि० स० १३१० दिया है सभव है कि वह ठीक ही हो अथवा इनका पट्टारोहण उससे भी कुछ पहले हुआ हो। ये आचार्य दीर्घजीवी—प्राय सौ वर्षकी आयुके धारक—हुए जान पड़ते हैं।

(१६) वे प्रभाचद्र (प्रभेन्दु) मुनि जो अष्टागयोगसम्पन्न थे और जिन्होंने ‘ चरित्रसार’की छह हजार श्लोकपरिमाण एक वृत्ति लिखकर (लेखयित्वा) मलधारि ललितकीर्तिके शिष्य कल्याणकीर्तिको समर्पित की थी और जिसका उल्लेख जैनसिद्धान्त भवन आरामें उक्त चारित्रसारकी कनडी टीकाके अन्तिम भागपर पाया जाता है। कल्याणकीर्ति वि० स० १४८८ में मौजूद थे। उन्होंने, पाड्य नगरके गोम्मटस्वामिचैत्यालयमें रहते हुए, शक स० १३५३ में ‘ यशोधरचरित्र’की रचना की है–इससे ये प्रभाचन्द्र विक्रमकी प्राय १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान् थे।

(१६) वे प्रभाचद्र जो ‘ नयसेन ’ आचार्यकी सततिमें होनेवाले ‘ हेमकीर्ति’ भट्टारकके शिष्य ‘धर्मचद्र’ के पट्टशिष्य थे, और जिन्होंने, सकीट नगर (एटा जिला) में, लम्बकचुक (लमेचू?) आम्नायके ‘सकरू’ साधु (साह) के पुत्र प० सोनिककी प्रार्थनापर तत्त्वार्थसूत्रकी ‘तत्वार्थरत्नप्रभाकर’ नामकी टीका लिखी है। इस टीकाकी रचनाका समय कारजाकी प्रतिमें वि० स० १४८९ दिया हुआ है, ऐसा बाबू हीरालालजी एम० ए० सूचित करते हैं। इससे इन प्रभाचद्रका समय भी विक्रमकी १५ वीं शताब्दी जान पड़ता है

(१८) वे प्रभाचद्र जो शुभचद्र भ० के पट्ट अथवा पद्मनदिके प्रपट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले जिनचद्र भ० के पट्टशिष्य थे, जिनका पट्टाभिषेक सम्मेदशिखर पर हुआ था, जो धर्मचद्र, धर्मकीर्ति अथवा चद्रकीर्तिके पट्टगुरु थे और जिन्हें देवागमालकृति, प्रमेयकमलमार्तंड तथा जैनेंद्रादिक लक्षणशास्त्रोंका ज्ञाता

* जैनहितैषी भाग छठा, अक ७–८ में प्रकाशित ‘ पट्टावली ’ में भी यही समय दिया है।

लिखा है * । ये प्रभाचद्र विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, क्यों कि उक्त जिनचद्रके एक शिष्य प० मेधावीने वि० स० १५४१ में 'धर्मसग्रह-श्रावकाचार'को वनाकर समाप्त किया है।

(१९) वे प्रभाचद्र जिन्हें 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकके कर्ता 'वादिचन्द्र' सूरिने अपना पट्टगुरु और ज्ञानभूषणका पट्टशिष्य लिखा है। उक्त नाटक सं० १६४८ में वनकर समाप्त हुआ है। इससे ये प्रभाचद्र विक्रमकी प्राय १६ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् जान पड़ते हैं।

(२०) वे सव प्रभाचद्र जो श्वेताम्वर सम्प्रदायके आचार्य हुए हैं, और जिनके पृथक् पृथक् नामोल्लेखादिकी यहाँ कोई जरूरत मालूम नहीं होती।

इन 'प्रभाचद्र' नामके विद्वानोंमेसे प्रथम चार विद्वानोंकी वनाई हुई यह टीका नहीं है, क्योंकि इस टीकामें 'प्रमेयकमलमार्तंड' और 'न्यायकुमुदचद्रोदय' ग्रथोंका उल्लेख पाया जाता है ‡ और ये चारों ही प्रभाचद्र इन दोनों ग्रथोंकी रचनासे पहले हो गये हैं। पहले नम्वरके प्रभाचद्र तो मूल ग्रथकी रचनासे भी पहलेके विद्वान् हैं। १६ वे नम्वरसे १९ वे नम्वरतकके विद्वानोंकी भी वनाई हुई यह टीका नहीं है, क्योंकि ये चारों ही प्रभाचद्र, जो विक्रमकी १५ वीं १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंके विद्वान् हैं, प० आशाधरजोसे वहुत पीछे हुए हैं और प० आशाधरजीकी अनगारधर्मामतटीकामे, जो वि० स० १३०० में वनकर समाप्त हुई है, इस टीकाका निम्नप्रकारसे उल्लेख मिलता है—

यथाहुस्तत्र भगवन्त. श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्यं' इत्यस्य व्याख्याने "देववन्दनां कुर्वता हि प्रारंभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणाम कर्तव्यः" इति।

—अ० ८, पद्य न० ९३ की टीकाका अन्तिम भाग।

---

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित 'मूल (नन्दी) सघकी दूसरी पट्टावली' तथा 'पाण्डवपुराणकी दानप्रशस्ति,' और पिटर्सन साहबकी ४ थी रिपोर्टमे प्रकाशित 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसग्रह' (न० १३९९) तथा 'ऋषभनाथचरित्र' (न० १४०४) की दानप्रशस्तियाँ, जो क्रमश वि० स० १६३२ और १७१० की लिखी हुई हैं।

‡ देखो छठे पद्यकी टीकाका निम्नवाक्य—

'तदलमतिप्रसगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचद्रे च प्रपचत प्ररूपणात्।'

इसके सिवाय रत्नकरण्डककी इस टीकाकी एक प्रति विक्रमसवत् १४१५ (माघ सुदि ७ रवि दिन) की लिखी हुई कारंजाके शास्त्रभडार (वलात्कारगण-मदिर) में मौजूद है, ऐसा उस सूचीपरसे मालूम होता है जो हालमे बा० हीरालालजी एम० ए० ने भडारके ग्रन्थोंको स्वय देखकर उतारी थी और हमारे पास देखनेके लिये भेजी थी। इससे यह टीका वि० स० १४१५ के बाद होनेवाले किसी भी प्रभाचद्रकी बनाई हुई नहीं है, इतनी वात और भी स्पष्ट हो जाती है। २० वें नम्बरमें उल्लेखित किसी श्वेताम्बर प्रभाचन्द्रकी बनाई हुई भी यह टीका नहीं है, क्यों कि केवलीके कवलाहार-विषयक श्वेताम्बरोंकी मान्यताका इसमें (छठे पद्यकी टीकामें) खास तौरसे खडन किया गया है। और भी कई बातें ऐसी हैं जिनसे यह टीका किसी श्वेताम्बर आचार्यकृत प्रतीत नही होती। अब देखना चाहिये कि शेष—५ से १५ नम्बर तकके—विद्वानोंमेसे यह टीका कौनसे प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है अथवा बनाई हुई हो सकती है।—

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन्हीं प्रभाचद्राचार्य (न० ५) की बनाई हुई है जो प्रमेयकमलमार्तंड तथा न्यायकुमुदचद्रोदयके कर्ता हैं, और अपने इस विचारके समर्थनमें वे प्राय टीकाका निम्न वाक्य पेश करते है—

"तदलमतिप्रसगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपंचतः प्ररूपणात्।"

उनका कहना है कि इस वाक्यके द्वारा टीकाकारने, केवलिकवलाहार-विषयक प्रकृत प्रकरणको सकोचते हुए, उसके विस्तृत कथनको अपने ही बनाये हुए 'प्रमेयकमलमार्तंड' तथा 'न्यायकुमुदचद्रोदय' नामके ग्रथोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। परन्तु इस वाक्यमें ऐसा कोई भी नियामक शब्द नहीं है जिससे यह निर्धारित किया जा सके कि टीकाकारने इसमें अपने ही बनाये हुए ग्रथोंका उल्लेख किया है। वाक्यका स्पष्ट आशय सिर्फ इतना ही है कि 'प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचन्द्र (चन्द्रोदय) में प्रकृत विषयका विस्तारके साथ प्ररूपण होनेसे यहाँ उसका और अधिक कथन देनेकी जरूरत नहीं है,—जो दिया गया है उसी पर सतोष किया जाता है'—उसमें ऐसा कहीं भी कुछ बतलाया नहीं गया कि वह प्ररूपणा मेरे ही द्वारा हुई है अथवा मैं ही उन ग्रन्थोंका कर्ता हूँ। हाँ, यह ठीक है कि इस प्रकारके वाक्योंद्वारा एक ग्रन्थकार अपने किसी दूसरे ग्रन्थका भी उल्लेख अपने ग्रन्थमें कर सकता है परतु वैसे ही वाक्योंके द्वारा दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया जाता है और अक्सर होता आया है, जिसके दो एक नमूने नीचे दिये जाते हैं—

'तथाप्तमीमांसायां व्यासतः समर्थितत्वात् ।'

'*यथा चाभावैकान्तादिपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमाप्तमीमांसायां तथेह* प्रतिपत्तव्या इत्यलमिह विस्तरेण ।' —युक्त्यनुशासनटीका ।

'इत्यादिरूपेण कृष्णादिषड्लेश्यालक्षणं गोमट्टशास्त्रादौ विस्तरेण भणित-मास्ते तदत्र नोच्यते ।' —पचास्तिकायटीका जयसेनीया ।

ऐसी हालतमे, विना किसी प्रवल प्रमाणकी उपलब्धिके, उक्त वाक्य मात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि यह टीका और उक्त दोनों ग्रंथ एक ही व्यक्तिके वनाये हुए हैं ।

इस टीकामें एक स्थानपर—'वरोपलिप्सया' पद्यके नीचे ये वाक्य पाये जाते हैं—

"नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेव यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु शासनसक्तदेवता-त्वेन तासां तत्करोति तदा न म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वर-मयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्वि-घ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारापूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ।"

टीकाके इस अशको लेकर दूसरे कुछ विद्वानोंका खयाल है कि यह टीका उन प्रभाचद्राचार्यकी वनाई हुई नहीं हो सकती जो प्रमेयकमलमार्तण्डादिक ग्रथों-के प्रणेता हैं। उनकी रायमे, इन वाक्योंद्वारा जो यह प्रतिपादन किया गया है कि 'रागद्वेषसे मलिन शासन देवताओंका पूजनविधानादिक उस हालतमें सम्य-ग्दर्शनकी मलिनताका–उसमें दोष उत्पन्न करनेका–हेतु नहीं होता जव कि वह विना किसी वरकी इच्छाके केवल उन्हें शासनभक्त देवता समझकर किया जाता है,' और साथ ही, यह वतलाया गया है कि 'वे शासनदेवता, दर्शनमें पक्ष-पात रखने–जैनधर्मके पक्षपाती होने–के कारण उन पूजनादिक करनेवाले श्रावकोंको विना मॉगे भी वर देते ही हैं, और यदि उनका पूजनादिक नहीं किया जाता किन्तु इष्टदेवताविशेष (अर्हन्तादिक) का ही पूजनादिक किया जाता है तो उस पूजनादिकसे इष्टदेवताविशेषके द्वारा शीघ्र ही निर्विघ्न रूपसे किसी फलकी सिद्धि उसी प्रकार नहीं हो पाती जिस प्रकार कि चक्रवर्तीके परिवारका पूजन न करने पर चक्रवर्तिके पाससे सेवकोंको फलकी प्राप्ति नहीं

होती,' वह सब कथन मूल ग्रथ तथा समीचीन आगमके विरुद्ध है और युक्ति-युक्त नहीं है।

प्रमेयकमलमार्तंडादिकके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानोंसे वे ऐसे कथनकी अथवा इस प्रकारके निर्बल युक्तिप्रयोगकी आशा नहीं रखते और इसी लिये उनका उप-र्युक्त खयाल है। इसमें सदेह नहीं कि टीकाका यह कथन बहुत कुछ आपत्तिके योग्य है और उसमें शासनदेवताओंका पूजन करनेपर फल-प्राप्तिकी जो बात कही गई है वह जैनसिद्धान्तोंकी तात्त्विक दृष्टिसे निरी गिरी हुई है और बिलकुल ही बच्चोंको बहकाने जैसी बात है। क्योंकि, चक्रवर्ति जिस प्रकार रागद्वेषसे मलिन होता है, परिमित परिवार रखता है, अपने परिवारके आदरसत्कारको देखकर प्रसन्न होता है, परिवारके लोगोंकी बात सुनता है—उनकी सिफारिश मानता है—और इच्छापूर्वक किसीका निग्रह-अनुग्रह करता है उसी प्रकारकी स्थिति अर्हन्तादिक इष्ट देवताओंकी नहीं है। उनमें चक्रवर्तिवाली बातें घटित नहीं होतीं—वे रागद्वेषसे रहित हैं, किसीकी पूजा या अवज्ञापर उनके आत्मामें प्रसन्नता या अप्रसन्नताका भाव जाग्रत नहीं होता, शासन देवता उनके साथमें कुटुम्बके तौर पर सम्बद्ध नहीं हैं, वे शासन देवताओंकी कोई सिफारिश नहीं सुनते और न स्वय ही इच्छापूर्वक किसीका निग्रह अथवा अनुग्रह किया करते हैं—उनके द्वारा फलप्राप्तिका रहस्य* ही दूसरा है। इनके सिवाय शासन-देवता अव्रती होनेके कारण, धार्मिक दृष्टिसे, व्रतियों (श्रावकों) द्वारा पूजे जानेकी क्षमता भी नहीं रखते, धर्मका पक्ष होनेसे उन्हें स्वय ही श्रावकोंकी—धर्ममें अपनेसे ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी—पूजा करनी चाहिये, न कि श्रावकोंसे अपनी पूजा करानी चाहिये। रही लौकिक वरप्राप्तिकी दृष्टिसे पूजा, उसे टीकाकार भी दूषित ठहराते ही हैं, फिर किस दृष्टिसे उनका पूजन किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता। यदि साधर्मीपनेकी दृष्टिसे अथवा जैनधर्मका पक्ष रखनेकी वजहसे ही उन्हें पूजा जाय तो सभी जैनी पूज्य ठहरते हैं, शासन देवताओंकी पूजामें तब कोई विशेषता नहीं रहती। और यह बात तो बनती ही नहीं कि कोई शासनदेवता कर्मसिद्धान्तको उलट देने या कर्मसिद्धान्तके अनु-

---

* इस फलप्राप्तिके रहस्यका कुछ अनुभव प्राप्त करनेके लिये लेखकके लिखे हुए 'उपासनातत्त्व'को देखना चाहिये, जो जैन-ग्रथ-रत्नाकर कार्यालय वम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

कूल किसी व्यक्तिको उसके कर्मका फल न होने देनेका सामर्थ्य रखता हो, अथवा यों कहिये कि परम भक्तिभावसे की हुई अर्हन्तदेवकी पूजाके अवश्यभावी फलको, वह अपनी पूजा न होनेके कारण रोक सकता हो। इस लिये शासनदेवताओंकी पूजाके समर्थनमें उक्त युक्तिप्रयोग निर्बल तथा असमीचीन जरूर है और उसे समाजमें उस समय प्रचलित शासनदेवताओंकी पूजाका मूल ग्रथके साथ सामजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न मात्र समझना चाहिये। परतु किसीकी श्रद्धाका विषय ही यदि निर्बल हो तो उसे उसके समर्थनार्थ निर्बल युक्तियोंका प्रयोग करना ही पड़ेगा, और इस लिये केवल इन वाक्योंपरसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तडादिके कर्त्ता प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है, अथवा नहीं हो सकती। उसके लिये उक्त आचार्य महोदयके माने हुए ग्रंथों (प्रमेयकमलमार्तडादिक) परसे यह दिखलानेकी जरूरत है कि उनके विचार इस शासनदेवताओंकी पूजाके विरुद्ध थे अथवा ग्रथके साहित्यकी जाँच, आदि दूसरे मार्गोंसे ही यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि यह टीका उन आचार्यकी बनाई हुई नहीं हो सकती। अभीतक ऐसी कोई बात सामने नहीं आई जिससे शासन देवताओंकी पूजाके विषयमें इन आचार्यकी श्रद्धा तथा विचारोंका कुछ हाल मालूम हो सके और इस लिये दूसरे मार्गोंसे ही अब इस बातके जाँचनेकी जरूरत है कि यह टीका उनकी बनाई हुई हो सकती है या कि नहीं।

प्रमेयकमलमार्तड और न्यायकुमुदचद्र भी, दोनों टीकाग्रथ हैं—एक श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्यके ‘परीक्षामुख’ सूत्रकी वृत्ति है तो दूसरा भट्टाकलकदेवके ‘लघीयस्त्रय’ ग्रथकी व्याख्या। इन टीकाओंका ‘रत्नकरण्डक’की इस टीकाके साथ जब मीलान किया जाता है तो दोनोमे परस्पर बहुत बड़ी असमानता पाई जाती है। एककी प्रतिपादनशैली—कथन करनेका ढग—और साहित्य दूसरेसे एकदम भिन्न है, दोनोंके आदि अन्तके पद्योंमे भी परस्पर कोई सादृश्य नहीं देखा जाता, रत्नकरण्डकटीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें प्रतिपादित विषयकी सूचनादि रूपसे कोई पद्य भी नहीं हैं, प्रमेयकमलमार्तडादिकमे साहित्यकी प्रौढता और अर्थगभीरतादिकी जो बात पाई जाती है वह इस टीकामे नहीं है, और यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि यह टीका विवेचनोंसे प्रायः शून्य है, जब कि प्रमेय कमलमार्तण्डादिक टीकाएँ प्राय प्रत्येक विषयके विवेचनोंको लिये हुए हैं और इस टीकाकी तरह शब्दानुवादका अनुसरण करनेवाली अथवा उसीपर अपना प्रधान लक्ष रखनेवाली नहीं हैं। दोनोंकी इस सब विभि-

मताका अच्छा अनुभव इन टीकाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे सहजहीमें हो सकता है और इस लिये यहाँपर इस विपयको अधिक तूल (विस्तार) देनेकी जरूरत नहीं है। जिन विद्वानोंने तुलनात्मक दृष्टिसे इन टीकाओंका अध्ययन किया है वे स्वय इस वातको स्वीकार करते हैं कि दोनोंमें परस्पर बहुत बड़ी असमानता है। पडित वशीधरजी शास्त्रीने भी, प्रमेयकमलमार्तंडका सम्पादन करते हुए, उसके 'उपोद्घात'मे लिखा है कि इस टीकाकी रचनातरंगभंगी प्रमेयकमलमार्तंडकी रचनातरंगभगीसे 'विसदृशी' है*—उसके साथ समानता अथवा मेल नहीं रखती। ऐसी हालतमें विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जब इन टीकाओंमें परस्पर इतनी अधिक असमानता पाई जाती है तो ये तीनों टीकाएँ एक ही व्यक्तिकी वनाई हुई कैसे हो सकती हैं, और साथ ही, इस वातका भी अनुभव कर सकते हैं कि यदि यह टीका उन्हीं प्रमेयकमलमार्तण्डा-दिके रचयिता जैसे प्रौढ विद्वानाचार्यकी वनाई हुई होती तो इसमें, प्रमेयकमल-मार्तंडादिक जैसी कोई खास खूवी अवश्य पाई जाती—इसमें कम से कम श्रावक-धर्मके अच्छे विवेचनको जरूर लिये हुए होती जिनसे वह इस समय प्राय शून्य प्रतीत होती है। और साथ ही, इसमें प्राय वे अधिकांश त्रुटियाँ भी न होतीं जिनका पहले कुछ दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

जहाँ तक हमने इस टीकाके साहित्यकी जाँच की है उस परसे हमें यह टीका इन प्रमेयकमलमार्तंडादिके कर्ता प्रभाचद्राचार्यकी वनाई हुई मालूम नहीं होती, इसकी रचना प्रमेयकमलमार्तंडादिकी रचनासे वहुत पीछे—कई शताब्दियोंके वाद—हुई जान पड़ती है। नीचे इसी वातको कुछ विशेप प्रमाणों-द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

१ इसी टीकामें एक स्थानपर—'नवपुण्यै प्रतिपत्तिः' इत्यादि पद्यके नीचे, 'सप्तगुणसमाहितेन' पदकी व्याख्याके अवसरपर, एक पद्य निम्न प्रकारसे उद्धृत पाया जाता है—

---

* यथा—'रत्नकरण्डकाभिधस्य श्रीसामन्तभद्रीयश्रावकाचारस्य वृहत्स्वयभूस्तोत्रस्य, समाधिशतकस्य चोपरि विवरणानि श्रीप्रभाचन्द्रेणैव विनिर्मितानि सन्ति किन्तु तेषा प्रणेता स एवापरो वा प्रभाचन्द्रस्तदनन्तरलब्धजन्मेति न पार्यतेऽवधारयितुमल तथापि प्रमेयकमलमार्तण्डापेक्षया तद्वृत्तीना रचनातरङ्गभङ्गी विसदृशीति वक्तुमुत्सहे।'

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमाशक्तिः ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥"
"इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दानं दातव्यं ।"

यह पद्य, जिसमें दातारके सप्तगुणोंका उल्लेख है, और जिसके अनन्तर ही उक्त टीकावाक्यद्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि 'इन सप्त गुणोंसे युक्त दातारके द्वारा दान दिया जाना चाहिये,' यशस्तिलक ग्रथके ४३ वे 'कल्प' का पद्य है। यशस्तिलक ग्रथ, जिसे 'यशोधरमहाराजचरित' भी कहते हैं सोमदेवसूरिका बनाया हुआ है और शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ है। इससे यह टीका 'यशस्तिलक' से बादकी अथवा यों कहिये कि प्रमेयकमलमार्तडसे प्राय अढ़ाईसौ वर्षसे भी पीछेकी बनी हुई ऐसा कहनेमें कोई सकोच नहीं होता।

२ 'दु श्रुति' अनर्थदण्डका स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले 'आरभसंग' नामक पद्यकी टीकाका एक अश इस प्रकार है—

"आरंभश्च कृष्यादिः सगश्च परिग्रह तयोः प्रतिपादनं वार्ता नीतौ विधीयते 'कृषिः पशुपाल्य वाणिज्यं च वार्ता' इत्यभिधानात् ।

इसमें 'वार्ता'का जो लक्षण ग्रथान्तरसे उद्धृत किया है और जिसके उद्धरणकी बातको 'इत्याभिधानात्' पदके द्वारा सूचित भी किया है वह 'नीतिवाक्यामृत' ग्रथके 'वार्तासमुद्देश' का प्रथम सूत्र है। 'नीतौ विधीयते' इस वाक्यसे भी नीतिग्रथको सूचित करनेकी ध्वनि निकलती है। यह 'नीतिवाक्यामृत' उन्हीं सोमदेवाचार्यका बनाया हुआ है जो यशस्तिलकके कर्ता हैं और इसकी रचना यशस्तिलक ग्रथसे भी पीछे हुई है, क्योंकि इसकी प्रशस्तिमे 'यशोधरमहाराजचरित' के रचे जानेका उल्लेख है। इससे यह टीका 'नीतिवाक्यामृत' से भी बादकी बनी हुई है।

---

१ इसके स्थानपर 'सत्य' पाठ गलतीसे मुद्रित हो गया मालूम होता है, अन्यथा इन गुणोंमें सत्यगुणका समावेश नहीं है।

२ 'यत्रैते' ऐसा भी पाठान्तर देखा जाता है।

३ 'पशुपालन' यह पाठान्तर है और यही ठीक मालूम होता है।

४ 'वणिज्या' यह पाठान्तर है और यह भी ठीक जान पड़ता है।

३. ‘ नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः ’ इत्यादि दानस्वरूपप्रतिपादक पद्यकी टीकामें, ‘ दान दातव्यं कैः कृत्वा नवपुण्यैः ’ इन शब्दोंके साथ (अनन्तर) नीचे लिखी गाथा उद्धृत की गई है, और उसके बाद ही ‘एतैर्नवाभि पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ’ ये शब्द दिये हैं, और इस तरहपर ‘ नवपुण्यैः ’ पदकी व्याख्या की गई है—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं ॥

यह गाथा वसुनन्दि आचार्यके उस ‘ उपासकाध्ययन ’ शास्त्रकी है जिसे ‘ वसुनन्दि-श्रावकाचार ’ भी कहते हैं और उसमें न० २२४ पर पाई जाती है। जान पड़ता है टीकाकारने इसमें मूलके अनुरूप ही ‘ नवपुण्य ’ सज्ञाका प्रयोग देखकर इसे यहाँ पर उद्धृत किया है, अन्यथा, वह यशस्तिलकके ‘ श्रद्धा तुष्टि ’ इत्यादि पद्यको उद्धृत करते हुए उसके साथके दूसरे ‘ प्रतिग्रहोच्चासन’* पद्यको भी उद्धृत कर सकता था । परतु उसमें इन ९ बातोंको ‘नवोपचार ’ सज्ञा दी है जिसका यहाँ ‘ नवपुण्यै. ’ पदकी व्याख्यामें मेल नहीं था । इसके सिवाय और भी कुछ विशेषता थी । इस लिये टीकाकारने जानबूझकर उसे छोड़ा और उसके स्थान पर इस गाथाको देना पसद किया है। अस्तु, अब देखना चाहिये कि जिन वसुनन्दि सैद्धान्तिकके ग्रथकी यह गाथा है वे कब हुए हैं। वसुनन्दिने मूलाचार ग्रथकी अपनी ‘ आचारवृत्ति ’ टीकाके आठवे परिच्छेदमें, कायोत्सर्गके चार भेदोंका वर्णन करते हुए, ‘ त्यागो देहममत्वस्य तनूत्स्रतिरुदाहृता . ..इत्यादि पॉच श्लोक ‘ उक्त च’ रूपसे दिये हैं और उनके अन्तमें लिखा है कि ‘ उपासकाचारे उक्तमास्ते ’ अर्थात्, यह कथन ‘ उपासकाचार ’ का है। यह उपासकाचार ग्रथ जिसके आठवें परिच्छेदमें उक्त पाँचों श्लोक उसी क्रमको लिये न० ५७ से ६१ तक पाये जाते हैं, श्रीअमितगति आचार्यका बनाया हुआ है, जो विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् थे और जिन्होंने वि० स० १०७० में अपने ‘ धर्मपरीक्षा ’ ग्रथको बनाकर समाप्त किया है। ‘ उपासकाचार ’ भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ ग्रथ है । इससे वसु-

---

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विद्याविशुद्धिश्च नवोपचारा· कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥

नन्दि आचार्य प्रायः वि० सं० १०७० के वाद हुए हैं, इस कहनेमे कुछ भी दिक्कत नहीं होती। परंतु कितने समय वाद हुए हैं, यह वात अभी नहीं कही जा सकती। हॉ, इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे प० आशाधरजीसे पहले हुए हैं; क्योंकि प० आशाधरजीने अपने 'सागरधर्मामृत' की स्वोपज्ञ टीकामे, जो वि० स० १२९६ में बन कर समाप्त हुई है, वसुनन्दि श्रावकाचारकी 'पंचुंबरसहियाई' नामकी गाथाका उल्लेख करते हुए लिखा है—

'इति वसुनन्दिसैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं । तन्मतेनैव व्रतप्रतिमां बिभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात्तद्यथा—'पव्वेसु इत्थिसेवा...... ।'

इसके सिवाय, 'अनगारधर्मामृत' की टीकामें, जो वि० स० १३०० में बनकर समाप्त हुई है, वसुनन्दिकी आचारवृत्तिका भी आशाधरजीने निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओ णद जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं दृष्टव्यं ।'

ऐसी हालतमें वसुनन्दि आचार्य वि० स० १०७० और १२९६ के मध्यवर्ती किसी समयके–विक्रमकी प्राय १२ वीं या १३ वीं शताब्दीके–विद्वान् होने चाहिये । आपने अपने श्रावकाचारमे जो गुरुपरम्परा दी है उससे मालूम होता है कि आप 'नेमिचद्र' के शिष्य और 'नयनन्दी' के प्रशिष्य थे, और नयनदी 'श्रीनदी'के शिष्य थे । श्रीनदीको दिये हुए कुछ दानोंका उल्लेख गुडिगेरिके टूटे हुए एक कनडी शिलालेख* में पाया जाता है, जो शक सवत् ९९८ का लिखा हुआ है, और इससे मालूम होता है कि 'श्रीनदी' वि० स० ११३३ में भी मौजूद थे । ऐसी हालतमे आपके प्रशिष्य (नेमिचद) के शिष्य 'वसुनन्दी'का समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका प्राय अन्तिम भाग और सभवत १३ वी शताब्दीका प्रारम्भिक भाग भी अनुमान किया जाता है और इस लिये यह टीका जिसमे वसुनन्दीके वाक्यका उल्लेख पाया जाता है विक्रमकी १३ वीं शताब्दीकी—प्रमेयकमलमार्तडसे प्राय चारसौ वर्ष पीछेकी—वनी हुई जान पडती है और कदापि प्रमेयकमलमार्तडादिके कर्ता प्रभाचदाचार्यकी वनाई हुई नहीं हो सकती ।

---

* देखो, इडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द १८, पृष्ठ ३८, Ind Ant , XVIII, P. 38

४. 'धर्मामृत सतृष्णः' इत्यादि पद्यकी टीकामे, 'ज्ञानध्यानपर' पदकी व्याख्या करते हुए, नीचे लिखे दो पद्य उद्धृत किये गये हैं—

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

ये दोनों पद्य 'पद्मनन्दि–उपासकाचार' के पद्य हैं, जो 'पद्मनन्दिपचविंशति' में संगृहीत भी पाया जाता है। इस उपासकाचारके कर्ता श्रीपद्मनन्दि आचार्य प० आशाधरजीसे पहले हो गये हैं।* उन्हें विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान् समझना चाहिये। वे उन शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे जिनका देहावसान शक स० १०४५ (वि० स० ११८०) में हुआ है+। इनका बनाया हुआ 'एकत्वसप्तति' नामका भी एक ग्रथ है जो 'पद्मनदिपचविंशतिका'में 'एकत्वाशीति' के नामसे सगृहीत है×। 'नियमसार'की पद्मप्रभ-मलधारिदेव-विरचित टीकामें इस ग्रथके कितने ही पद्य, 'तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ' इस वाक्यके साथ, उद्धृत हैं और वे सब उक्त 'एकत्वाशीति' में ज्योंके त्यों पाये जाते हैं। 'एकत्वाशीति'के निम्न पद्यमें भी इस ग्रथका नाम 'एकत्वसप्तति' ही दिया है—

एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चः
श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टा—
मेतां लभेत स नर· परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥

जान पड़ता है 'एकत्वसप्तति'की पृथक् प्रतियोंमें कोई विशेष प्रशस्ति भी लगी हुई है जिसमें 'निम्ब' सामन्तको 'सामन्तचूडामणि' के तौर पर उल्लेखित किया है। इसीसे, 'इस्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेलगोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द दूसरी) के द्वितीय सस्करण (सन् १९२३) की प्रस्तावना-

---

* प० आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकाके ९ वें अध्यायमें, 'अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमाधिजगे' इस वाक्यके साथ आपके 'म्लाने क्षालनत' इत्यादि पद्यको उद्धृत किया है जो पद्मनन्दिपचविंशतिके अन्तर्गत 'यत्याचारधर्म' नामके प्रकरणमें पाया जाता है।

+ देहावसानके इस समयके लिये देखो श्रवणबेलगोलका शिलालेख न० ४३ (११७)।

× देखो, गाधी वहालचद कस्तूरचद धाराशिवकी ओरसे शक स० १८२० में प्रकाशित 'पद्मनदिपचविंशति'।

में, प्राक्तन–विमर्ष–विचक्षण राव बहादुर मिस्टर आर. नरसिंहाचार एम. ए. लिखते हैं कि—

He (Nimba Sâmanta) is praised as the crest jewel of Sâmantas in the Ekatvasaptati of Padmnandi a deciple of Subhachandra who died in 1123

अर्थात्—जिन शुभचन्द्रका ईसवी सन् ११२३ (शक स० १०४५ वि० स० ११८०) में देहान्त हुआ है उनके शिष्य पद्मनन्दिकी वनाई हुई 'निम्व' सामन्तकी ' सामन्त–चूडामणि ' के तौर पर प्रशसा की गई है।

इससे पद्मनदिका उक्त उपासकाचार वि० सं० ११८० के करीवका वना हुआ मालूम होता है। उसके वाक्योंका उल्लेख करनेसे भी यह टीका विक्रम की १३ वीं शताब्दीकी बनी हुई सिद्ध होती है। विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी ग्रथमे इसका उल्लेख मिलता भी नहीं।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई सदेह नहीं रहता कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तंडादिके रचयिता प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई नहीं है और न हो सकती है। इसमें केवलीके कवलाहार विषयका कुछ कथन जरूर प्रमेयकमलमार्तंड और न्यायकुमुदचद्रके आधारपर उनके कुछ वाक्योंको लेकर किया गया है और इसीसे विशेष कथनके लिये उन ग्रथोंको देखनेकी प्रेरणा की गई है। परन्तु उनके उल्लेखसे टीकाकारका यह आशय कदापि नहीं है कि वे ग्रथ उसीके बनाये हुए हैं।

जब कि यह टीका विक्रमकी १३ वी शताब्दीकी—सभवत इस शताब्दीके मध्यकालकी—वनी हुई पाई जाती है तब यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि यह टीका उन दूसरे प्रभाचद्र नामके आचार्योंकी भी वनाई हुई नहीं है जिनका उल्लेख ऊपर ६ से १० नम्वर तक किया गया है और जो १३ वीं शताब्दीसे पहलेके विद्वान् हैं। अव देखना चाहिये कि शेष ११ से १५ नम्वर तकके विद्वानोंमे यह कौनसे प्रभाचद्राचार्यकी वनाई हुई प्रतीत होती है। १४ वे नम्वरके रक्ताम्बर प्रभाचद्रकी वनाई हुई तो यह प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें आचारभ्रष्टताको पुष्ट करनेवाली कोई खास वात नहीं देखी जाती। ११ वीं प्रतिमावाले उत्कृष्ट श्रावकके कथनमें, 'चेलखण्डधरः' * पदकी व्याख्या करते हुए, यह तक भी नहीं लिखा कि वह वस्त्र ' रक्त ' होना चाहिये, और जिसका

* इस पदकी व्याख्यामे ' कोपीनमात्रवस्त्रखण्डधारक आर्यलिंगधारीत्यर्थ ' इतना ही लिखा है।

वहाँ सहजहीमें विधान किया जा सकता था; जैसा कि प० मेधावीने, अपने 'धर्मसग्रहश्रावकाचार' में 'रक्तकौपीनसंग्राही' पदके द्वारा उसका विधान कर दिया है। यदि यह कहा जाय कि वे प्रभाचद्र तो सं० १३०५ में ही भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर हुए थे, उससे पहले तो वे भ्रष्ट नहीं थे, और यह टीका सं० १३०० से भी पहलेकी बनी हुई है, इस लिये भ्रष्ट होनेसे पहलेकी यह उनकी कृति हो सकती है, सो ऐसे होनेकी संभावना अवश्य है, परंतु एक तो इन प्रभाचद्रके गुरु अथवा पट्टगुरुका नाम मालूम न होनेसे इनकी पृथक् सत्ताका कुछ बोध नहीं होता—'विद्वज्जनबोधक' में दिल्लीके उस बादशाहका नाम तक भी नहीं दिया जिसकी आज्ञासे इन्होंने रक्तवस्त्र धारण किये थे अथवा जिसकी इन्हें खास सहायता प्राप्त थी। हो सकता है कि उक्त १३०५ सवत् किसी किंवदन्तीके आधारपर ही लिखा गया हो और वह ठीक न हो। दूसरे, भ्रष्ट होनेके बाद भी वे अपनी पूर्व कृतिमें, अपने तात्कालिक विचारोंके अनुसार, कितना ही उलट फेर कर सकते थे और वह इस टीकाकी अधिकाश प्रतियोंमें पाया जाता। परतु ऐसा नहीं है, इस लिये यह टीका उन भ्रष्ट हुए रक्ताम्बर प्रभाचद्रकी बनाई हुई मालूम नहीं होती। बाकीके चार प्रभाचद्रोंमेंसे ११ वें और १३ नम्बरके प्रभाचद्र तो दक्षिण भारतके–कर्णाटक देशके–विद्वान् जान पड़ते हैं और वे दोनों एक भी हो सकते हैं, क्योंकि १३ वें नम्बरवाले प्रभाचद्रके गुरुका नाम मालूम नहीं हो सका–सभव है कि वे 'नयकीर्ति'के शिष्य ही हों। रहे १२ वें और १५ वें नम्बरवाले प्रभाचद्र, वे उत्तर भारतके विद्वान् थे और वे भी दोनों एक व्यक्ति हो सकते हैं, क्योंकि १२ वें नम्बरवाले धारानिवासी प्रभाचद्रके गुरुका भी नाम मालूम नहीं हो सका–सभव है कि वे अजमेरके * पट्टाधीश 'रत्नकीर्ति' के पट्टशिष्य ही हों, और यह भी सभव है कि धारामें वे किसी दूसरे आचार्यके शिष्य अथवा पट्टशिष्य रहे हों, वहाँ अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की हो और बादको अजमेरकी गद्दीके भी किसी तरह पर अधीश्वर बन गये हों। और इसीसे आप अपना पूर्वप्रसिद्धि-मय परिचय देनेके लिये उस वक्तसे अपने नामके साथ 'धारानिवासी' विशेषण लिखने लगे हों।

---

* रत्नकीर्ति अजमेरके पट्टाधीश थे, इसके लिये देखो इण्डियन ऐंटिक्वेरीमें प्रकाशित नन्दिसघकी पट्टावलीके आचार्योंकी वह नामावली जो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमें प्रकाशित हुई है।

इस पिछली बातकी सभावना अधिक पाई जाती है। धारामे बराबर उस समय विद्वान् आचार्योंका सद्भाव रहा है। प० आशाधरजीने धारामें रहते हुए, धर-सेनाचार्यके शिष्य महावीराचार्यसे जैनेन्द्रव्याकरणादि ग्रथोंको पढा था। आश्चर्य नहीं जो ये महावीराचार्य ही इन धारानिवासी प्रभाचद्रके गुरु हों अथवा वह गुरुत्व उनके किसी शिष्यको प्राप्त हो। अस्तु। हमारी रायमें यह टीका १५ वें नम्बरके उन प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई मालूम होती है जिन्हें 'गुर्वावली'में पूज्यपादीय शास्त्रकी व्याख्या करनेवाले लिखा है। श्रीपूज्यपाद आचार्यके 'समाधितत्र' ग्रथपर, जिसे 'समाधिशतक' भी कहते हैं, प्रभाचद्राचार्यकी एक टीका मिलती है और वह मराठी अनुवाद सहित सन् १९१२ मे प्रकाशित भी हो चुकी है। उस टीकाके साथ जब इस टीकाका मीलान किया जाता है तब दोनोंमे बहुत बड़ा सादृश्य पाया जाता है। दोनोंकी प्रतिपादनशैली, कथन करनेका ढग और साहित्यकी दशा एक जैसी मालूम होती है। वह भी इस टीकाकी तरह प्राय शब्दानुवादको ही लिये हुए है। दोनोके आदि अन्तमें एक एक ही पद्य है और उनकी लेखनपद्धति भी अपने अपने प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे समान पाई जाती है। नीचे इस सादृश्यका अनुभव करनेके लिये कुछ उदाहरण नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं—

(१) दोनों टीकाओंके आदि मगलाचरणके पद्य इस प्रकार हैं—

सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवंद्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोत वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीर ॥ १ ॥

—समाधिशतकटीका।

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिन प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।
निबन्धनं रत्नकरण्डकं पर करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

—रत्नकरण्डकटीका।

ये दोनों पद्य इष्ट देवको नमस्कारपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हैं, दोनोंमे प्रकारान्तरसे ग्रंथकर्ता * और मूल ग्रथको भी स्तुतिका विषय बनाया गया है और उनके अप्रतिमप्रबोध–निखिलात्मबोधन तथा निर्वाणमार्ग—

---

* पहले पद्यमें 'जिनेन्द्र' पदके द्वारा ग्रथकर्ताका नामोल्लेख किया गया है, क्योंकि पूज्यपादका 'जिनेन्द्र' अथवा 'जिनेन्द्रबुद्धि' भी नामान्तर है। और 'विबुधेन्द्रवद्य' पद पूज्यपादनामका भी द्योतक है।

अखिलकर्मशोधनं, इत्यादि कुछ विशेषण भी, अर्थकी दृष्टिसे परस्पर मिलते जुलते हैं।

(२) मगलाचरणके बाद दोनों टीकाओंके प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार हैं—

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वाणो येनात्मेत्याह।

—समाधिशतकटीका।

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्र कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरि-समाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।

—रत्नकरण्डकटीका।

इन दोनों प्रस्तावनावाक्योंमें कितनी अधिक समानता है उसे बतलानेकी भी जरूरत नहीं है। वह स्वत स्पष्ट है।

(३) समाधिशतककी टीकामें उसके प्रथम पद्यका साराश इस प्रकार दिया है—

अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपायः उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम्।

और रत्नकरण्डककी टीकामें प्रथम पद्यका साराश इस प्रकार दिया हुआ है—

अत्र पूर्वार्द्धेन भगवत. सर्वज्ञतोपाय उत्तरार्द्धेन च सर्वज्ञतोक्ता।

इससे स्पष्ट है कि दोनों टीकाओंके कथनका ढग और शब्दविन्यास एक जैसा है।

(४) दोनों टीकाओंमें 'परमेष्ठी' पदकी जो व्याख्या की गई है वह एक ही है। यथा—

परमे इन्द्रादिवद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी स्थानशील।

—समाधिशतकटीका।

परमे इन्द्रादीनां वंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी।

—रत्नकरण्डकटीका।

(५) दोनों टीकाओंके अन्तिम पद्य इस प्रकार हैं—

येनात्मा वहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिन· समस्तविषयः श्रीपादपूज्योऽमलो
भव्यानन्दकर समाधिशतकः श्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥

—समाधिशतकटीका।

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिप श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः॥

—रत्नकरण्डकटीका।

इन दोनों पद्योंमें, अपने अपने ग्रथके प्रतिपाद्य विषयका साराश देते हुए, जिस युक्तिसे जिनदेव, ग्रथकार (श्रीपादपूज्य, समन्तभद्रमुनि), ग्रथ (समाधिशतक, रत्नकरण्डक) और टीकाकार (प्रभेन्दु=प्रभाचद्र) को आशीर्वाद दिया गया है वह दोनोंमें बिलकुल एक ही है, दोनोकी प्रतिपादनशैली अथवा लेखनपद्धतिमे जरा भी भेद नहीं है, छद भी दोनोंका एक ही है और दोनोंमें येन, जिन , श्रीमान्, प्रभेन्दु., सः, जीयात्, पदोंकी जो एकता और कीर्तितः प्रकटितः आदि पदोंके प्रयोगकी जो समानता पाई जाती है वह मूल पद्योंपरसे प्रकट ही है, उसे और स्पष्ट करके बतलानेकी कोई जरूरत नहीं है।

सादृश्यविषयक इस सब कथन परसे पाठक सहजहीमे अनुमान कर सकते हैं कि ये दोनों टीकाएँ एक ही विद्वानकी बनाई हुई हैं और वे विद्वान् वही प्रतीत होते हैं जिन्हें, उक्त गुर्वावलीमें ' पूज्यपादीयशास्त्रव्याख्याविख्यातकीर्ति विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचद्र। इन प्रभाचद्रके पट्टारोहणका जो समय (वि० स० १३१०) पट्टावलीमे दिया है यदि वह ठीक हो तो, ऐसी हालतमें, यह कहना होगा कि यह टीका उन्होंने इस पट्टारोहणसे पहले धारामें किसी दूसरे आचार्यके पद पर रहते हुए बनाई है, और इसकी रचना या तो वि० स० १२९२ के बाद और १३०० से पहले, जयसिंह द्वितीयके राज्यमें, हुई है और या उससे भी कुछ पहले जयसिंहके पिता देवपालदेवके राज्यमें हुई जान पड़ती है, जिसके राज्यका * पता वि० स० १२७५ से १२९२ तक चलता है। प० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० स० १२९६ में बनाकर समाप्त की है, उसमे इस टीकाका कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं है परतु वि० स० १३०० मे बनी हुई आपकी अनगारधर्मामृतकी टीकाके पिछले भागमें इसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। इस परसे यह कहा जा सकता है कि स० १२९६ से पहले या तो यह टीका

* देखो, ' भारतके प्राचीन राजवश, ' प्रथम भाग, पृ० १६०,१६१।

वनी ही नहीं और या वह प० आशाधरजीको देखनेको नहीं मिली । अन्यथा, वे इसका उल्लेख अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें जरूर करते—कमसे कम इस टीकाकी शासनदेवताओंकी पूजावाली युक्तिको तो अवश्य ही स्थान देते, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है,–परन्तु उक्त पूजाके समर्थनमे उसे स्थान देना तो दूर रहा, उन्होंने उलटा पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिये भी शासन देवताओंकी पूजाका निषेध किया है और साफ लिख दिया है कि वह आपदाओंसे आकुलित (बेचैन) होने पर भी कभी उनकी पूजा नहीं करता, किन्तु पचपरमेष्ठिके चरणोंमें ही एक मात्र दृष्टि रखता है, यथा--

"परमेष्टिपदैकधीः परमेष्ठिपदेषु अर्हदादिपंचगुरुचरणेषु एका धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य । आपदाकुलितोपि दर्शनिकस्तन्निवृत्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते।"

इसके सम्वधमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि शासन देवताओंकी पूजावाली युक्तिका उल्लेख न करना इस बातका कोई नियामक अथवा लाजिमी नतीजा नहीं है कि यह टीका आशाधरजीको उस वक्त देखनेको नहीं मिली थी; क्योंकि वादमें देखनेको मिल जाने पर भी उन्होंने अनगारधर्मामृतकी टीकामें उस युक्तिका कोई उल्लेख नहीं किया, वल्कि नीचे लिखे पद्यकी व्याख्या करते हुए शासन देवताओंको कुदेवोंमें परिगणित करके उन्हें श्रावकोंके द्वार अवन्दनीय (वन्दना किये जानेके अयोग्य) ठहराया है—

श्रावकेनापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः ।
कुलिंगिन कुदेवाश्च न वंद्याः सोपि संयतैः ॥

टीका— ......कुलिंगिनस्तापसादय· पार्श्वस्यादयश्च । कुदेवा रुद्रादय· शासनदेवतादयश्च । ..

ऐसी हालतमें यही खयाल होता है कि आशाधरजीने उक्त युक्तिको विलकुल ही नि सार तथा पोच और अपने मतव्यके विरुद्ध समझा है और इसी लिये अपनी किसी भी टीकामें उसे उद्धृत नहीं किया । परतु फिर भी सागारधर्मामृतकी टीकामें इस टीकाका कुछ भी उल्लेख न होना–कमसे कम मतान्तरको प्रदर्शित करनेके तौर पर ही यह भी न दिखलाया जाना कि प्रभाचन्द्रने, दूसरे आचार्योंके मतसे एक दम भिन्न, इस टीकामें, ११ प्रतिमाओंको सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकके ११ भेद वतलाया है–कुछ सदेह जरूर पैदा करता है। और इस लिये आश्चर्य नहीं जो यह टीका वि० स० १२९६ से पहले वन ही न पाई हो । अथवा वन जाने और देखनेको मिल जाने पर यह भी हो सकता है कि

धाराके इलाकेमें रहते हुए धाराके भट्टारकोंसे उपकृत और प्रभावित होनेके कारण उनकी इस तात्कालिक कृतिकी किसी गलत बातको लेकर उसका प्रत्यक्ष रूपसे विरोध करना आशाधरजीने अपने शिष्टाचार तथा नीतिके विरुद्ध समझा हो। परंतु कुछ भी सही, १२९६ से पहले ही या पीछे दोनों ही हालतोंमे यह टीका प० आशाधरजीके समयकी बनी हुई प्रतीत होती है।

हॉ यदि 'समाधिशतक' की उक्त टीका रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य या धारा-निवासी प्रभाचद्रकी बनाई हुई न हो, अथवा रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य प्रभाचद्रके सम्बंधमें गुर्वावली और पट्टावलीका यह उल्लेख ही गलत हो कि उन्होंने पूज्य-पादीय शास्त्रकी व्याख्या करके प्रसिद्धि प्राप्त की थी, तो फिर यह टीका 'नय-कीर्ति'के शिष्य ११ वें नम्बरके प्रभाचद्र, अथवा 'श्रुतमुनि'के विद्यागुरु १२ वें नम्बरके प्रभाचद्र की बनाई हुई होनी चाहिये। दोनोंका समय भी प्राय एक ही है। अस्तु, यह टीका इन चारों प्रभाचद्रमेंसे चाहे जिसकी बनाई हुई हो परन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, इसमे तो कोई सदेह ही नहीं कि यह विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहलेकी बनी हुई नहीं है।

यहॉपर इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि डाक्टर भाण्डारकर तथा पिटर्सन साहबकी बावत यह कहा जाता है कि उन्होंने इस टीकाको वि० स० १३१६ मे होनेवाले प्रभाचद्रकी बनाई हुई लिखा है। यद्यपि, इन विद्वानोंकी वे रिपोर्टें हमारे सामने नहीं हैं और न यही मालूम हो सका कि इन्होंने उक्त प्रभाचद्रको कौनसे आचार्यका शिष्य लिखा है जिससे विशेप विचारको अवसर मिलता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि उनके इस लिखनेका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि उन्होंने इस टीकाको वि० स० १३१६ की बनी हुई लिखा है अथवा इसके द्वारा यह सूचित किया है कि वि० स० १३१६ से पहलके वर्षोंमें इन प्रभाचद्रका अस्तित्व था ही नही। हो सकता है कि इन प्रभाचद्रके बनाये हुए किसी ग्रथकी प्रशस्तिमे उसके रचे जानेका स्पष्ट समय स० १३१६ दिया हो और उसीपरसे उन्हें १३१६ मे होनेवाले प्रभाचद, ऐसा नाम दिया गया हो। १५ वे नम्बरके प्रभाचद्र, जिनकी बावत इस टीकाके कर्ता होनेका विशेप अनुमान किया गया है, वि० स० १३१६ में मौजूद थे ही। १२ वे और १३ वें नम्बरके प्रभाचद्रकी भी उस समय मौजूद होनेकी सभावना पाई जाती है। ऐसी हालतमे यहॉ जो कुछ निर्णय किया गया है उसमें उनके उस लिखनेसे कोई भेद नही पडता। अस्तु।

आभार और निवेदन ।

अब इस प्रस्तावनाको यहीं पर समाप्त करते हुए, हम उन सभी विद्वानोंका हृदयसे आभार मानते हैं जिनके ग्रंथों, लेखों अथवा पत्रोंसे हमें इस 'प्रस्तावना' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र' नामक ऐतिहासिक निबन्ध (इतिहास) के लिखनेमें कुछ भी सहायता मिली है। साथ ही, यह भी प्रकट कर देना उचित समझते हैं कि इस प्रस्तावनादिके लिखे जानेका खास श्रेय ग्रंथमालाके सुयोग्य मंत्री सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीको ही प्राप्त है जिनकी सातिशय प्रेरणासे हम इस कार्यमें प्रवृत्त हुए और उसीके फलस्वरूप यह प्रस्तावना तथा इतिहास लेकर पाठकोंके सामने उपस्थित हो सके हैं। प्रस्तावनाको प्रारंभ किये हुए वर्ष भरसे भी ऊपर हो चुका, इस बीचमें बीमारी, और तज्जन्य निर्बलताके अतिरिक्त साधनसामग्रीकी विरलता तथा ऐतिहासिक प्रश्नोंकी जटिलता आदिके कारण कई बार इसे उठाकर रखना पड़ा और साधन सामग्रीको जुटाने आदिके कार्यमें लगना पड़ा। बीस बाईस दिनतक देहली ठहरकर एपिग्रेफिया कर्णाटिका (Epigraphia Carnatika) की भी बहुतसी जिल्दे देखी गई, और अनेक विद्वानोंसे खास तौर पर पत्रव्यवहार भी किया गया। प्रस्तावनाको हाथमें लेते हुए यह नहीं समझा गया था कि यह सब कार्य इतना अधिक परिश्रम और समय लेगा अथवा इसे इतना विशाल रूप देना पड़ेगा। उस समय साधारण तौर पर यही खयाल कर लिया गया था कि दो तीन महीनेमें ही हम इसे पूरा कर सकेंगे। और शायद इसी आशा पर प्रेमीजीने ग्रंथके छप जानेका उस समय नोटिस भी निकाल दिया था, जिसकी वजहसे उनके पास ग्रंथकी कितनी ही मांगें आईं और लोगोंने उसके भेजनेके लिये उनपर बार बार तकाजा किया। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी प्रेमीजी इधरके आशातीत और अनिवार्य विलम्बके कारण हताश नहीं हुए और न लोगोंके बार बार लिखने तथा तकाजा करनेसे तंग आकर, उन्होंने बिना प्रस्तावनादिके ही इस ग्रंथको प्रकाशित कर देना उचित समझा, बल्कि उसके फार्मोंको अबतक वैसे ही छपा हुआ रक्खा रहने दिया और हमें वे बराबर प्रेमभरे शब्दोंमें प्रस्तावनादिको यथासंभव शीघ्र पूरा करनेकी प्रेरणा करते रहे, नतीजा जिसका यह हुआ कि आज वे अपनी उस प्रेरणामें सफल हो सके हैं। यदि प्रेमीजी इतने अधिक धैर्यसे काम न लेते तो आज यह प्रस्ता-

बना और इतिहास अपने वर्तमान रूपमे पाठकोंके सामने उपस्थित हो सकते, इसमें सदेह ही है। और इसी लिये हम इनके लिखे जानेका खास श्रेय प्रेमीजीको ही देते हैं। आपकी प्रेरणाको पाकर हम स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् पुरुषोंका पवित्र इतिहास लिखने और उनके ग्रथादिकोंके विषयमें अपने कुछ विचारोंको प्रकट करनेमें समर्थ हो सके हैं, यही हमारे लिये आनदका खास विषय है और इसके वास्ते हम प्रेमीजीके विशेष रूपसे आभारी हैं। इस अवसर पर देहलीके सुप्रसिद्ध अनुभवी राजवैद्य पं० शीतलप्रसादजीका धन्यवाद किये विना भी हम नहीं रह सकते, जिन्होंने बड़े प्रेमके साथ हमें अपने पास रखकर निःस्वार्थ भावसे हमारी चिकित्सा की और जिनकी सच्चिकित्साके प्रतापसे हम अपनी खोई हुई शक्तिको पुन. प्राप्त करनेमें बहुत कुछ समर्थ हो सके हैं, और उसीका प्रथम फल यह कार्य है। इसमे सदेह नहीं कि हमारी वजहसे ग्रथके शीघ्र प्रकाशित न हो सकनेके कारण कुछ विद्वानोंको प्रतीक्षाजन्य कष्ट जरूर उठाना पड़ा है, जिसका हमें स्वयं खेद है और इसलिये हम उनसे उसके लिये क्षमा चाहते हैं। इसके सिवाय अनुसधान-प्रिय विद्वानोंसे हमारा यह भी निवेदन है कि इस प्रस्तावनादिके लिखनेमे यदि हमसे कहीं कुछ भूल हुई हो तो उसे वे प्रमाणसहित हमें लिख भेजनेका कष्ट जरूर उठाएँ। इत्यलम्।

सरसावा, जि० सहारनपुर
ता० १७–२–१९२५

जुगलकिशोर, मुख्तार।

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिने नमः ।

स्वामी समन्तभद्र ।

प्राक्कथन ।



जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें **भगवान्समन्तभद्र** स्वामीका आसन बहुत ऊँचा है। ऐसा शायद कोई ही अभागा जैनी होगा जिसने आपका पवित्र नाम न सुना हो, परंतु समाजका अधिकाश भाग ऐसा जरूर है जो आपके निर्मल गुणों और पवित्र जीवनवृत्तान्तोंसे बहुत ही कम परिचित है—बल्कि यों कहिये कि, अपरिचित, है अपने एक महान् नेता और ऐसे नेताके विषयमें जिसे '**जिनशासनका प्रणेता**'[1] तक लिखा है समाजका इतना भारी अज्ञान बहुत ही खटकता है। हमारी बहुत दिनोंसे इस बातकी बराबर इच्छा रही है कि आचार्यमहोदयका एक सच्चा इतिहास—उनके जीवनका पूरा वृत्तान्त—लिखकर लोगोंका यह अज्ञान भाव दूर किया जाय। परंतु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी हम अभी तक अपनी उस इच्छाको पूरा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सके।

१ देखो श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं० १०८ (नया नं० २५८)।

इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है । समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी वहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परतु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको मालूम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न होना बराबर हो रहा है । वह न तो अधिकारियों-के स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिये दी जाती है और इसलिये उसकी दिनपर दिन तृतीया गति (नष्टि) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है !

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं । एक[1] नामके कई कई और विद्वान् हो गये हैं, एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्ययादिके भेदसे कई[2] कई नाम अथवा उपनाम भी हुए है;

---

१ जैसे, ' पद्मनन्दि ' और ' प्रभाचन्द्र ' आदि नामोंके धारक वहुत से आचार्य हुए हैं । ' समन्तभद्र ' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई ' लघु ' या ' चिक,' कोई 'अभिनव', कोई ' गेरुसोप्पे, ' कोई ' भट्टारक ' और कोई ' गृहस्थ ' समन्तभद्र कहलाते थे । इन सबके समयादिका कुछ परिचय लेखककी लिखी हुई रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें, ' ग्रथपर सदेह ' शीर्षकके नीचे, दिया गया है । स्वामी समन्तभद्र इन सबसे भिन्न थे और वे वहुत पहले हो गये हैं ।

२ जैसे, ' पद्मनन्दि ' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम और बादको ' कोण्डकुन्दाचार्य ' यह उनका देशप्रत्यय नाम हुआ है; क्योंकि वे ' कोण्डकुन्दपुर ' के निवासी थे । गुर्वालियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य नाम भी दिये हैं, जो गुणादि प्रत्ययको लिये हुए समझने चाहिये और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं ।

और दूसरे विद्वानोंने उसका यथारुचि—चाहे जिस नामसे—अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है; एक नामके कई कई पर्यायनाम भी होते हैं और उन पर्यायनामों अथवा आंशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानों तथा आचार्योंका उल्लेख मिलता है, कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और ग्रंथकारके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवादित रूपसे ही उन भाषाओं-के ग्रंथोंमें उल्लेखित हैं, एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम, उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवादित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अक्सर होते रहे हैं; समसामयिक व्यक्तियोंके नामोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है, कोई कोई विद्वान् कई कई आचा-र्योंके भी शिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको चाहे जहाँ चाहे जिस आचा-र्यका शिष्य सूचित किया है, एक संघ अथवा गच्छके किसी अच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गच्छने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गच्छका आचार्य सूचित किया है, इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अधिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गद्दियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई पट्टशिष्य हो गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही पट्टगुरु सूचित किया है। इस प्रका-रकी हालतोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता चलाना कितनी टेढी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके लिये यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय करने अथवा किसी खास घटना या उल्लेखको किसी खास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों

१ जैसे नागचन्द्रका कहीं 'नागचन्द्र' और कहीं 'भुजगसुधाकर' इस पर्याय नामसे उल्लेख पाया जाता है। और प्रभाचन्द्रका प्रमेन्दु यह आंशिक पर्यायनाम है जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है।

तथा कठिनाइयोका सामना करना पड़ता है, इसका अच्छा अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ अर्सेतक काम करनेका अवसर मिला हो । अस्तु । यथेष्ट साधनसामग्रीके विना ही, इन सब अथवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिक्कतों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंसे गुजरते हुए, हमने आजतक स्वामी समन्तभद्रके विषयमे जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी कृतियों, दूसरे विद्वानोंके ग्रंथोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिलालेखों आदि परसे हम माळूम कर सके हैं—अथवा जिसका हमें अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधन-सामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित माळूम होता है, और इस लिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है:—

पितृकुल और गुरुकुल ।

स्वामी समन्तभद्र के बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता, और न यह माळूम होता है कि उनके मातापिताका क्या नाम था । हाँ, आपके 'आप्तमीमासा' ग्रंथकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणबेल्गोलके दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारमें पाई जाती है । उसके अन्तमें लिखा है—[1]

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।"

इससे माळूम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और एक राजपुत्र थे । आपके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर'के

---

१ देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७–८, पृष्ठ ४८० । आराके जैनसिद्धान्तभवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्राय ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है ।

राजा थे, और इस लिये उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा बाल्य-लीलाभूमि समझना चाहिये । ' राजावलीकथे ' मे आपका जन्म ' उत्वलिका ' ग्राममें होना लिखा है जो प्राय: उरगपुरके ही अतर्गत होगा । यह उरगपुर ' उरैयूर ' का ही सस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी । पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते है । यह नगर कावेरीके तटपर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बडा ही समृद्धिशाली जनपद था ।

समंतभद्रका बनाया हुआ ' स्तुतिविद्या '[2] अथवा ' जिनस्तुतिशतं ' नामका एक अलकारप्रधान ग्रथ है, जिसे ' जिनशतक ' अथवा 'जिनशतकालकार ' भी कहते है । इस ग्रथका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामका जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको लिये हुए एक चित्रबद्ध काव्य है । इस काव्यकी छह आरे और नव वलयवाली चित्ररचनापरसे ये दो पद निकलते[3] हैं—

' शांतिवर्मकृतं,' ' जिनस्तुतिशतं' ।

इनसे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ ' शान्तिवर्मा ' का बनाया हुआ है और इस लिये ' शान्तिवर्मा ' समतभद्रका ही नामान्तर है । परतु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं हो सकता, क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम नहीं होते । जान पड़ता है यह आचार्य महोदयके मातापितादिद्वारा

१ महाकवि कालिदासने अपने ' रघुवश ' में भी 'उरगपुर ' नामसे इस नगरका उल्लेख किया है ।

२ यह नाम ग्रथके आदिम मगलाचरणमें दिये हुए ' स्तुतिविद्या प्रसाधये ' इस प्रतिज्ञावाक्यसे पाया जाता है ।

३ देखो महाकवि नरसिंहकृत ' जिनशतक–टीका ' ।

रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था । इस नामसे भी आपके क्षत्रियवशोद्भव होनेका पता चलता है । यह नाम राजघरानोंका है । कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गये है । कदम्बोंमें 'शातिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है ।

यहाँ पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिन-स्तुतिशतं' नामका ग्रंथ समतभद्रका बनाया हुआ न होकर शाति-वर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्‌का बनाया हुआ होगा, क्योंकि यह ग्रथ निर्विवाद रूपसे स्वामी समंतभद्रका बनाया हुआ माना जाता है । ग्रंथकी प्रतियोंमें कर्तृत्वरूपसे समतभद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार महाकवि नरसिंहने भी उसे '**तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समंतभद्राचार्यविरचित**' सूचित किया है और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समंतभद्रके नामसे, अपने ग्रंथोंमें उल्लेख किया है । उदाहरणके लिये 'अलकारचिन्ता-मणि' को लीजिये, जिसमें **अजितसेना**चार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रथके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समंतभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम् ।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥

इसके सिवाय प० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयभूस्तोत्र' का जो सस्करण सस्कृतटीका और मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है उसमें समतभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है—"**इति फणि-मंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनामा श्रीसमं-**

तभद्रेण ।" यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य × हो तो इससे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था।

वास्तवमें ऐसे ही महत्त्वपूर्ण काव्यग्रंथोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है । इस ग्रंथमे आपने जो अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए निर्मल भक्तिगंगा बहाई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही है । आपसे भिन्न 'शांतिवर्मा' नामका

× पं० जिनदासकी इस सूचनाको देखकर हमने पत्रद्वारा उनसे यह मालूम करना चाहा कि कर्णाटक देशसे मिली हुई अष्टसहस्रीकी वह कौनसी प्रति है और कहाँके भंडारमें पाई जाती है जिसमे उक्त उल्लेख मिलता है । क्योंकि दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भंडारसे मिली हुई 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखसे यह उल्लेख कुछ भिन्न है । उत्तरमें आपने यही सूचित किया कि यह उल्लेख पं० वंशीधरजीकी लिखी हुई अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना परसे लिया गया है, इस लिये इस विषयका प्रश्न उन्हींसे करना चाहिये । अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना (परिचय) को देखने पर मालूम हुआ कि उसमें 'इति' से 'समन्तभद्रेण' तकका उक्त उल्लेख ज्योंका त्यों पाया जाता है, उसके शुरूमें 'कर्णाटदेशतो लब्धपुस्तके' और अन्तमें 'इत्याद्युल्लेखो दृश्यते' ये शब्द लगे हुए हैं । इसपर गत ता० ११ जुलाईको एक रजिष्टर्ड पत्र पं० वंशीधरजीको शोलापुर भेजा गया और उनसे अपने उक्त उल्लेखका खुलासा करनेके लिये प्रार्थना की गई । साथ ही यह भी लिखा गया कि 'यदि आपने स्वयं उस कर्णाट देशसे मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो जिस आधार पर आपने उक्त उल्लेख किया है उसे ही कृपया सूचित कीजिये' । ३ री अगस्त सन् १९२४ को दूसरा रिमाइण्डर पत्र भी दिया गया परंतु पण्डितजीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देने की कृपा नहीं की । और भी कहींसे इस उल्लेखका समर्थन नहीं मिला । ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संदिग्ध मालूम होता है । आश्चर्य नहीं जो जैनहितैषीमें प्रकाशित उक्त 'आप्तमीमांसा'के उल्लेखकी गलत स्मृति परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो, क्योंकि उक्त प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ गलत उल्लेख पाये जाते हैं– जैसे 'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं' नामक पद्यको मल्लिषेणप्रशस्तिका बतलाना, जिसका वह पद्य नहीं है ।

कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं। इस लिये उक्त शका निर्मूल जान पड़ती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि समतभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी। परंतु ग्रंथके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्य महोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति मुनिअवस्थाकी ही माळूम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकारकी महापाडित्यपूर्ण और महदुच्चभावसपन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रंथको गौरके साथ पढते हुए, पद्य न० १९, ७९ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १९ वें पद्यसे ही यह माळूम हो जाता है कि स्वामी ससारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर) वीतराग भगवान्की शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय (ग्रंथरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि अनुष्ठित आचार जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

> पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा।
> स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्यशंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचार' + और 'भयात् × तन्वायात' ये अपने (मा='मा' पदके) दो खास विशेपण पद दिये

---

* यह पद्य आगे 'भावी तीर्थंकरत्व' शीर्पकके नीचे उद्धृत किया गया है।

+ 'पूतः पवित्र सु सुष्टु अनवम गणधराद्यनुष्ठित आचारः पापक्रियानिवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम् '—इति टीका।

× भयात् ससारभीतेः। तन्वा शरीरेण (सह) आयात आगतं।

हैं उसी प्रकार ७९ वें † पद्यमें उन्होंने '**ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं**' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्तभद्रके मनमे यद्यपि त्रास उद्वेग-विल्कुल नष्ट (अस्त) नहीं हुआ था-सत्तामे कुछ मौजूद जरूर था-फिर भी वह ध्वसमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको, उद्वेजित अथवा सन्त्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊंचे दर्जे पर जाकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है कि इस ग्रन्थकी रचना उनके मुनि-जीवनमें ही हुई है। टीकाकार नरसिंहभट्टने भी, ग्रन्थकी आदिमें 'श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए 'ऋद्धं' विशेषणका अर्थ 'वृद्धं' करके, और ११५ वें पद्यके '**वन्दीभूतवतः**' पदका अर्थ '**मंगलपाठको भवतोपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोपि मम**' ऐसा देकर, यह सूचित किया है कि यह ग्रन्थ समन्तभद्रके मुनिजीवनका बना हुआ है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह कराया था कि नहीं, इस वातके जाननेका प्रायः कोई साधन नहीं है। हां, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समंतभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाया जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको धारण किया था और विवाह भी कराया था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि आपके पुत्रका नाम

† यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

स्वसमान समानन्द्या भासमान स माऽनघ ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमाननम ॥

थे और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे, उन्हें अधिक समयतक अपनी देशीय रियासतमे रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी * । और यह एक चर्या थी जिसे भारतकी, खासकर बुद्धकालीन भारतकी, धार्मिक संस्थाने छोटे पुत्रोंके लिये प्रस्तुत किया था । इस चर्यामें पड़ कर योग्य आचार्य कभी कभी अपने राजबन्धुसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे । सभव है कि समतभद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुजरना पड़ा हो, उनका कोई बड़ा भाई राज्याधिकारी हो, उसे ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिला हो, और इस लिये समतभद्रने न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो, बल्कि अपनी स्थितिको समझ कर उन्होंने अपने जीवनको शुरुसे ही धार्मिक साँचेमें ढाल लिया हो, और पिताकी मृत्यु पर अथवा उससे पहले ही अवसर पाकर आप दीक्षित हो गये हों, और शायद यही वजह हो कि आपका फिर उरगपुर जाना और वहा रहना प्रायः नहीं पाया जाता । परतु कुछ भी हो, इसमे सदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणतिमें कृत्रिमताकी जरा भी गध नहीं थी । आप स्वभावसे

---

* इस दस्तूरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखसे मिलता है (Ma-twan-lin, cited in Ind Ant IX, 22. देखो, विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इडिया' पृ० १८५, जिसका एक अश इस प्रकार है—

An ancient Chinese writer assures us that 'according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumărarăjă), the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom'

ही धर्मात्मा थे और आपने अपने अन्तःकरणकी आवाजसे प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा * धारण की थी ।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूरमें ही हुई है और या वह काञ्ची अथवा मदुरामे हुई जान पड़ती है। ये तीनो ही स्थान उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके खास केन्द्र थे और इन सबोंमें जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे जो उस समय बड़े बड़े विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे ।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची या उसके आसपासका कोई ग्राम जान पड़ता है और काञ्ची * ही—जिसे 'काजीवरम्' भी कहते हैं—आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही माळूम होती है। आप वहींके दिगम्बर साधु थे। '**कांच्यां नग्नाटकोऽहं** × ' आपके इस वाक्यसे भी यही ध्वनित होता है । काञ्चीमें आप कितनी ही बार गये हैं, ऐसा उल्लेख + 'राजावलीकथे' में भी मिलता है ।

---

* सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिनानुष्ठित सम्यक् चारित्रके ग्रहणको 'जिनदीक्षा' कहते हैं। समन्तभद्रने जिनेन्द्रदेवके चारित्र गुणको अपनी जॉच-द्वारा न्यायविहित और अद्भुत उदयसहित पाया था, और इसी लिये वे सुप्रसन्न-चित्तसे उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमे लीन हुए थे। नीचेके एक पद्यसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनस स्थिता वयम् ॥१३०॥
—युक्त्यनुशासन ।

* द्रविड देशकी राजधानी जो अर्सेतक पल्लवराजाओंके अधिकारमें रही है। यह मद्राससे दक्षिण–पश्चिमको ओर ४२ मीलके फासलेपर, वेगवती नदी पर स्थित है ।

× यह पूरा पद्य आगे दिया जायगा ।

+ स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० ३० ।

पितृकुलकी तरह उनके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरुका क्या नाम था। स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और न दूसरे विद्वानोंने ही उनके गुरुकुलके सम्बंधमें कोई खास प्रकाश डाला है। हाँ, इतना जरूर मालूम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'हस्तिमल्ल' और 'अय्यप्पार्य' ने '**श्रीमूलसंघव्योमेन्दुः**' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आकाशका चंद्रमा लिखा है *। इसके सिवाय श्रवणबेलगोलके कुछ शिलालेखोंसे इतना पता और चलता है कि आप श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चंद्रगुप्त, चंद्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनंदि अपर नाम श्रीकोंडकुंदमुनिराज, उनके वंशज उमास्वाति अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य, और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ—इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंशपरम्परामें, हुए हैं। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥
चंद्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥
श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः,
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः ।

* देखो, 'विक्रान्तकौरव' और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामके ग्रन्थ।

चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि—,
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥
एवं महाचार्यपरंपरायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः ॥

शिलालेख नं० ४० (६४) ।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चंद्रगुप्तको भद्रबाहुका और बलाकपिच्छको उमास्वातिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समतभद्र, अथवा कुन्दकुन्द और उमास्वति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं किया कि वे किसके शिष्य थे । दूसरे * शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है । और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त शिष्योकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी अथवा उन्होने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी । सभव है कि उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेप उदासीन परिणतिके कारण साहित्यसेवाका काम बहुत कम हो और यही बात बादको समय बीतने पर उनकी अप्रसिद्धिका कारण बन गई हो । परंतु कुछ भी हो इसमें सदेह नहीं कि इस शिलालेखमें, और इसी प्रकारके दूसरे शिलालेखोंमें भी, जिस ढगसे कुछ चुने हुए आचार्योंके बाद समतभद्रका नाम दिया है उससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि स्वामी

* देखो 'इन्स्क्रिप्शन्स एट श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर बी लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका सशोधितसंस्करण १९२३ का छपा हुआ । शिलालेखोंके जो नये नबर कोष्टक आदिमें दिये हैं वे इसी शोधित सस्करणके नम्बर हैं ।

समंतभद्र बहुत ही खास आचार्योंमेसे थे। उनकी कीर्ति उनके गुरुकुल अथवा गण गच्छसे ऊपर है, पितृकुलको भी वह उल्लघ गई है। और इस लिये, साधनाभावके कारण, यदि हमे उनके गुरुकुलादिका पूरा पता नहीं चलता* तो न सही, हमे यहॉ पर उसकी चिन्ताको छोड कर अब आचार्यमहोदयके गुणोंकी ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये—यह माळूम करना चाहिये कि वे कैसे कैसे गुणोंसे विशिष्ट थे और उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी क्या कुछ सेवा हुई है।

---

* श्रवणबेलोलके दूसरे शिलालेखोंमे, और दूसरे स्थानोंके शिलालेखोंमे भी, कुन्दकुन्दको नन्दिगण तथा देशीय गणका आचार्य लिखा है। कुंदकुंदकी वशपरम्परामें होनेसे समतभद्र नन्दिगण अथवा देशीयगणके आचार्य ठहरते हैं। परतु जैनसिद्धान्त भास्करमे प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमे आपको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि यह पट्टावली पूरी तौर पर पट्टावलीके ढगसे नहीं लिखी गई और न इसमें सभी आचार्योंका पट्टक्रमसे उल्लेख है। फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि उसमें समन्तभद्रको सेनगणके आचार्योंमे परिगणित किया है। इन दोनोंके विरुद्ध १०८ नवरका शिलालेख यह बतलाता है कि नदि और सेनादि भेदोंको लिये हुए यह चार प्रकारका सघभेद भट्टाकलकदेवके स्वर्गारोहणके बाद उत्पन्न हुआ है और इससे समतभद्र न तो नन्दिगणके रहते हैं और न सेनगणके, क्योंकि वे अकलकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं। अकलकदेवसे पहलेके साहित्यमे इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख भी देखनेमें नहीं आता। इन्द्रनन्दिके 'नीतिसार' और १०५ नवरके शिलालेखमें इन चारों सघोंका प्रवर्तक 'अर्हद्बलि' आचार्यको लिखा है, परतु यह सब साहित्य अकलकदेवसे बहुत ही पीछेका है। इसके सिवाय, तिरुमकूडलु-नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख न० १०५ में (E C. III) समतभद्रको द्रामिल संघके अन्तर्गत नन्दि सघकी अरुगल शाखा (अन्वय) का विद्वान् सूचित किया है। ऐसी हालतमें समतभद्रके गणगच्छादिका विषय कितनी गड़बड़में है इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं।

गुणादिपरिचय ।

ऊपरके शिलालेखमें '**गुणतो गणीशः**' विशेषणके द्वारा समन्तभद्रको गुणोंकी अपेक्षा गणियोंका—संघाधिपति आचार्योंका— ईश्वर (स्वामी) सूचित किया है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि, 'आप समन्तात् भद्र' थे—बाहर भीतर सब ओरसे भद्ररूप* थे—अथवा यों कहिये कि आप भद्रपरिणामी थे, भद्रवाक् थे, भद्राकृति थे, भद्रदर्शन थे, भद्रार्थ थे, भद्रावलोकी थे, भद्रव्यवहारी थे, और इस लिये जो लोग आपके पास आते थे वे भी भद्रतामें परिणत हो जाते थे । शायद इन्हीं गुणोंकी वजहसे दीक्षासमय ही, आपका नाम 'समन्तभद्र' रक्खा गया हो, अथवा आप बादको इस नामसे प्रसिद्ध हुए हों और यह आपका गुणप्रत्यय नाम हो । इसमें संदेह नहीं कि, समंतभद्र एक बहुत ही बडे योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्त्वज्ञानी हो गये है । आपकी भद्रमूर्ति, तेजःपूर्ण दृष्टि और सारगर्भित उक्ति अच्छे अच्छे मदोन्मत्तोंको नतमस्तक बनानेमे समर्थ थी । आप सदैव ध्यानाध्ययनमें मग्न और दूसरोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगाने तथा आत्मोन्नतिके पथ पर अग्रसर करनेके लिये सावधान रहते थे । जैनधर्म और जैन सिद्धान्तोंके मर्मज्ञ होनेके सिवाय आप तर्क, व्याकरण, छद, अलकार और काव्य-कोषादि ग्रंथोंमें पूरी तौरसे निष्णात थे । आपकी अलौकिक प्रतिभाने तात्कालिक ज्ञान और विज्ञानके प्रायः सभी विषयों पर अपना अधिकार जमा लिया था । यद्यपि, आप सस्कृत, प्राकृत, कनडी और तामिल आदि कई भाषाओंके पारंगत विद्वान् थे, फिर भी सस्कृत भाषा पर

---

* 'भद्र' शब्द कल्याण, मगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्प आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है ।

आपका विशेष अनुराग तथा प्रेम था और उसमें आपने जो असाधारण योग्यता प्राप्त की थी वह विद्वानोंसे छिपी नहीं है। अकेली ' स्तुतिविद्या ' ही आपके अद्वितीय शब्दाधिपत्यको अथवा शब्दोंपर आपके एकाधिपत्यको सूचित करती है। आपकी जितनी कृतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं वे सब संस्कृतमें ही हैं। परंतु इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिऐ कि दूसरी भाषाओंमें आपने ग्रंथरचना न की होगी, की जरूर है, क्योंकि कनड़ी भाषाके प्राचीन कवियोंमें सभीने, अपने कनड़ी काव्योंमें उत्कृष्ट कविके रूपमें आपकी भूरि भूरि प्रशसा की है * । और तामिल देशमे तो आप उत्पन्न ही हुए थे, इससे तामिल भाषा आपकी मातृभाषा थी। उसमें ग्रंथरचनाका होना स्वाभाविक ही है। फिर भी संस्कृत भाषाके साहित्यपर आपकी अटल छाप थी। दक्षिण भारतमें उच्च कोटिके संस्कृत ज्ञानको प्रोत्तेजन, प्रोत्साहन और प्रसारण देनेवालोंमें आपका नाम खास तौरसे लिया जाता है। आपके समयसे सस्कृत साहित्यके इतिहासमें एक खासयुगका प्रारभ होता है ×; और इसीसे संस्कृत साहित्यके इतिहासमें आपका नाम अमर है। सचमुच ही आपकी विद्याके आलोकसे एक बार सारा भारतवर्ष आलोकित हो चुका है। देशमे जिस समय बौद्धादिकोंका

* मिस्टर एस० एस० रामस्वामी आय्यगर, एम० ए० भी अपनी 'स्टडीज इन साउथ इडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें, बम्बई गजेटियर, जिल्द पहली, भाग दूसरा, पृष्ठ ४०६ के आधारपर लिखते हैं कि ' दक्षिण भारतमें समतभद्रका उदय, न सिर्फ दिगम्बर सम्प्रदायके इतिहासमें ही बल्कि, सस्कृत साहित्यके इतिहासमें भी एक खास युगको अकित करता है।' यथा—

Samantbhadra's appearence in South India marks an epoch not only in the annals of Digambar Tradition, but also in the history of Sanskrit literature.

× देखो ' हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर ' तथा ' कर्णाटककविचरित ।'

प्रबल आतंक छाया हुआ था और लोग उनके नैरात्म्यवाद, शून्यवाद क्षणिकवादादि सिद्धान्तोंसे संत्रस्त थे—घबरा रहे थे—अथवा उन एकान्त गर्तोंमें पड़कर अपना आत्मपतन करनेके लिये विवश हो रहे थे उस समय दक्षिण भारतमें उदय होकर आपने जो लोकसेवा की है वहा बड़े ही महत्त्वकी तथा चिरस्मरणीय है। और इस लिये शुभचंद्राचार्यने जो आपको 'भारतभूषण'[1] लिखा है वह बहुत ही युक्तियुक्त जान पड़ता है।

स्वामी समंतभद्र, यद्यपि, बहुत से उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यता वाले थे—ये चारों ही शक्तियाँ आपमें खास तौरसे विकाशको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण आपका निर्मल यश दूर दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस वक्त जितने वादी[2], वाग्मी[3], कवि[4] और गमक[5] थे उन सब पर आपके यशकी

---

१ समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषण ।—पांडवपुराण।

२ 'वादी विजयवाग्वृत्ति'—जिसकी वचनप्रवृत्ति विजयकी ओर हो उसे 'वादी' कहते हैं।

३ 'वाग्मी तु जनरंजन'—जो अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण हो उसे 'वाग्मी' कहते हैं।

४ 'कविर्नूतनसंदर्भ'—जो नये नये संदर्भ—नई नई मौलिक रचनाएँ तयार करनेमें समर्थ हो वह कवि है, अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन है, जो नाना-वर्णनाओंमें निपुण है, कृती है, नाना अभ्यासोंमें कुशलबुद्धि है और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यवहारोंमें कुशल) है उसे भी कवि कहते है, यथा—

> प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णना निपुण कृती ।
> नानाभ्यासकुशाग्रीयमति व्युत्पत्तिमान्कविः ।
>
> —अलंकारचिन्तामणि ।

५ 'गमक. कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्मको समझनेवाला उनकी तहतक पहुँचनेवाला हो और दूसरोंको उनका मर्म तथा रहस्य

छाया पड़ी हुई थी—आपका यश चूडामणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह बादको भी बड़े बडे विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि, आजसे ग्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशःसामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण ।

भगवान् समंतभद्रके इन वादित्व और कवित्वादि गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये नीचे कुछ प्रमाणवाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

(१) यशोधरचरितके कर्ता और विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि **वादिराज**सूरि, समंतभद्रको ‘ उत्कृष्टकाव्य माणिक्यों-का रोहण (पर्वत)’ सूचित करते हैं और साथ ही यह भावना करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी रत्नोंके समूहको प्रदान करनेवाले हों—

श्रीमत्समंतभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(२) ‘ ज्ञानार्णव ’ ग्रंथके रचयिता योगी **श्रीशुभचंद्राचार्य**, समंतभद्रको ‘ कवीन्द्रभास्वान् ’ विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी

समझानेमें प्रवीण हो उसे ‘गमक’ कहते हैं। निश्चयात्मक प्रत्ययजनक और संशय-छेदी भी उसीके नामान्तर हैं।

किरणें स्फुरायमान हो रही है वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत है—कविता करने लगते हैं—और इस तरहपर उन्होंने समंतभद्रके मुकाबलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां,
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

(३) अलंकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हे ' कविकुजर ' ' मुनिवद्य ' और ' जनानन्द ' (लोगोंको आनंदित करनेवाले) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मै उन्हें अपनी ' वचनश्री ' के लिये—वचनोकी शोभा वढाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ ३ ॥

(४) वरांगचरित्रमें, परवादि-दन्ति-पचानन श्रीवर्धमानसूरि समंतभद्रको ' महाकवीश्वर ' और ' सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर ' प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समतभद्र कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे। साथ ही, यह भावना करते है कि वे महाकवीश्वर मुझ कविताकांक्षीपर प्रसन्न होवें—अर्थात्, उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करें—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, समतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें ' महान् कविवेधा ' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता अर्थात्, महाकवि-ब्रह्मा लिखा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खड खंड हो गये थे ।—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने ' हनुमच्चरित्र'में, समन्तभद्रका जयघोष करते हुए, उन्हें ' भव्यरूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाला चंद्रमा ' लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि वे ' दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज (खुजली) को मिटानेके लिये अद्वितीय महौषधि ' थे—उन्होंने कुवादियोंकी बढती हुई वादाभिलाषाको ही नष्ट कर दिया था—

जीयात्समन्तभद्रोऽसौ भव्यकैरवचंद्रमाः ।
दुर्वादिवादकंडूनां शमनैकमहौषधिः ॥ १९ ॥

(७) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (२५४) में, जो शक संवत् १३२० का लिखा हुआ है, समंतभद्रको 'वार्दाभवज्राकुशसूक्तिजाल' विशेषणके साथ स्मरण किया है—अर्थात्, यह सूचित किया है कि समतभद्रकी सुन्दर उक्तियोंका समूह वादीरूपी हस्तियोंको वशमें करनेके लिये वज्राकुशका काम देता है । साथ ही, यह भी प्रकट किया है कि समन्तभद्रके प्रभावसे यह संपूर्ण पृथ्वी दुर्वादकोंकी वार्तासे भी विहीन हो गई—उनकी कोई बात भी नहीं करता—

समन्तभद्रस्स चिराय जीया—
द्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं
वंध्यास दुर्वादुकवार्त्तयापि ॥

इस पद्यके बाद, इसी शिलालेखमें, नीचे लिखा पद्य भी दिया हुआ है और उसमें समन्तभद्रके वचनोंको 'स्फुटरत्नदीप' की उपमा दी है और यह बतलाया है कि वह दैदीप्यपान रत्नदीपक उस त्रैलोक्यरूपी संपूर्ण महलको निश्चित रूपसे प्रकाशित करता है जो स्यात्कारमुद्राको लिये हुए समस्तपदार्थोंसे पूर्ण है और जिसके अन्तराल दुर्वादकोंकी उक्तिरूपी अन्धकारसे आच्छादित हैं—

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं
त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं स खलु व्यनक्ति ।
दुर्वादुकोक्तितमसा पिहितान्तरालं
सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपः ॥

४० वे शिलालेखमें भी, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये है, समन्तभद्रको 'स्यात्कारमुद्राकिततत्त्वदीप' और 'वादिसिंह' लिखा है। इसी तरह पर श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य **श्रीहरिभद्र-सूरिने**, अपनी 'अनेकान्तजयपताका' में समतभद्रका 'वादिमुख्य' विशेषण दिया है और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है—"**आह च वादिमुख्यः समंतभद्रः।**"

(८) गद्यचिन्तामणिमे, महाकवि **वादीभसिंह** समतभद्र मुनीश्वरको 'सरस्वतीकी स्वच्छदविहारभूमि' लिखते है, जिससे यह सूचित होता है कि समतभद्रके हृदय-मदिरमें सरस्वती देवी विना

किसी रोक टोकके पूरी आजादीके साथ विचरती थी और इस लिये समंतभद्र असाधारण विद्याके धनी थे और उनमें कवित्व वाग्मित्वादि शक्तियाँ उच्च कोटिके विकाशको प्राप्त हुई थीं यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी प्रकट करते हैं कि उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूपी पर्वतोंकी चोटियाँ खंड खड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे, बड़े बड़े प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे—

सरस्वतिस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

(९) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख न० १०८ में, जो शक स० १३५५ का लिखा हुआ है और जिसका नया नबर २५८ है, मंगराजकवि सूचित करते हैं कि समतभद्र बलाकपिच्छके बाद '**जिनशासनके प्रणेता**' हुए हैं, वे '**भद्रमूर्ति**' थे और उनके वचनरूपी वज्रके कठोर पातसे प्रतिवादीरूपी पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था—

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥

(१०) समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी—कुवादियोंकी क्या हालत होती थी, और वे कैसे नम्र अथवा विषण्ण और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे, इसका कुछ आभास अलकार-चिन्तामणिमें उद्धृत किये हुए निम्न दो पद्योंसे मिलता है—

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे परुषोक्तयः ।
समन्तभद्रयत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः ॥ ४-३१५

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।
कुवादिनोऽलिखन्भूमिमंगुष्ठैरानताननाः ॥ ५-१५६

पहले पद्यसे यह सूचित होता है कि कुवादीजन अपनी स्त्रियोंके निकट तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियाँ सुनाते थे—परंतु जब समंतभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुर भाषी बन जाते थे और उन्हें '**पाहि पाहि**'—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक है; ऐसे सुन्दर मृदुवचन ही कहते बनता था। और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समंतभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादि जन नीचा मुख करके अँगूठोसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर समंतभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हे देखते ही विषण्ण वदन हो जाते और किं कर्तव्यविमूढ बन जाते थे।

(११) **अजितसेना**चार्यके 'अलकार-चिन्तामणि' ग्रथमें और कवि **हस्तिमल्ल**के 'विक्रान्तकौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा ।[1]
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येपाम् ॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट, शीघ्र और बहुत बोलनेवाले धूर्जटिकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता— तो फिर

---

१ 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रथकी प्रशस्तिमे भी, जो शक स० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानमें 'धूर्जटेरपि जिह्वा' यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमे देखा जाता है।

दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समतभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

इस पद्यसे भी समंतभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हालत होती थी उसका कुछ बोध होता है।

कितने ही विद्वानोंने इस पद्यमें 'धूर्जटि'को 'महादेव' अथवा 'शिव'का पर्याय नाम समझा है और इस लिये अपने अनुवादोंमें उन्होंने 'धूर्जटि'की जगह महादेव तथा शिव नामोंका ही प्रयोग किया है। परतु ऐसा नहीं है। भले ही यह नाम, यहाँपर, किसी व्यक्ति विशेषका पर्याय नाम हो, परंतु वह महादेव नामके रुद्र अथवा शिव नामके देवताका पर्याय नाम नहीं है। महादेव न तो समंतभद्रके सम-सामायिक व्यक्ति थे और न समंतभद्रका उनके साथ कभी कोई साक्षात्कार या बाद ही हुआ। ऐसी हालतमे यहॉ 'धूर्जटि'से महादेवका अर्थ निकालना भूलसे खाली नहीं है। वास्तवमे इस पद्यकी रचना केवल समन्तभद्रका महत्त्व ख्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समंतभद्रके वादविषयकी एक खास घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तत्त्वोंका पता चलता है—एक तो यह कि समंतभद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेमें प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तात्कालिक व्यक्तिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सूचित करता है, दूसरे यह कि, समतभद्रका उसके साथ वाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोल नहीं आया।

पद्यका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जो, शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मल्लिषेण-

प्रशस्ति नामके ५४ वें (६७ वे) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषां ॥[1]

इस पद्यमे 'धूर्जटि'के बाद **'अपि'** शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें **'सति का कथान्येषां'**की जगह **'तव सदसि भूप कास्थान्येषां'** ये शब्द दिये हुए हैं। साथ ही इसका छद भी दूसरा है। पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यागीति' नामके छंदमें है, जिसके समचरणोंमे बीस बीस मात्राएँ होती हैं। अस्तु, इस पद्यमें पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह माळ्म होता है कि यह पद्य समंतभद्रकी ओरसे अथवा, उनकी मौजूदगीमे, उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है। वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो। पहली हालतमें यह पद्य धूर्जटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित दूसरे विद्वानोंको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें राजासे यह पूछा गया है कि धूर्जटि जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है? दूसरी हालतमें, यह पद्य समतभद्रके वादारभ समयका वचन माळ्म होना है और उसमें धूर्जटिकी स्पष्ट तथा गुरुतर पराजयका उल्लेख करके दूसरे विद्वानोंको यह चेतावनी दी गई है कि

१ दावणगेरे ताल्लुकके शिलालेख न० ९० मे भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३ वे वर्ष, कीलक सवत्सर (ई० सन् ११२८) का लिखा हुआ है, यह पद्य इसी प्रकार दिया है। देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११ वीं।

वे बहुत सोच समझकर वादमें प्रवृत्त हों। शिलालेखमे इस पद्यको समन्तभद्रके वादारभ-समारभ समयकी उक्तियोमें ही शामिल किया है *। परंतु यह पद्य चाहे जिस राजसभामें कहा गया हो, इसमें संदेह नहीं कि इसमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह बहुत ही महत्त्वकी जान पड़ती है। ऐसा माल्रूम होता है कि धूर्जटि† उस वक्त एक बहुत ही वढाचढ़ा प्रसिद्ध प्रतिवादी था, जनतामें उसकी बड़ी धाक थी और वह समतभद्रके सामने बुरी तरहसे पराजित हुआ था ऐसे महावादीको लीलामात्रमें परास्त कर देनेसे समन्तभद्रका सिक्का दूसरे विद्वानों पर और भी ज्यादा अकित हो गया और तबसे यह एक कहावतसी प्रसिद्ध हो गई कि 'धूर्जटि जैसे विद्वान् ही जब समतभद्रके सामने वादमें नहीं ठहर सकते तब दूसरे विद्वानोंकी क्या सामर्थ्य है जो उनसे वाद करे।'

समन्तभद्रकी वादशक्ति कितनी अप्रतिहत थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, यह वात ऊपरके अव-तरणोंसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, फिर भी हम यहाँ पर इतना और बतला देना चाहते हैं कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र सकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुंदुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वादप्रीति, लोगोंके अज्ञान भावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभ भावना और जैन सिद्धा-

* जैसा कि उन उक्तियोंके पहले दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है—
"यस्यैवंविधा विद्यावादारंभसंरंभविजृंभिताभिव्यक्तयः सूक्तयः।"

† आफरेडके 'केटेलॉग' में धूर्जटिको एक 'कवि' Poet लिखा है और कवि अच्छे विद्वानको कहते हैं, जैसा कि इससे पहले फुटनोटमें दिये हुए उसके लक्षणोंसे माल्रूम होगा।

न्तोंके महत्त्वको विद्वानोंके हृदयपटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीलास्थल बनाया था । वे कभी इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिये निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें संतोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञान भावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों (खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय । और इस लिये, उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता लगता था वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका* बजाकर विद्वानों-को स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे । डंकेको सुनकर वादीजन, यथानियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समतभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आजाय । कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद न्यायकी तुलामे तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था—यदि कभी

* उन दिनों समन्तभद्रके समयमें-फाहियान (ई० स० ४००) और ह्वेनत्संग (ई० स० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें, अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था वह, वादघोषणाके तौरपर, उस डंकेको बजाता था ।

—हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर ।

कोई मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था। इस तरह पर, समंतभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंहकी तरह क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते हुए 'करहाटक' नगरमें भी पहुँचे थे, जिसे कुछ विद्वानोंने[1] सतारा जिलेका आधुनिक 'कऱ्हाड या कराड़' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रदेशका 'कोल्हापुर'[2] नगर बतलाया है, और जो उस समय बहुतसे भटों (वीर योद्धाओं) से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने वादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय, एक पद्यमें, दिया था वह श्रवणबेल्गोलके उक्त ५४ वें शिलालेखमें निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

> [3]पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

---

१ देखो, मिस्टर एडवर्ड पी० राइस बी० ए० रचित 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २३।

२ देखो, मिस्टर बी० लेविस राइसकी 'इस्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक, पृ० ४२, परन्तु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें, जिसे आर० नरसिंहाचारने तैय्यार किया है, शुद्धिपत्रद्वारा 'कोल्हापुर' के स्थानमें 'कऱ्हाड' बनानेकी सूचना की गई है।

३ यह पद्य ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधनाकथाकोष' में भी पाया जाता है परन्तु यह ग्रंथ शिलालेखसे कई सौ वर्ष पीछेका बना हुआ है।

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह माळूम होता है कि 'करहाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र (पटना) नगर, मालव, (मालवा) सिन्धु तथा ठक्क (पंजाब) देश, काञ्चीपुर (काञ्जीवरम्), और वैदिशं (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं

---

१ कनिंघम साहबने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पंजाब देशके साथ समीकरण किया है (S I J 30), मिस्टर लेविस राइस साहबने भी अपनी श्रवणबेल्गोल-के शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पंजाब देश लिखा है । और 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राईस साहबने उसे In the Punjab लिखकर पंजाबका एक देश बतलाया है । परंतु हमारे कितने ही जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ढक्क' पाठ बनाकर उसे बंगाल प्रदेशका 'ढाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है । पंजाबमें, 'अटक' एक प्रदेश है । संभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पंजाब 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिंधुके पास है । पद्यमे भी 'सिंधु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पंजाब देश या उसका अटकवाळा प्रदेश ही माळूम होता है—बंगाल या ढाका नहीं । पंजाब-के उस प्रदेशमें 'ठट्टा' आदि और भी कितने ही नाम इसी किसम के पाये जाते है । प्राक्तनविमर्षविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पंजाब देश ही लिखा है ।

२ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देशकी राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम भिलसा है । राइस साहबने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणबेल्गोल शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमे कर दिया गया है । इसी तरह पर आय्यंगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है ।

किया था । साथ ही, यह भी माल्रूम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने वादकी भेरी बजाई थी वह 'पाटलीपुत्र' नामका शहर था, जिसे आजकल 'पटना' कहते हैं और जो सम्राट्ट चंद्रगुप्त (मौर्य) की राजधानी रह चुका है ।

'राजावलीकथे' नामकी कनडी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी समंत-भद्रका यह सब आत्मपरिचय दिया हुआ है—विशेषता सिर्फ इतनी ही है कि उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट' नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर लेविस राइस साहब अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवण-बेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते है । परंतु इससे यह माल्रूम न हो सका कि राजावली कथेका वह सब परिचय केवल कनडीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पद्यका भी, प्रमाण रूपसे उल्लेख किया गया है । यदि वह परिचय केवल कनड़ीमें ही है तब तो दूसरी बात है, और यदि उसके साथमें सस्कृत पद्य भी लगा हुआ है, जिसकी बहुत कुछ सभावना है, तो उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट'का समावेश नहीं बन सकता, वैसा किये जाने पर छंदो-भग हो जाता है और गलती साफ तौरसे माल्रूम होने लगती है । हॉ, यह हो सकता है कि पद्यका तीसरा चरण ही उसमें 'कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे सकटे' इस प्रकारसे दिया हुआ हो । यदि ऐसा है तो यह

१ हमारी इस कल्पनाके बाद, बाबू छोटेलालजी जैन, एम० आर० ए० एस० कल-कत्ताने, 'कर्णाटक शब्दानुशासन'की लेविस राइस लिखित भूमिकाके आधार पर, एक अधूरासा नोट लिखकर हमारे पास भेजा है । उसमें समन्तभद्रके परिचयका डेढ पद्य दिया है, और उसे 'राजावलिकथे'का बतलाया है, जिसमेंसे एक पद्य तो 'कांच्या नग्नाटकोह' वाला है और बाकीका आधा पद्य इस प्रकार है—

कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे सकटे
वादार्थं विजहार सम्प्रतिदिनं शार्दूलविक्रीडितम् ।

कहा जा सकता है कि वह उक्त पद्यका दूसरा रूप है जो करहाटकके बाद किसी दूसरी राजसभामें कहा गया होगा। परतु वह दूसरी राजसभा कौनसी थी अथवा करहाटकके बाद समंतभद्रने और कहाँ कहाँ पर अपनी वादभेरी बजाई है, इन सब बातोंके जाननेका इस समय साधन नहीं है। हाँ, राजावलीकथे आदिसे इतना जरूर मालूम होता है कि समंतभद्र कौशाम्बी[1], मणुवकहल्ली, लाम्बुश (?), पुण्ड्रोड्र[2], दशपुर[3] और वाराणसी (बनारस) में भी कुछ कुछ समय तक रहे हैं। परंतु करहाटक पहुँचनेसे पहले रहे है या पीछे, यह कुछ ठीक मालूम नहीं हो सका।

बनारसमें आपने वहाँके राजाको सम्बोधन करके यह वाक्य भी कहा था कि—

'राजन्[4] यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।'

अर्थात्—हे राजन् मैं जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सन्मुख आकर वाद करे।

और इससे आपकी वहाँपर भी स्पष्ट रूपसे वादघोषणा पाई जाती है। परन्तु बनारसमें आपकी वादघोषणा ही होकर नहीं रह गई, बल्कि वाद भी हुआ जान पडता है जिसका उल्लेख तिरुमकूटलु-

---

१ अलाहाबादके निकट यमुना तट पर स्थित नगर, यहाँ एक समय बौद्ध धर्मका बडा प्रचार रहा है। यह वत्सदेशकी राजधानी थी।

२ उत्तर बगालका पुण्ड्र नगर।

३ कुछ विद्वानोंने 'दशपुर'को आधुनिक 'मदसौर' (मालवा) और कुछने 'धौलपुर' लिखा है, परतु पम्पयरामायण (७-३५) में उसे 'उज्जयिनी' के पासका नगर बतलाया है और इसलिये वह 'मन्दसौर' ही मालूम होता है।

४ यह 'काच्यां नग्नाटकोऽहं' पद्यका चौथा चरण है।

नरसीपुर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १०५ के निम्नपद्यसे, जो शक स० ११०५ का लिखा हुआ है, पाया जाता है—

समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥

इस पद्यमें लिखा है कि 'वे समन्तभद्र मुनीश्वर जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने शत्रुओंको—मिथ्यैकान्तवादियोंको—परास्त किया है किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं? अर्थात्, सभीके द्वारा स्तुति किये जानेके योग्य है।

समन्तभद्रने अपनी एक ही यात्रामें इन सब देशों तथा नगरोंमें परिभ्रमण किया है अथवा उन्हें उसके लिये अनेक यात्राएँ करनी पड़ी है, इस बातका यद्यपि, कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी अनुभवसे और आपके जीवनकी कुछ घटनाओंसे यह जरूर माळूम होता है कि आपको अपनी उद्देशसिद्धिके लिये एकसे अधिक बार यात्राके लिये उठना पड़ा है—'ठक्क' से काची पहुँच जाना और फिर वापिस वैदिश तथा करहाटकको आना भी इसी बातको सूचित करता है। बनारस आप काचीसे चलकर ही, दशपुर होते हुए, पहुँचे थे।

समन्तभद्रके सम्बधमें यह भी एक उल्लेख मिळता है कि वे 'पदर्द्धिक' थे—चारण ऋद्धिसे युक्त थे—अर्थात् उन्हें तपके प्रभावसे चलनेकी

१ 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक'में भट्टाकलंकदेवने चारणर्द्धियुक्तोंका जो कुछ स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है—'क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति। तत्र चारणा अनेकविधा जलजंघातंतुपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाद्यालंबनगमना। जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवानविराधयतः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणा। भुव उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो वहुयोजनशतासु गमनप्रवणा जंघचारणा। एवमितरे च वेदितव्या।' —अध्याय ३, सूत्र ३६।

ऐसी शक्ति प्राप्त हो गई थी जिससे वे, दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे। उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

...समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

....समंतभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ।

—जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय ।

...समंतभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु..... ।

—राजावलीकथे ।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था। जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानीके साथ घूम सके हैं।

समंतभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आय्यगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते है—

"...It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went"

अर्थात्—यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बडे जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं

उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा ।

'हिस्टरी आफ़् कनडीज लिटरेचर' के लेखक—कनड़ी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समतभद्रको एक तेजःपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे। साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने वादभेरी बजानेके उस दस्तूरसे पूरा लाभ उठाया है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है, और वे बड़ी शक्तिके साथ जैनधर्मके 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' को पुष्ट करनेमें समर्थ हुए हैं * ।

यहाँ तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्रके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके लिये उनके देशाटनका कितना ही हाल तो माळूम हो गया, परतु अभी तक यह माळूम नहीं हो सका कि समतभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मत्र था जिसकी वजहसे वे

---

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant, and a great preacher of the Jain religion throughout India It was the custom in those days, alluded to by Fâ Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city, and any learned man, wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation, Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syâdvâda

हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत × रहे है कि विद्वान् लोग उनकी वादघोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हे उनका प्राय: कोई विरोध करते नहीं बनता था।—वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है; लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते है और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मान नहीं देते, फिर भी समंतभद्रके साथमें ऐसा प्राय: कुछ भी न होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे ।

जहाँ तक हमने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है और हमें समतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है उसके आधारपर हमें इस बातके कहनेमें जरा भी सकोच नहीं होता कि, समंतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्त:करणकी शुद्धता, चारित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्त्वमें सनिहित है; अथवा यों कहिये कि यह सब अतःकरण तथा चारित्रकी शुद्धिको लिये हुए, उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके है । समतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्राय: दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी । उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित

× मिस्टर आत्यगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है । S. in S I. Jainism, 29.

भावनाकी गध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्ग पर आरूढ थे और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहचानें और उस पर चलना आरभ करें। साथ ही, उन्हे दूसरोंको कुमार्गमे फसा हुआ देखकर बडा ही खेद* तथा कष्ट होता था और इस लिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिपर उद्योग किया करते थे। ऐसा माळूम होता है कि स्वात्महितसाधनके बाद दूसरोका हितसाधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका सपादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे, न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शाति भंग होती थी, उनकी ऑखोमे कभी सुर्खी नहीं आती थी; हमेशा हॅसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे, बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोके व्यक्तित्व पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरभाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे, अपशब्दमदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात'

---

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर, इस प्रकार हैं—

मद्यागवद्भूतसमागमेज्ञ· शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टि ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥ ३५ ॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषां ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा ! प्रपात ॥ ३६ ॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगत स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोष ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत ! विभ्रमन्ति ॥ ३७ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

तथा ‘ वज्रांकुश ’ की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय माल्लूम नहीं होते थे ।

समंतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्ष-पातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था । समतभद्र स्वय परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रहको बिलकुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें ‘ आप्त ’ रूपसे स्वीकार किया है । वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, बिना परीक्षा किये, केवल दूसरोके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जॉच करनी चाहिये—उसके गुणदोषोंका पता लगाना चाहिये—और तव उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये । ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूस-रोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे । वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे । उनकी सदैव यह घोपणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहल्लूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहल्लुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा । प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अग होते है—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अग-को लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है, और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है । स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध

करता है; सर्वथा सत्-असत्-एक-अनेक-नित्य-अनित्यादि सपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्ततत्त्व ही उसका विषय[1] है । वह सप्तभंग[2] तथा नय[3]विवक्षाको लिये रहता है और हेयादेयका विशेषक है; उसका 'स्यात्' शब्द ही वाक्योंमें अनेकान्तताका द्योतक तथा गम्यका विशेषण है और वह 'कथंचित्' आदि शब्दोंके द्वारा भी अभिहित होता है । यथा—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणं ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥
स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किं वृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥

—देवागम ।

अपनी घोषणाके अनुसार, समंतभद्र प्रत्येक विषयके गुणदोषोंको स्याद्वाद न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हे बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्त पक्षोंके माननेसे

---

१ 'सर्वथासदसदेकानेकनित्यानित्यादिसकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषयः स्याद्वादः' ।—देवागमवृत्ति ।

२ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य, ये सात भग हैं जिनका विशेष स्वरूप तथा रहस्य भगवान् समतभद्रके 'आप्तमीमासा' नामक 'देवागम' ग्रथमे दिया हुआ है ।

३ द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकके विभागको लिये हुए, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत ऐसे सात नय हैं । इनमेंसे पहली तीन 'द्रव्यार्थिक' और शेष 'पर्यायार्थिक' कही जाती हैं । इसी तरह पहली चार 'अर्थनय' और शेष तीन 'शब्दनय' कही जाती हैं । द्रव्यार्थिकको शुद्ध, निश्चय तथा भूतार्थ और पर्यायार्थिकको अशुद्ध व्यवहार तथा अभूतार्थ नय भी कहते हैं। इन नयोंका विस्तृत स्वरूप 'नयचक्र' तथा 'श्लोकवार्तिकादि' ग्रथोंसे जानना चाहिये ।

क्या क्या अनिवार्य दोष आते है और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते है और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य बैठ जाता है * । उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था; वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था । यही वजह थी और यही सब मोहन मत्र था, जिससे समतभद्रको दूसरे संप्रदायोकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्राय नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई ।

यहॉपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते है कि समतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे, वे दूसरोको स्याद्वाद

---

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समतभद्रका ' आप्तमीमासा ' नामक ग्रथ देखना चाहिये, जिसे ' देवागम ' भी कहते हैं । यहॉपर अद्वैत एकातपक्षमे दोषोद्भावन करनेवाले आपके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

> अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
> कारकाणा क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
> कर्मद्वैत फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत ।
> विद्याविद्याद्वय न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥
> हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययो ।
> हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥ २६ ॥
> अद्वैत न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
> सज्ञिन प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होने स्वय अपने जीवनको स्याद्वादके रगमें पूरी तौरसे रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे * । उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग अपने अज्ञान तापको मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे । वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है । उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रथमें नहीं पाया जाता । इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमासा' नामका ग्रंथ, जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रथ है । जैनसाहित्यमे उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रथ उपलब्ध नहीं होता । ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्राय: अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था । समतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है । इसीसे विद्वान् लोग

---

* भट्टाकलङ्कदेवने भी समतभद्रको स्याद्वाद मार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है । साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' (भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलकमनिंद्यवद्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयन परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥

—अष्टशती ।

श्रीविद्यानदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें 'स्याद्वादमार्गानुगै.' विशेषणके द्वारा आपको स्याद्वाद मार्गका अनुगामी लिखा है ।

आपको 'स्याद्वादविद्याग्रगुरु,'[1] 'स्याद्वादविद्याधिपति'[2] 'स्याद्वादशरीर' और 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'[3] जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं। परन्तु इसे भी रहने दीजिये, आठवीं शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टाकलंकदेव जैसे महान्[4] आचार्य लिखते है कि 'आचार्य समन्तभद्रने संपूर्णपदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्य जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्राभावित किया है—अर्थात्, उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। यथा—

> **तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे-**
> **र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।**
> **येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं**
> **कृत्वा विविच्यते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥**

यह पद्य भट्टाकलंककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टाकलंकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारंभ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा रूपसे दिया है। इसमें समंतभद्र और उनके वाङ्मयका जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। समंतभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित

---

१ लघुसमंतभद्रकृत 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका'।

२ वसुनन्द्याचार्यकृत देवागमवृत्ति। ३ श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री।

४ नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६ वे शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलंक-देवको 'महर्द्धिक' लिखा है। यथा—

> जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
> स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः॥

किया, इस परिचयके 'कलिकालमें' (काले कलौ) शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और उनसे दो अर्थोंकी ध्वनि निकलती है—एक तो यह कि, कलिकालमें स्याद्वादतीर्थको प्रभावित करना बहुत कठिन कार्य था, समतभद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्रायः नहीं हो सकता था अथवा नहीं हो सका था; और दूसरा यह कि, कलिकालमें समंतभद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रभावना—महिमा या तो हुई नहीं थी, या वह होकर लुप्तप्राय हो चुकी थी और या वह कभी उतनी और उतने महत्त्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्त्वकी समतभद्रके द्वारा उनके समयमें, हो सकी है। पहले अर्थमें किसीको प्रायः कुछ भी विवाद नहीं हो सकता—कलिकालमें जब कलुषाशयकी वृद्धि हो जाती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रचालित होना कठिन हो ही जाता है—स्वय समंतभद्राचार्यने, यह सूचित करते हुए कि महावीर भगवानके अनेकान्तात्मक शासनमें एकाधिपतित्वरूपी[1] लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्ति है, कलिकालको भी उस शक्तिके अपवादका—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है। यद्यपि, कलिकाल उसमें एक साधारण[2] बाह्य कारण है, असाधारण कारणमें उन्होने श्रोताओंका कलुषित आशय (दर्शनमोहाक्रान्त चित्त) और प्रवक्ता (आचार्य) का वचनानय (वचनका अप्रशस्त निरपेक्ष[3] नयके

१ 'एकाधिपतित्व सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वम्'—इति विद्यानद।
सभी जिसका अवश्य आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेको एकाधिपतित्व या एकाधिपत्य कहते हैं।

२ अपवादहेतुर्बाह्य साधारण कलिरेव काल,—इति विद्यानद।

३ जो नय परस्पर अपेक्षारहित हैं वे मिथ्या हैं और जो अपेक्षासहित हैं वे सम्यक् अथवा वस्तुतत्व कहलाती हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' —देवागम।

साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिकालमें उस शासनप्रचारके कार्यमे कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी सिद्धिको कठिन और जटिल बना देनेवाला—जरूर है । यथा—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समंतभद्र एक महान् वक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिलकुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे, विकार हेतुओंके समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या क्रोध नहीं आता था—और इस लिये उनके वचन कभी मार्गका उल्लंघन नहीं करते थे । उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्रबल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अंशोंमें बदल दिया था । यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित करनेमें बहुत कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष बाधा नहीं डाल सका । वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो, आपके मतकी—शासनकी—वंदना और स्तुति करते हुए, यहाँ तक लिखा है कि उस शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समन्तभद्र मुनिके शासनकालमें यह मालूम नहीं होता था कि आज कल कलिकाल बीत रहा है । यथा—

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरं ।

सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परं
वन्दे तद्धृतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥२॥

—देवागमवृत्ति ।

इस पद्यमें समन्तभद्रके 'मत'को, लक्ष्मीभृत्, परम, निर्वाणसौख्य-प्रद, हतकालदोष और अमल आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, जो देदीप्यमान छत्रकी उपमा दी गई है वह बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी है, और उससे मालूम होता है कि समतभद्रका शासनछत्र सम्यग्ज्ञानों, सुनयों तथा सुयुक्तियों रूपी मुक्ताफलोंसे सशोभित है और वह उसे धारण करनेवालेके कुज्ञानरूपी आतापको मिटा देनेवाला है। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि समंतभद्रका स्याद्वादशासन बड़ा ही प्रभाव-शाली था। उसके तेजके सामने अवश्य ही कलिकालका तेज मंद पड़ गया था, और इसलिये कलिकालमें स्याद्वाद तीर्थको प्रभावित करना, यह समतभद्रका ही एक खास काम था।

दूसरे अर्थके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा मालूम होता है कि समतभद्रसे पहले स्याद्वादतीर्थकी महिमा लुप्तप्राय हो गई थी, समतभद्रने उसे पुनः संजीवित किया है, और उसमें असाधारण बल तथा शक्तिका संचार किया है। श्रवणबेल्गोलके निम्न शिलावाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिसंघके नायक आचार्य समतभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

"आचार्यस्य समंतभद्रगणभृद्येनेहकाले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तादुमुहुः"॥

—५४ वाँ शिलालेख ।

इसके सिवाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनड़ी शिलालेख नं० १४९ में, जो शक स० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी बाबत यह उल्लेख मिलता है कि वे 'श्रुतकेवलि-संतानको उन्नत करनेवाले और समस्त विद्याओके निधि थे।' यथा—

श्रुतकेवलिगलु पलवरुम्
अतीतर् आद् इम्बलिके तत्सन्तानो— ।
न्नतियं समन्तभद्र—
व्रतिपर् त्तलेन्दरु समस्तविद्यानिधिगल् ॥

और बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख न० १७ में भी, जो रामानुजाचार्य-मंदिरके अहातेके अन्दर सौम्य नायकी-मदिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमे उसके उत्तीर्ण होनेका समय शक स० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—**सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए** उदयको प्राप्त हुए। यथा—

श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरुं श्रुतिकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् आगे तंत्......र्त्थमं महस्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगलु सन्दर् .. ।

इन दोनों उल्लेखोंमे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति

१, २ देखो 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' जिल्द पॉचवीं (L. C, V)

२ इस अंशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose.

करनेवाले हुए हैं। नगर ताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें, भद्रबाहुके बाद कलिकालके प्रवेशको सूचित करते हुए, आपको '**कलिकालगणधर**' और '**शास्त्रकर्त्ता**' लिखा है। अस्तु।

समंतभद्रने जिस स्याद्वादशासनको कलिकालमे प्रभावित किया है उसे भट्टाकलंकदेवने, अपने उक्त पद्यमें, 'पुण्योदधि' की उपमा दी है। साथ ही, उसे 'तीर्थ' लिखा है और यह प्रकट किया है कि वह भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेवाला है और इसी उद्देश्यसे प्रभावित किया गया है। भट्टाकलंकका यह सब लेख समंतभद्रके उस वचनतीर्थको लक्ष्य करके ही लिखा गया है जिसका भाष्य लिखनेके लिये आप उस वक्त दत्तावधान थे और जिसके प्रभावसे 'पात्रकेसरी' जैसे प्रखर तार्किक विद्वान् भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं।

भट्टाकलंकके इस सब कथनसे समंतभद्रके वचनोंका अद्वितीय माहात्म्य प्रकट होता है। वे प्रौढत्व, उदारता और अर्थगौरवको लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महिमासे सम्पन्न थे। इसीसे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने आपके वचनोंकी महिमाका खुला गान किया है। नीचे उसीके कुछ नमूने और दिये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको समंतभद्रके वचनमाहात्म्यको समझने और अनेक गुणोंका विशेष अनुभव प्राप्त करनेमें और भी ज्यादह सहायता मिल सकेगी। साथ ही, यह भी मालूम हो सकेगा कि समं-

---

१ यह शिलालेख शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है (E. C, VIII.) इसका अंश समयनिर्णयके अवसर पर उद्धृत किया जायगा।

२ यह विद्यानन्द स्वामीका नामान्तर है। आप पहले अजैन थे, 'देवागम' को सुनकर आपकी श्रद्धा बदल गई और आपने जैनदीक्षा धारण की।

तभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्रायः ठीक ही है।

> **नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था—**
> **दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं ।**
> **स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचःस्वामिनोदः,**
> **प्रेक्षावत्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादं ॥**
>
> —अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें, विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्, **श्रीविद्यानंद** आचार्य, स्वामी समतभद्रके वचनसमूहका जय-घोष करते हुए, लिखते है कि स्वामीजीके वचन नित्यादि एकान्त गर्तोंमें पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ है जो उत्कृष्ट मगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रथित करनेवाले है, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए है अथवा प्रेक्षावान्—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा

---

१ वस्तु सर्वथा नित्य ही है, कूटस्थवत् एक रूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते है और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' वाद कहलाता है। 'देवा-गम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है।

२ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है। युक्त्यनुशासनकी टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' (परीक्षादृष्टि) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

> श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
> साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं ।
> प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै—
> र्विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥

उनकी प्रवृत्ति हुई है, और उन्होंने सपूर्ण मिथ्या प्रवादको विघटित—तितर वितर—कर दिया है।

> प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
> द्विद्यानंदोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय ।
> स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
> भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा ॥
>
> —अष्टसहस्री ।

इस पद्यमें वे ही **विद्यानंद** आचार्य यह सूचित करते है कि समन्तभद्रकी वाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है जो वड़े वडे बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य* है, वह अपने तेजसे सूर्यकी किरणको जीतनेवाली सप्तभगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव—अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयाधकारको दूर करनेवाली है। साथ ही, अपने पाठकोंको यह आशीर्वाद देते है कि वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनतसुख) के उदयके लिये निरंतर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे सपूर्ण क्लेश नाशको प्राप्त हो जायँ। यहाँ '**विद्यानन्दोदयाय**' पदसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और उससे यह सूचित होता है कि समतभद्रकी वाणी विद्यानदाचार्यके उदयका कारण हुई है+ और इसलिये उसके द्वारा उन्होंने अपने और उदयकी भी भावना की है।

---

* अथवा समन्तभद्रकी भारती वडे वडे बुद्धिमानों (प्रज्ञाधीशों) के द्वारा प्रपूजित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है।

+ नागराज कविने, समन्तभद्रकी भारतीका स्तवन करते हुए जो 'पात्रके-

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसध्यानधीराः ।
धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥
अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः ॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, श्लोकवार्तिक, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और जिनैकगुणसस्तुति आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोकी रचना की है, निर्मलमति श्री-समतभद्र मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारसे गुणगान किया है और उसे अलघ्यवीर्य, स्यात्काररूपी अमोघमत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध सद्धयानधीरा[1], उद्भूतमुद्रा[2], (ऊँचे आनदको देनेवाली) एकान्तरूपी प्रबल गरल विषके उद्रेकको दलनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूपी अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है। साथ ही वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सब

सरिप्रभावसिद्धिकारिणी स्तुवे,' यह वाक्य कहा है उससे भी इसका समर्थन होता है, क्योंकि पात्रकेसरी विद्यानन्दका नामान्तर है। समन्तभद्रके देवागम स्तोत्रसे पात्रकेसरीकी जीवनधारा ही पलट गई थी और वे बड़े प्रभावशाली विद्वान् हुए हैं।

१ 'ध्याने परीक्षा तेन धीरा स्थिरा ' इति टिप्पणकार ।

२ ' उद्भूता मुदं रान्ति ददातीति (उद्भूतमुद्रा)' इति टिप्पणकार ।

ओरसे मगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होवे, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये है ।

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिहनियतः सर्वथाकारणादे-
रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति ।
प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः॥

अष्टसहस्रीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समतभद्र) सदा जयवत रहें जो बहुत प्रसिद्ध मुनिराज है, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा विशाल है और जिनके नयप्रमाणमूलक अलध्य उपदेशसे वे महा-उद्धतमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते है जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही है—एक ही हैं ।

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानंदघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

अष्टसहस्रीके इस अन्तिम मगल पद्यमें श्रीविद्यानंद आचार्यने, सक्षेपमें, समतभद्रविषयक अपने जो उद्गार प्रकट किये है

१ अष्टसहस्रीके प्रारभमें जो मगल पद्य दिया है उसमे समतभद्रको 'श्री-वर्द्धमान,' 'उद्भूतबोधमहिमान्' और 'अनिद्यवाक्' विशेषणोंके साथ अभिवदन किया है । यथा—

श्रीवर्द्धमानमभिवद्यसमतभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिंद्यवाचम् ।
शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमासित कृतिरलंक्रियते मयास्य ॥

वे बड़े ही महत्त्वके हैं। आप लिखते है कि ' जिन्होने परीक्षावानोंके लिये संपूर्ण कुनीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोष नीति (स्याद्वादन्याय) को लिये हुए होनेकी वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी, विभु और भानुमान् (सूर्य) श्रीसमन्तभद्र स्वामी कलुषाशयरहित प्राणियोंको विद्या और आनंदघनके प्रदान करनेवाले होवें। ' इससे स्वामी समंतभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व ख्यापित होता है।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कंठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥६॥

—चन्द्रप्रभचरित।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समंतभद्रकी भारती (वाणी) को उस हारयष्टि (मोतियोंकी माला) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों (सूतके धागों) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठका विभूषण बनी हुई है, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त[1]रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका भूषण बनाया है। साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समंतभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयंगम कर लेना—है। और इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समंतभद्रके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।

१ वृत्तान्त, चरित, आचार, विधान अथवा छंद।

श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य भी, अपने 'सिद्धान्तसारसग्रह' में ऐसा ही भाव प्रकट करते है । आप समतभद्रके वचनको 'अनघ' (निष्पाप) सूचित करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ बतलाते है । यथा—

श्रीमत्समंतभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघं ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

शक सवत् ७०५ में 'हरिवशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले **श्रीजिनसेनाचार्यने** समंतभद्रके वचनोको किस कोटिमे रक्खा है और उन्हें किस महापुरुषके वचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ॥ ३० ॥

इस पद्यमें जीवसिद्धिका विधान करनेवाले और युक्तियोंद्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करनेवाले समतभद्रके वचनोंकी बाबत यह कहा गया है कि वे **वीर** भगवानके वचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, अर्थात् अन्तिम तीर्थकर **श्रीमहावीर** भगवानके वचनोंके समकक्ष है और प्रभावादिकमे भी उन्हींके तुल्य है । जिनसेनाचार्यका यह कथन समतभद्रके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रथोंके उल्लेखको लिये हुए हैं, और इससे उन ग्रथों (प्रवचनों) का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।

प्रमाणनयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमबाधितं ।
जीयात्समंतभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

—युक्त्यनुशासनटीका ।

स्पष्टीकरण होता है । अस्तु, इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समंतभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये । उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वतः हो जायगा। समन्तभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके—कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्तिको हटाकर—जगतका हित साधन करना है । समतभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते है—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेपप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

यह 'आप्तमीमासा' ग्रथका पद्य है । इसमें, ग्रथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह 'आप्तमीमासा' उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेपका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना हित चाहते है । ग्रथकी कुछ प्रतियोंमें 'हितमिच्छता' की जगह 'हितमिच्छता' पाठ भी पाया जाता है । यदि यह पाठ ठीक हो तो वह ग्रथरचयिता समतभद्रका विशेपण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमासा हित चाहनेवाले समतभद्रके द्वारा निर्मित हुई है, बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है —दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रथ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेप बोध करानेके लिये ही लिखा गया है ।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेपादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेपोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रका, अन्तिम पद्यसे पहला, पद्य है। इसमें आचार्य महोदयने बड़े ही महत्त्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप **श्रीवर्द्धमान** (महावीर) भगवान्‌को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका [1]स्पष्टाशय इस प्रकार है—

'हे भगवन्, हमारा यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है, क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बध नहीं है; क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश ? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र '**हितान्वेषणके उपायस्वरूप**' आपकी गुणकथाके साथ, कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भवपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोडना—हमें भी

---

१ इस स्पष्टार्थके लिखनेमें श्रीविद्यानन्दाचार्यकी टीकासे कितनी ही सहायता ली गई है।

इष्ट है और इस लिये वह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उपपत्तिका एक हेतु है ।'

इससे स्पष्ट है कि समतभद्रके ग्रथोंका प्रणयन—उनके वचनोका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है। वह आचार्य महोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनो ही बातें पाई जाती है । साथ हीं, यह भी प्रकट है कि समंतभद्रके ग्रथोंका उद्देश्य महान् है, लोकहितको लिये हुए है, और उनका प्रायः कोई भी विशेष कथन गुणदोषोंकी अच्छी जॉचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता ।

यहॉ तकके इस सब कथनसे ऐसा माऌम होता है कि समतभद्र अपने इन सब गुणोके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी अनन्यसाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था । निःसन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यशःकान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनो विभाग कान्तिमान थे,—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था, जैसा कि कवि नरसिंह भट्टके निम्न वाक्यमे पाया जाता है—

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं ।
निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं ॥ २ ॥

—जिनशतकटीका ।

अपने इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समंतभद्र लोकमें 'स्वामी' पदसे खास तौर पर विभूषित थे । लोग उन्हे 'स्वामी' 'स्वामीजी' कह कर ही पुकारते थे, और बडे बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी

उन्हें प्रायः इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है। यद्यपि और भी कितने ही आचार्य 'स्वामी' कहलाते थे परंतु उनके साथ यह विशेषण उतना रूढ नहीं है जितना कि समंतभद्रके साथ रूढ जान पड़ता है—समंतभद्रके नामका तो यह प्रायः एक अंग ही हो गया है। इसीसे कितने ही महान् आचार्यों तथा विद्वानोंने, अनेक स्थानों पर नाम न देकर, केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग द्वारा ही आपका नामोल्लेख किया है * और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी 'स्वामी' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी। निःसंदेह, यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, ऋषिमुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे।

---

* देखो—वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरित' नामका पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है, प० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके 'स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेन त्विमे (अतिचारा), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद, न्यायदीपिकाका 'तदुक्त स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ 'देवागम' की दो कारिकाओंका अवतरण, और श्रीविद्यानन्दाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य जिनमेंसे 'नित्याद्येकान्त' आदि कुछ पद्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं।

भावी तीर्थंकरत्व ।

—:०:—

समंतभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढी हुई थी कि उन्हें रात दिन उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी, उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था, वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें 'विश्वप्रेम' जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योग-परिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निःसीम तथा सर्वातिशायि पुण्यको संचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें 'तीर्थंकर' होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं। आपके 'भावी तीर्थंकर' होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनां ।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थकरो गुणी ॥

—नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोश ।

आ भावि तीर्थकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु . . .

—राजावलिकथे ।

अट्ठ[1] हरी णव पडिहरि चक्कि चउक्कं च एय बलभद्दो ।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण * ॥

श्रीवर्द्धमान महावीर स्वामीके निर्वाणके बाद सैकड़ों ही अच्छे अच्छे महात्मा आचार्य तथा मुनिराज यहाँ हो गये है परतु उनमेंसे दूसरे किसी भी आचार्य तथा मुनिराजके विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे आगेको इस देशमे ' तीर्थकर ' होगे । भारतमें ' भावी तीर्थकर ' होनेका यह सौभाग्य, शलाका पुरुषो तथा श्रेणिक राजाके साथ, एक समंतभद्रको ही प्राप्त है और इससे समतभद्रके इतिहासका—उनके चरित्रका—गौरव और भी बढ जाता है । साथ ही, यह भी माळूम हो जाता है कि आप १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनति-

---

१ इस गाथामें लिखा है कि—आठ नारायण, नौ प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक और समन्तभद्र ये (२४ पुरुष आगेको) नियमसे तीर्थंकर होंगे।

* यह गाथा कौनसे मूल ग्रंथकी है, इसका अभीतक हमें कोई ठीक पता नहीं चला । प० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने इसे स्वयभूस्तोत्रके उस हालके सस्करणमें उद्धृत किया है जिसे उन्होंने सस्कृतटीका तथा मराठीअनुवादसहित प्रकाशित कराया है । हमारे दर्याफ्त करने पर पडितजीने सूचित किया है कि यह गाथा ' चर्चासमाधान ' नामक ग्रंथमें पाई जाती है । ग्रंथके इस नाम परसे ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह गाथा उद्धृत ही होगी और किसी दूसरे ही पुरातन ग्रंथकी जान पड़ती है ।

भावी तीर्थकरत्व ।

समंतभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढी हुई थी कि उन्हें रात दिन उसीके संपादनकी एक धुन रहती थी, उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था, वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें 'विश्वप्रेम' जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योग-परिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निःसीम तथा सर्वातिशायि[1] पुण्यको संचित किया माल्म होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें '**तीर्थंकर**' होनेवाले है—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले है। आपके 'भावी तीर्थंकर' होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते है—

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र० ।

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥

—जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय ।

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थंकर परमदेवेन—'कालेकल्पशतेऽपिच' (इत्यादि 'रत्नकरंडक'का पूरा पद्य दिया है।)

—श्रुतसागरकृत षट्प्राभृतटीका ।

---

१ सर्वातिशायि तत्पुण्य त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् । —श्लोकवार्तिक ।

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥ ११४ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमे मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—,मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मै पूजन भी आपका ही करता हू, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करनेके निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमे लीन रहते हैं, मेरी ऑखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है[1] और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है, इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मै निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजः-पते ! (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान) हूँ ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था । अर्हद्गुणोंमें इतनी

१ समतभद्रके इस उल्लेखने ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रथ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुति-ग्रथों—का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था । आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयभू नामके स्तोत्र इस ग्रथसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हो ।

चार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे प्रायः युक्त थे—इनकी उच्च तथा गहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भावित था—क्योंकि, दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्त रूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामा 'नामकर्म'की महा पुण्यप्रकृतिके आस्रवके कारण कहे गये है * । इन गुणोका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रंथोंमें विशद रूपसे दिया हुआ है, इस लिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं है । हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ, समतभद्रकी '**अर्हद्भक्ति**' बहुत बढी चढी थी, वह बड़े ही उच्च कोटिके विकासको लिये हुए थी । उसमें अंधश्रद्धा अथवा अंधविश्वासको स्थान नहीं था, गुणज्ञता, गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष थी । अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समंतभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते है । उन्होंने स्वय भी इस बातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुतिशतक' के अन्तमें लिखते है—

---

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४ वॉ सूत्र, और उसके 'श्लोकवार्तिक' भाष्यका निम्न पद्य—

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विता. ॥

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥ ११४ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमे मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मै पूजन भी आपका ही करता हू, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करनेके निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमे लीन रहते है, मेरी आखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है, इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मै निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसीलिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हू और सुकृती (पुण्यवान) हूँ ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी

१ समंतभद्रके इस उल्लेखसे ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रंथ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुतिग्रंथों—का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था। आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू नामके स्तोत्र इस ग्रंथसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समन्तभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों।

अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थंकर होनेके योग्य पुण्य सचय कर सके है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है । अर्हद्गुणोकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा है और यह बिलकुल ठीक है । समतभद्रके जितने भी ग्रथ पाये जाते है उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष सब ग्रंथ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए है और उनसे समतभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है । 'जिनस्तुतिशतक' के सिवाय, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयभू स्तोत्र, ये आपके खास स्तुतिग्रन्थ है । इन ग्रथोमें जिस स्तोत्रप्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समंतभद्रसे पहलेके ग्रथोमें प्रायः नहीं पाई जाती अथवा बहुत ही कम उपलब्ध होती है । समंतभद्रने, अपने स्तुतिग्रथोंके द्वारा, स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार तथा सस्कार किया है और इसी लिये वे '**स्तुतिकार**' कहलाते थे । उन्हें '**आद्य स्तुतिकार**' होनेका भी गौरव प्राप्त था । श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहेमचंद्रने भी अपने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' व्याकरणके द्वितीय सूत्रकी व्याख्यामें "**स्तुतिकारोऽप्याह**" इस वाक्यके द्वारा आपको 'स्तुतिकार' लिखा है और साथ ही आपके 'स्वयभूस्तोत्र' का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना[1] इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला[2] यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिणः ॥

१–२ सनातनजैनग्रथमालामे प्रकाशित 'स्वयभूस्तोत्र' मे और स्वयभूस्तोत्रकी प्रभाचद्राचार्यविरचित सस्कृतटीकामे 'लाछना इमे' की जगह 'सत्यलाञ्छिता' और 'फल' की जगह 'गुणाः' पाठ पाया जाता है ।

इसी पद्यको श्वेताम्बराग्रणी **श्रीमलयगिरिसूरिने** भी, अपनी 'आवश्यकसूत्र'की टीकामे, '**आद्यस्तुतिकारोऽप्याह**' इस परिचय-वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समन्तभद्रको '**आद्यस्तुतिकार**'—सबसे प्रथम अथवा सबसे श्रेष्ठ स्तुतिकार—सूचित किया है। इन उल्लेखवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि समन्तभद्रकी 'स्तुतिकार' रूपसे भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसी लिये 'स्तुतिकार'के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत नही समझी गई।

समन्तभद्र इस स्तुतिरचनाके इतने प्रेमी क्यो थे और उन्होंने क्यों इस मार्गको अधिक पसद किया, इसका साधारण कारण यद्यपि, उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है, परन्तु, यहॉपर हम उन्हींके शब्दोंमें इस विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है और साथ ही यह प्रकट कर देना चाहते है कि समन्तभद्रका इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हे किस महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे। आप अपने 'स्वयम्भूस्तोत्र' में लिखते हैं—

> **स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,**
> **भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।**
> **किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे**
> **स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥**

---

१ इसपर मुनि जिनविजयजी अपने 'साहित्यसशोधक' के प्रथम अकमें लिखते हैं—" इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि ये (समन्तभद्र) प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे, इतना ही नहीं परन्तु आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मानप्राप्त थे।"

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परतु साधु स्तोताकी स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है, और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है । जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तव, हे सर्वदा अभिपूज्य **नमिजिन,** ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा ।

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्र इन अर्हत्स्तोत्रोंके द्वारा श्रेयो मार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें '**जन्मारण्यशिखी**'[1] —जन्ममरणरूपी ससार वनको भस्म करनेवाली अग्नि–तक लिखा है और ये उनकी उस निःश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे । इसी लिये उन्होंने इन 'जिन-स्तुतियों' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था । यही वजह थी कि ससारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई वाधक नहीं था, वह नाशरहित थी । 'जिनस्तुतिशतक'के निम्न वाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतोऽपिनोन्नतिहतिर्नन्तुश्च[2] येषां मुदा * ।'

---

१ 'जन्मारण्यशिखी स्तव.' ऐसा 'जिनस्तुतिशतक' मे लिखा है ।

२ येषा नन्तु· (स्तोतु) मुदा (हर्षेण) वन्दीभूतवतोऽपि (मंगलपाठकी भूतवतोऽपि नम्राचार्यरूपेण भवतोपि मम) नोन्नतिहति (न उन्नते· माहात्म्यस्य हति हननं) ।—इति तट्टीकाया नरसिंह ।

* यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रंथमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

इसमें, थोड़े ही शब्दों द्वारा, अर्हद्भक्तिका अच्छा माहात्म्य प्रदर्शित किया है—यह बतलाया है कि 'हे नाथ, जिस प्रकार लोहा स्पर्शमणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज आ जाता है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशद) ज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत तथा गंभीर हो जाता है।'

माळूम होता है समतभद्र अपनी इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण ही अर्हद्भक्तिमें सदा लीन रहते थे और यह उनकी इस भक्तिका ही परिणाम था जो वे इतने अधिक ज्ञानी तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके वचन अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको लिये हुए थे।

समतभद्रका भक्तिमार्ग उनके स्तुतिग्रंथोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी[1] ऐकान्तता तो उनके पास भी नहीं

जन्मारण्यशिखी स्तव स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
भक्ताना परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषा मुदा
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥ ११५ ॥

१ जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे, इसीसे 'देवागम'में एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—"न मिथ्यैकान्ततास्ति न. ।"

फटकती थी। वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नही मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हतदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विपय बनाया है उनमे, उनके द्वारा, एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है। अर्हन्त देवने अपने न्यायवाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उसके प्रतिपेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य विभूतिके सम्राट् बने है, इसी लिये समन्तभद्र उन्हे लक्ष्य करके कहते हैं कि आप मेरी स्तुतिके योग्य है—पात्र है। यथा—

एकान्तदृष्टिप्रतिपेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट्, ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ५५

—स्वयभूस्तोत्र ।

इसमे समतभद्रकी साफ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि १ एकान्तदृष्टिका प्रतिपेध करना और २ मोहशत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो उनके जीवनके खास उद्देश्य थे। समतभद्र अपने इन उद्देश्योको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए है। यद्यपि, वे अपने इस जन्ममें कैवल्य विभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परतु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः सपूर्ण योग्यताओंका सपादन कर लिया है यह कुछ कम सफलता नहीं है— और इसी लिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट् होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। केवलज्ञान न होने पर भी, समतभद्र उस स्याद्वादविद्याकी अनुपम विभूतिमे विभूपित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्व तत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमे तथा केवलज्ञानमे साक्षात्-असाक्षात्का ही भेद माना गया

है * । इस लिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बंधमें आपका ज्ञान बहुत बढा चढा था, इसमें जरा भी संदेह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके कितने ही अवतरणों तथा समतभद्रके ग्रंथोसे बहुत कुछ हो जाता है। यही वजह है कि श्री**जिनसेनाचार्य**ने आपके वचनोको केवली भगवान महावीरके वचनोके तुल्य प्रकाशमान लिखा है और दूसरे भी कितने ही प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोने आपकी विद्या और वाणीकी प्रशसामें खुला गान किया ह + ।

यहाँ तकके इस सपूर्ण परिचयसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और इसमे जरा भी सदेह नहीं रहता कि समन्तभद्र एक बहुत ही बडे महात्मा थे, समर्थ विद्वान् थे, प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वाद विद्याके नायक थे, एकात पक्षके निर्मूलक थे, अबाधितशक्ति थे, 'सातिशय योगी' थे, सातिशय वादी थे, सातिशय वाग्मी थे, श्रेष्ठकवि थे, उत्तम गमक थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशात थे, गभीर थे, भद्रप्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हितमितभाषी थे, लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोसे वद्य थे, बडे बड़े आचार्यों तथा विद्वानोसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे।

---

* यथा—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद. साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्॥ १०५॥
—आप्तमीमासा।

+ श्वेताम्बर साधु मुनिश्री जिनविजयजी कुछ थोड़ेसे प्रशसा वाक्योंके आधार पर ही लिखते हैं—"इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो।"—जैन सा० स० १।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान्[1] समंतभद्र स्वामीके विषयमे श्री**शिवकोटि** आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' मे जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रको बढानेके लिये चद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमें बडी प्यारी माळूम देती है । निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य है कि उन्हें निरतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते हैं—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



[1] श्रीविद्यानदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमे कई बार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है ।

मुनि-जीवन और आपत्काल।



स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शात मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समन्तभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है—

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे, ईर्या-भाषा-एषणादि पचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरतर पुष्ट बनाते थे, पाँचों इद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषाय-भावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसी लिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक कर्वटसे दूसरी कर्वट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीव-जतुको बाधा पहुँच जाय, वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान् समतभद्र स्वामीके विषयमे श्री**शिवकोटि** आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' मे जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रके बढानेके लिये चद्रमा है' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमें बड़ी प्यारी माछूम देती है। निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य है कि उन्हें निरतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते है—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



१ श्रीविद्यानंदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमें कई बार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है।

मुनि-जीवन और आपत्काल।



स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समन्तभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है—

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे, ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुष्ट बनाते थे, पाँचो इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसी लिये वे दिनमे मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक कर्बटसे दूसरी कर्बट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीव-जंतुको बाधा पहुँच जाय, वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

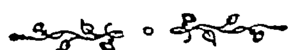
ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान्[1] समतभद्र स्वामीके विषयमे श्री**शिवकोटि** आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' मे जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासन समुद्रको वढानेके लिये चद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और हमे वडी प्यारी माछ्म देती है। निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य है कि उन्हें निरतर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये हम, शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँपर उद्धृत करते है—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥



१ श्रीविद्यानंदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमे कई वार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है।

मुनि-जीवन और आपत्काल ।



स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे हम आपका 'आपत्काल' कहते हैं । वह विपत्ति क्या थी और समन्तभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है । नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनसहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है—

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे, ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुष्ट बनाते थे, पाँचो इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे । वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसी लिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक कर्वटसे दूसरी कर्वट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीव-जंतुको बाधा पहुँच जाय, वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकान्त स्थानमें

क्षेपण करते थे । इसके सिवाय, उन पर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं रखते थे, जगलमें यदि हिंस्र जतु भी उन्हें सताते अथवा डस मशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे वलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्याना-वस्थामें अपने शरीर पर होनेवाले चींटी आदि जतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे । वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही, उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तवन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमे जरा भी दोष नहीं देते थे ।

समन्तभद्र सत्यके वड़े प्रेमी थे, वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं वल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोको पीडा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे, और कितनी ही वार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे । स्त्रियोंके प्रति आपका अनादर भाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे, वल्कि माता, वहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे, साथ ही, मैथुन कर्मसे, घृणात्मक दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उनमे द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे । इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे

१ आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणमे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरडक' मे दिया है—

> मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम् ।
> पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥ १४३ ॥

२ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरभ न होता हो उसीके द्वारा उस अहिंसाकी पूर्ण सिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परम ब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अतरग और बहिरग दोनो प्रकारके परिग्रहोंका त्याग किया था और नैर्ग्रंथ्य आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौडी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौडी पैसेसे सम्बंध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमडलु), सयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक)के रूपमे जो कुछ थोडीसी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय आपको इसकी जरा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी सस्कारित अथवा मडित नहीं करते थे, यदि पसीना आकर उस पर मैल जम जाता था तो उसे स्वय अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलारूप दिखलानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे, बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्यभावसे जीतकर कर्मफलको धोनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे, इसीसे आपने अपने एक परिचयमे, गौरवके साथ अपने आपको **'नग्नाटक'** और **'मलमलिनतनु'** भी प्रकट किया है।

समतभद्र दिनमें सिर्फ एक वार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रथमुभय,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरत ॥ ११९ ॥
—स्वयभूस्तोत्र।

१ 'काच्या नग्नाटकोह मलमलिनतनु' इत्यादि पद्यमें।

शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे। वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हे यह माळूम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि (मेहमान) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे। उन्हे उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष माळूम पडता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित अनुमोदनाद्वारा दूर रखना चाहते थे। वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वय अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अश उन्हें भक्तिपूर्वक भेट करके शेपमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोवारा आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो। आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे। भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेसे उन्हें कोई भी दोप माळूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड देते थे और इस अलाभके कारण चित्त पर जरा भी मैल नहीं लाते थे। इसके सिवाय आपका भोजन परिमित और सकारण होता था। आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परतु आप उसमें अक्सर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि विना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेप बाधा नहीं आती तो

कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे, अपनी शक्तिको जॉचने और उसे बढानेके लिये भी आप अक्सर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्ति पर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधन मात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और सयमादिकी वृद्धि सिद्धि तथा स्थितिका सहायक मात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारिरिक बलको बढाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हे उसके द्वारा इष्ट नहीं था, वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्राय: विना चबाये ही—विना उसका रसास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको कायम रखनेके उद्देशसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी जरूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इंद्रियविषय पुष्ट होता है, इंद्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उलटा तृष्णा बढ जाती है, तृष्णाकी वृद्धि निरतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव ससारमें अनेक प्रकारकी दु:खपरम्परासे पीडित होता है * इस लिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इंद्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी

---

* शतह्रदोन्मेष चलं हि सौख्य, तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतु ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादी ॥ १३ ॥
—स्वयम्भूस्तोत्र।

परिणतिके कारण समंतभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और निर्ममत्व रहते थे—उन्हे भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—, वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हलका-भारी, कड़ुआ कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे, घंटों तक कार्योत्सर्गमें स्थित हो जाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक[1] तपकी वृद्धिके लिये अपनी शक्तिको न छुपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे। इसके सिवाय नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रंथरचना और परहितप्रतिपादनादि कितने ही धर्म-कार्योंमे खर्च होता था। आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली'[2] ग्राममें धर्मध्यानसहित आनन्दपूर्वक अपना मुनिजीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्व-संचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें '**भस्मक**'

---

१ बाह्य तप परमदुश्चरमाचरन्स्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस परिबृंहणार्थम् ॥८३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

२ ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' मे दिया है। यह 'कांची' के आसपासका कोई गाँव जान पड़ता है।

नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया* । इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है कि समंतभद्रके शरीरमे उस समय कफ क्षीण हो गया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढकर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजीसे जठराग्निको अत्यंत प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता ह और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विरूक्ष शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमे भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यंत तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, स्निग्ध, शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमे अथवा तृप्तिपर्यंत सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमासादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमे रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है + । इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने शुरूशुरूमे

---

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान् ।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुःखदायक ।
तीव्रकष्टप्रद कष्ट भस्मकव्याधिसंज्ञक ॥

—समन्तभद्रकथा, पद्य न० ४, ५।

+ कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ ।
अतिप्रवृद्ध पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात् ।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून् ।

—इति भावप्रकाश

उसकी कुछ पर्वाह नहीं की । वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादिक तपोंके अवसर पर जिस प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी पूर्व अभ्यासके वल पर, उसे सह लिया—परंतु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बडा अन्तर था, वे इस वढती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे, पहले भोजनसे घटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था, परतु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलने पर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना प्रारभ कर देती थी । समन्तभद्रको इससे वड़ी वेदना होती थी, क्षुधाकी समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं, कहा भी गया है—

"नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ।
स्वोष्मणा पावकस्थाने वलमग्नेः प्रयच्छति ॥
तथा लब्धवलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनल ।
परिभूय पचत्यन्न तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहु. ॥
पक्वान्नं सतत धातून् शोणितादीन्पचत्यपि ।
ततो दौर्वल्यमातकान् मृत्युं चोपनयेन्नर ॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांतिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छा स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवा ॥"
"तमत्याग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्वलै. ।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ॥"

—इति चरकः ।

'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना ।'

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसर पर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोबारा भोजन करना अथवा रोगोपशांतिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इस लिये समंतभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे "हे आत्मन्, तूने अनादि कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नरक पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है, उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी भी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो परंतु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिये उनसे कोई लाभ नहीं हो सका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सब तेरे ही पूर्व कर्मका दुर्विपाक है। साम्यभावसे वेदनाको सह लेने पर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंकी उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।" इस तरह पर समतभद्र अपने साम्यभावको दृढ़ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय वे इस शरीरको कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादिक बाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी नित्यकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर था—मूलगुणोंकी तरह लाजमी नहीं था—उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित कर दें। उन्होंने

वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे, इसके सिवाय रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिआयतें मिल सकती थीं वे भी प्राय. सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परतु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको जरा भी शाति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी, जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीरका रसरक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वालाएँ शरीरके अगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और नित्यका स्वल्प भोजन उनके लिये जरा भी पर्याप्त नहीं होता था—वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके सिवाय यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज्यादा गजब हो जाता था—क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परतु समतभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तरज्ञानी थे, सपत्ति-विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदु.खभावित[1] नहीं था जो दु.खोंके आने पर क्षीण

---

[1] अदु खभावित ज्ञान क्षीयते दु खसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबल दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥

—समाधितत्र ।

हो जाय, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहन कर अच्छा अभ्यास किया था, वे आनंदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते थे* और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे जरा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढती जारही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है, साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये है, तब आपको बड़ी हीं चिन्ता पैदा हुई। आप सोचने लगे—“ इस मुनिअवस्थामे, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषो, चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ, इस भयंकर रोगकी शातिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती† । मुनि पदको कायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इस लिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये

---

* आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृत घोरं भुजानोऽपि न खिद्यते ॥
—समाधितत्र ।

† जो लोग आगमसे इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्डशुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हे यह वतलानेकी जरूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये वैसे ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पडता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नही है, वल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्राय एक कारण है—फिर ‘भस्मक’ जैसे रोगकी शातिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है।

और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्याग-नेके लिये तयार हो जाना चाहिये, परंतु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है? जिस मुनिधर्मके लिये मै अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मै बडे प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मै छोड दूँ? क्या क्षुधाकी वेदनासे घबडाकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड दें? क्या इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूं? यह नहीं हो सकता। क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा? क्या मृत्यु नहीं आएगी? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या है? उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है? * मै दुःखोंसे बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोडूँगा, भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता, मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिए मेरी परीक्षाका यही समय है, मै मुनिधर्मको नहीं

---

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविषयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र'के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

'क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्' ॥१८॥

छोडूँगा ।” इतनेमें ही अतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज आई– “समतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैनशासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमे समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे; यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़ दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमे कौनसी हानि है? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे जरा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हर दम तेरे साथ ही रहेगा, तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे; परंतु भावोकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है? इसे आपद्धर्मके तौर पर ही स्वीकार कर, तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे गौण क्यों किये देता है? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर–अल्प कालके लिये मुनिपदको छोडकर–बहुतोका भला कर सके तो इससे तेरे चरित्र पर जरा भी कलक नही आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्यमान होगा, अतः तू कुछ दिनोंके लिये इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शात करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है, इस रोगसे मुक्त होने पर, स्वस्थावस्थामे, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा, अब विलम्ब करनेकी जरूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।”

इस तरह पर समतभद्रके हृदयमें कितनी ही देरतक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि

"क्षुदादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है, लोकका हित वास्तवमे लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मै करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका, परंतु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मै उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय लोकहितकी आशा पर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इस लिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत जरूर ले लेना चाहिये और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठकर शांतिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समंतभद्र सल्लेखना व्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध, और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेवके[1] पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारावस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है, * यह विनम्र प्रार्थना की कि 'अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।' समंतभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुनकर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समंतभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली और फिर अपने

---

१ 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समंतभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समंतभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परंतु यह मालूम नहीं हो सका कि उनका क्या नाम था।

* उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥

—रत्नकरंडक।

योगबलसे माल्म किया कि समतभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं, यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दी गई तो वह अकालहीमें कालके गालमें चला जायगा और उससे श्रीवीरभगवानके शासन कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी, साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समतभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा "वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासनकार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बडी जरूरत है, इस लिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेषमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहीं पर खुशीसे चले जाओ और उसी वेपको धारण कर लो, रोगके उपशात होने पर फिरसे जैनमुनि-दीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कामोंको सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसी लिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेपको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।"

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उस आवाजको स्मरण करके समतभद्रका यह निश्चय हो गया कि इसीमें जरूर कुछ हित है, इस लिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समन्तभद्रको यह चिन्ता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन । अपने मुनिवेषको छोड़नेका खयाल आते ही उन्हे फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे-" जिस दूसरे वेषको मै आज तक विकृत और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा ? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है ?-हॉ, ऐसी ही आज्ञा है । उन्होंने स्पष्ट कहा है ' यही मेरी आज्ञा है, '-' चाहे जिस वेषको धारण कर लो, रोगके उपशात होने पर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना ' तब तो इसे अलघ्य शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये । यह ठीक है कि मै वेष (लिंग) को ही सब कुछ नहीं समझता-उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता-वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्माका ससार है, इस लिये मुझ मुमुक्षुका-ससार बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका-किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता*, फिर भी मै वेषके विकृत और अविकृत ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता है । इसीसे, यद्यपि,

---

१—...ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरत· ॥—स्वयभू० ।

* श्रीपूज्यपादके समाधितत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है, यथा—

लिंग देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भव ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहा ॥ ८७ ॥

अर्थात्—लिंग (जटाधारण नग्नत्वादि) देहाश्रित है और देह ही आत्माका ससार है, इस लिये जो लोग लिंग (वेष) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे ससारबधनसे नहीं छूटते ।

उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी परंतु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मै खुद ही हूँगा न ? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पडेगा ! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है । अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी अब क्या है ? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ, तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता, मै खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परतु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े । मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें मै उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ, और इस लिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा । मुनिपदको छोडकर मै 'क्षुल्लक' हो सकता था, परंतु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिये भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है, जिससे उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए रोगोपशांतिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इस लिये मै उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा । बिलकुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है । इसके सिवाय मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाजत नहीं देती कि—मै अपने भोजनके लिये किसी व्यक्तिविशेषको कष्ट दूँ, मै अपने भोजनके लिये ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमे खास मेरे लिये किसीको भी भोज-

नका कोई प्रबंध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे ।"

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देहसें भस्मको मलते हुए आपकी आँखे कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आँखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। सघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावीकी अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिन्तवन कर रहे थे। समतभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमे भस्म और अतरङ्गमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा माछूम होता था कि एक महाकान्तिमान रत्न कर्दमसे लिप्त हो रहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी विगाड नहीं सकता* अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समंतभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शात बनाने—के लिये यह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु। सघको अभिवादन करके अव समतभद्र एक वीर योद्धाकी तरह, कार्यसिद्धिके लिये, 'मणुवकहल्ली'से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समतभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'काची' पहुँचे और वहाँ '**शिवकोटि**' राजाके पास, सभवत: उसके

---

* अन्त स्फुरितसम्यक्त्वे वहिर्व्याप्तकुलिंगकः ।
शोभितोऽसौ महाकान्ति कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥
—आ० कथाकोश ।

'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया, राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया, धर्मकृत्योंका हाल पूछे जाने पर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिरनिर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग[1] परिमाण तडुलान्न विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया, इस पर समतभद्रने, यह कह कर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवद्यको शिवार्पण[2] करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमे अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरभ की और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया। सपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बडा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेट किया परतु पहले दिन प्रचुरपरिमाणमें तृप्तिपर्यत भोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशात होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समतभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको

---

१ 'खडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमे वर्णी नेमिसागरजीने, प० शातिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधार पर हमें यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रान्तमें २०० सेरका, मैसूर प्रान्तमे १८० सेरका, हेगडदेवनकोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास काचीमें कितने सेरका खडुग प्रचलित था। सभवत वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

२ 'शिवार्पण' में कितना ही गूढ अर्थ सनिहित है।

देवप्रसाद बतलाया, परतु राजाको उससे सतोप नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया तब राजाका सदेह बढ गया और उसने पॉचवें दिन मदिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजेको खोल डालनेकी आज्ञा दी। दरवाजेको खोलनेके लिये बहुतसा कलकल शब्द होने पर समतभद्रने उपसर्गका अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार-पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिलकुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्रचित्तसे श्रीवृपभादि चतुर्विंशति तीर्थकरोकी स्तुति करना आरभ किया। स्तुति करते हुए समतभद्रने जब आठवे तीर्थकर श्रीचद्रप्रभ स्वामीकी भलेप्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की, तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्य शक्तिके प्रतापसे, चद्रलाछनयुक्त अर्हंत भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समतभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेप तीर्थकरोंकी स्तुति करनेमे तल्लीन हो गये। दरवाजा खुलते ही इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन' सहित, योगिराज श्रीसमतभद्रको दडवत नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पडा। समतभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा ससार-देह-भोगोंसे विरक्त हो गया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने

---

१ इसी स्तुतिको 'स्वयभूस्तोत्र' कहते हैं।

ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक हो गये * ।

इस तरहपर समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ हो जानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखमे[1] भी, जो आजसे करीब आठ सौ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शांति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चद्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

> वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः।
> आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर है, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हे उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (बिम्ब-रूपमे) 'चंद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी

---

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ९२ पर उद्धृत किया है। इस पाठका अनुवाद हमे वर्णी नेमिसागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

[1] इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है, इसे 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है।

जैन मार्ग (धर्म) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गण-नायक आचार्य समन्तभद्र पुनः पुनः वंदना किये जानेके योग्य है ।

इस परिचय में, यद्यपि, 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परंतु जिन घटनाओंका इसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय' से ही सम्बन्ध रखती है । 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है । उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समन्तभद्रद्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है । साथ ही उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवत 'कांची' ही होगी । यथा—

"(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयंम्वादिस्तोटकोत्कीरग(?)[1]रुद्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशःश्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम् * "

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समन्तभद्रके प्रधान शिष्य थे । यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥[2]

—विक्रान्तकौरव ।

---

१ 'स्वस्ति' से 'कोरग' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है ।

* 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ ली, पृ० ३८ ।

२ यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' की प्रशस्तिमें भी पाया जाता है ।

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः ।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—श्र० शिलालेख ।

‘ विक्रान्तकौरव ’ के उक्त पद्यमें ‘शिवकोटि’ के साथ ‘शिवायन’ नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे ‘राजावलिकथे’ में ‘शिवकोटि’ राजाका अनुज (छोटाभाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समतभद्रसे जिनदीक्षा ली थी; * परतु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पडता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमे तत्त्वार्थसूत्रके पहले ‘ एतत् ’ शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि ‘ इस ’ तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलवनके लिये यष्टि बना हुआ है । जान पड़ता है यह पद्य¹ उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि ‘ शिवकोटि ’ आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे + । आश्चर्य नहीं जो ये ‘ शिवकोटि ’ कोई राजा ही हुए हों ।

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस...संसारशरीरभोगनिर्वेगदि श्रीकठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु शिवायनं गूडिय आ मुनिपराळिये जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि.... ।

१ इससे पहले दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं, और वे ऊपरसे ‘गुणादिपरिचय’में उद्धृत किये जाचुके हैं ।

+ नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमे भी ‘ शिवकोटि ’ आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है (E. C. VIII.) ।

देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
> सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथम् ।
> निष्णातं नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
> भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये ॥

यह पद्य द्व्यर्थक है, और इस प्रकारके द्वयर्थक त्र्यर्थक पद्य बहुधा ग्रंथोंमें पाये जाते है। इसमें बुद्धिवृद्धिके लिये जिस 'यतिपाति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समन्तभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित हो जाते है। 'अकलंक भावकी व्यवस्था करनेवाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानन्द जैसे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे पद्यमें, जो ऊपर उद्धृत भी किया जाचुका है, समन्तभद्रके मतको नमस्कार किया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा [illegible] तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगल पद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समन्तभद्रदेव' को नमस्कार

किया है और दूसरे अर्थमें वही समंतभद्रदेव 'परमात्मा'का विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत है। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें **'भेत्तारं वसुपालभावतमसः'** भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावान्धकारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा'का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजाके भावांधकारको दूर[1] किया है। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है, परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पडती है और इस लिये हम इसपर अधिक जोर देना नहीं चाहते।

ब्रह्म[2] नेमिदत्तके 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है—साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि

१ श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावांधकारको दूर किया था।

२ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

किया है और दूसरे अर्थमे वही समतभद्रदेव 'परमात्मा'का विशेषण किया गया है । यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने ।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोसे यह बात और भी दृढ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत है । अस्तु, उक्त यतिपतिके विशेषणोंमे **'भेत्तारं वसुपालभावतमसः'** भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावान्धकारको दूर करनेवाले' । 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा'का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह माऌम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजाके भावांधकारको दूर[1] किया है । बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो । इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है, परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये हम इसपर अधिक जोर देना नहीं चाहते ।

ब्रह्म[2] नेमिदत्तके 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है—साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि

१ श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावांधकारको दूर किया था ।

२ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । आपने वि० स० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है । आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है ।

और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिलकुल ही अधकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमे शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परतु जो मिलता है और मिल सकता है उसको सकलित करनेका भी अभीतक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे सस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रंथोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिनकी ओर अभी तक प्राय· कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए है और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी सभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिव-कोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँपर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और वह समीकरण विशेष अनुसधानकी अपेक्षा रखता हो। परतु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जासकता है।

---

* शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवस्कदवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्व), शिवकुमार (कुन्दकुन्दका शिष्य), शिवस्कदवर्मा हारितीपुत्र (कदम्व), शिवस्कद शातकर्णि (आन्ध्र), शिवमार (गग), शिवश्री (आन्ध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। सभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

'राजावलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे हमारी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी—बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी है जो ठीक नहीं जँचतीं। इस कथामें लिखा है कि—

"कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करनेके लिये समर्थ (स्निग्धादि) भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इस लिये समन्तभद्र कांचीको छोडकर उत्तरकी ओर चले दिये। चलते चलते वे 'पुण्ड्रेन्द्र नगर' में पहुँचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परंतु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शांतिके योग्य आहारका अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें पहुँचे। इस नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारि साधुओंको भक्तजनोंद्वारा प्रचुर परिमाणमे सदा विशिष्टाहार भेट किया जाता है, आपने बौद्ध वेपका परित्याग किया और भागवत वेप धारण कर लिया, परंतु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शांत करनेमे समर्थ न हो सका

---

१ 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्द्र नगर'से उत्तर बंगालके इन्द्रपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपेहुए 'आराधनाकथाकोश'मे ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

और इस लिये आप यहाँसे भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकों-में घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ आपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमे प्रवेश किया। इस शिवालयमे शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देख कर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शात हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगो तथा राजाको आश्चर्यमे डालकर शिव-को भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमे (पूर्णैः कुम्भशतैर्युक्त=भरे हुए सौ घड़े जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिक-को बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योगबलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हे ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शात हो गई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जानेके कारण वह सबका सब नैवेद्य प्रायः ज्योका त्यो बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण

पूछा। उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि ‘ तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवल-ज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं। यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिंग) विदीर्ण हो जायगा—खड खड हो जायगा—इसीसे मै नमस्कार नहीं करता हूँ ’। इस पर राजाका कौतुक बढ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—‘ यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्का-रके सामर्थ्यको जरूर देखना है। समतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया। राजाने ‘ एव-मस्तु ’ कह कर उन्हें मंदिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया। दो पहर रात बीतने पर समंतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया। वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समंतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम **“स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले ”** इस पदसे प्रारभ करके चतुर्विंशति तीर्थकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा। समतभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये। सबेरे (प्रभातसमय) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही। इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढना प्रारभ किया। जिम-वक्त ‘ चद्रप्रभ ’ भगवानकी स्तुति करते हुए **‘ तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं ’** यह वाक्य पढा गया उसी वक्त वह ‘शिवलिंग’ खण्ड खण्ड हो गया और उस स्थानसे **‘चंद्रप्रभ’** भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान्

जयकोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महा सामर्थ्यवान् अव्यक्तलिंगी कौन हैं? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिंडः
पुण्ड्रोण्ड्रे (१) शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशि[2]धरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स [3]वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी ॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगिवेष छोड़कर जैननिर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियोंको वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्मम श्रद्धा हो गई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़कर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली*।”

१ संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र' उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

२ कहींपर 'शशधरधवल' भी पाठ है जिसका, अर्थ चन्द्रमाके समान उज्वल होता है।

३ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

* ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उसका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको देखनेका हमे अभी तक कोई अवसर नहीं मिल सका। हालमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने हमारी

नेमिदत्तके इस कथनमे सवसे पहले यह वात कुछ जीको नः लगती कि ' काची ' जैसी राजधानीमे अथवा और भी वडे वड़े नगरो, शहरो तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शात करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समंतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारो मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमे ही वहुतसी ऐसी दानशालाएँ थी जिनमे साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था और इस लिये जो घटना काशी (बनारस) मे घटी वह वहॉ भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब सस्थाओसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमे काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमे नही आता। कथामे भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं वतलाया गया—सामान्यरूपसे

प्रेरणासे, दोनो कथाकोशोमे दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्राय समान पाया है। आप लिखते है—"दोनोंमे कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्राय पूर्ण पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमे कही कही थोडे वहुत शब्द—विशेपण अव्यय आदि—अवश्य वढा दिये गये है। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वे श्लोकमे 'पुण्ड्रेन्द्र नगरे' लिखा है, परन्तु गद्यकथामे 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकाना स्थाने' की जगह 'वन्दकाना वृहद्विहारे' पाठ दिया है। १२ वे पद्यके 'वौद्धलिंगकं'की जगह 'वद-कलिंग' पाया जाता है। शायद 'वदक' वौद्धका पर्यायशब्द हो। 'काच्या नग्नाटकोऽहं' आदि पद्योका पाठ ज्योका त्यों है। उसमे 'पुण्ड्रोन्द्रे' की जगह 'पुण्ड्रोण्ड्रे' 'ढक्कविषये' की जगह 'ठक्कविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुपे' इस तरह नाम-मात्रका अन्तर दीख पड़ता है।" ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस साराशको प्रभाचद्रकी कथाका भी साराश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासभव लगा लेना चाहिये।

'भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः' ऐसा सूचित किया गया है जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असगतसी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गरिष्ट पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुभ जितने) परिमाणमे नित्य सेवन करनेपर भी भस्मकाग्निको शात होनेमे छह महीने लग गये हों। जहाँ तक हम समझते हैं और हमने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमे अधिक दिनो तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफर ही बन सकता है। इस लिये, 'राजावलिकथे' मे जो पॉच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते है। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसरपर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड जाने और क्षमा प्रार्थना करनेका था—दूसरे समतभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं है बल्कि 'जिनोपासक' है, फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमे समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शातिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देने की जरूरत थी, परतु उक्त दोनो पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उनमे कोई जिकर है—दोनोंमें

स्पष्ट रूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहाँ पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत भावसे परिचयका प्रश्न पूछे जाने पर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमे लड़ने झगड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोपणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समंतभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसरपर उत्तरका एक अग बनाया जा सकता था, क्यों कि उसमें अनेक स्थानोपर समंतभद्रके अनेक वेष धारण करनेकी बातका उल्लेख है *। परतु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—वह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है, जैसा कि पहले 'गुणादि-परिचय'में बतलाया जा चुका है। उसमें साफ लिखा भी है कि मै अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोसे युक्त है, विद्याका उत्कटस्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते है कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि अब मै इस करहाटक नगरमें

* यह बतलाया गया है कि "काचीमे मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था, लाम्बुशमे पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ, पुण्ड्रोड्रमे बौद्ध भिक्षुक हुआ, दशपुर नगरमे मृष्टभोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमे शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

आया हूँ कितनी वे सिरपैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उसमे कथामे कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पडता है ब्रह्म नेमि-दत्त इन दोनो पुरातन पद्योको किसी तरह कथामे सगृहीत कर देना चाहते थे और उस सग्रहकी धुनमे उन्हे इन पद्योंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हे ठीक तौर पर सकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसग पर, '**स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः**' यह लिखकर, उक्त पद्योका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्मनेमिदत्तने, राजामें जैनधर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है, अन्यथा इतने बडे चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। काचीके बाद समतभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटिया है—वहाँ, पद्यानुसार काचीके बाद, लाबुशमें समतभद्रके 'पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है—परतु इन्हें रहने दीजिये, सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी

---

1 कुछ जैनविद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए, 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमे 'शरीरमे रोग होनेसे' ऐसा एक खडवाक्य दिया है जो ठीक नहीं है। इस पद्यमे एक स्थानपर 'पाण्डु-

यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होने वे वेप धारण किये थे । वहुत संभव है कि काचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शातिके वाद समंतभद्रने कुछ असेंतक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो, बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे माळूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो, अथवा यह भी हो सकता है कि उक्त पद्यमे समतभद्रके निर्ग्रंथमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नही मिलता और इस लिये जिनपर कोई विशेप राय कायम नहीं की जा सकती । पद्यमे किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है, कहाँ काची और कहाँ उत्तर वगालका पुण्ड्र नगर ! पुंड्रसे वाराणसी निकट, वहाँ न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना ये बाते क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं । हमारी रायमे पहली वात ही ज्यादा सभवनीय माळूम होती है । अस्तु, इन सव बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो काचीसे वनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और वनारसमें भस्मक व्याधिकी शाति आदिसे सम्बंध रखता है, खास-कर ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौरपर काचीमें ही

पिण्ड' और दूसरेपर 'पाण्डुराग' पद आए हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेप वाराणसीमें धारण किया ह वही लाम्बुशमें भी धारण किया था । हर्पका विपय है कि उन लेखकोंमेसे प्रधान लेखकने हमारे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है ।

भस्मक व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

जहाँ तक हमने इन दोनो कथाओंकी जाँच की है हमे 'राजावलिकथे' में दी हुई समतभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता माळूम होती है—मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समंतभद्रका गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोडने और रोगोपशांतिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करनेकी प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार पानादिकका त्याग करके समतभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चंद्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवान्की स्तुतिकी समाप्तिपर चरणोंमे पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ'का नामोल्लेख, राजाके भाई 'शिवायन'का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समतभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, **ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं,** इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती है—प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। उसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा,

इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही है जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती है। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित'में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर'की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढते हुए, इसी तरह पर पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परतु उनका वह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेलगोलके उस मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका '**वंद्यो भस्मक**' नामका प्रकृत पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० स० १३३४ है और शिलालेख शक सवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चंद्रप्रभ बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ली गई बल्कि वह समतभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बंध रखती है। दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो। क्योंकि राजावलिकथे आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं

---

१ यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधारपर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित'से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावकचरितमें यह बात ले ली गई हो। परतु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके विना दोनोंहीके सम्बन्धमे यह कोई लाजिमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो, क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रथकर्त्ताओंके हृदयमे उदय होना भी कोई असभव नहीं है।

होता, और न समन्तभद्रके सम्बंधमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे हमारा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिव-कोटि' को जो वाराणसीका राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता, उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर काचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समतभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रथोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बध रखता है, और इस लिये हम यहाँपर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझते।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समतभद्रके और भी बहुतसे शिष्य रहे होंगे, इसमें संदेह नहीं है परंतु उनके नामादिकका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इस लिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामोंपर ही संतोष करना होगा।

समतभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका, यद्यपि, कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाहीका था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे'में तपके प्रभावसे उन्हें 'चारण ऋद्धि'की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा, 'रत्नकरडक' आदि ग्रथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौरपर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वाद-

विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है *। इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation, but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्थामें घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करनेहीको थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तंभ होनेवाले है, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

यहाँ तकके इस सब कथनसे, हम समझते हैं, पाठकोंको समन्तभद्रके विषयका बहुत कुछ परिचय मिल जायगा और वे इस बातको समझनेमें अच्छी तरहसे समर्थ हो सकेंगे कि स्वामी समन्तभद्र किस टाइपके विद्वान् थे, कैसी उत्तम परिणतिको लिये हुए थे, कितने बड़े योगी अथवा महात्मा थे, और उनके द्वारा देश, धर्म तथा समाजकी कितनी सेवा हुई है। साथ ही, उन्हें अपने कर्तव्यका भी जरूर कुछ बोध होगा, अपनी त्रुटियाँ माळूम पड़ेगी; वे अपनी असफलताओंके रहस्यको समझेंगे, स्याद्वादमार्गको पहचाननेकी ओर लगेंगे और स्वामी समन्तभद्रके आदर्शको सामने रखकर अपने जीवन, अपने सदुद्देश्यों तथा प्रयत्नोंको सफल बनानेका यत्न करेंगे। और इस तरह पर स्वामीके इस पवित्र जीवनचरित्रसे जरूर कुछ लाभ उठाएँगे।

---

* 'आभावि तीर्थंकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगळु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेळि स्याद्वाद-वादिगळ् आगि समाधिय् ओडेदरु ॥'

समय-निर्णय ।



स्वामी समंतभद्रने अपने अस्तित्वसे किस समय इस भारत-भूमिको भूषित और पवित्र किया, यह एक प्रश्न है जो अभी-तक विद्वानोंद्वारा विचारणीय चला जाता है। यहाँ पर इसी प्रश्नका कुछ विशेष विचार और निर्धार किया जाता है।

मतान्तरविचार ।

सबसे पहले हम, इस विषयमें, दूसरे विद्वानोंके मतोंका उल्लेख करते हैं और देखते है कि उन्होंने अपने अपने मतको पुष्ट करनेके लिये किन किन युक्तियोंका प्रयोग किया है—

१—मिस्टर लेविस राइस साहबने, अपनी 'इंस्क्रिप्शस ऐट श्रवण-बेल्गोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें, यह अनुमान किया है कि समतभद्र ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें हुए है। साथ ही, यह सूचित किया है कि जैनियोंके परम्परागत कथन (Jain tradition) के अनुसार समन्तभद्रका अस्तित्वसमय शक संवत् ६० (ई० सन् १३८)* के लगभग पाया जाता है, और उसके लिये उस 'पट्टावली' को देखनेकी प्रेरणा की है जो, हस्तालिखित सस्कृत ग्रंथोंके अनुसधानविषयक, डाक्टर भांडारकरकी सन् १८८३–८४ की रिपोर्टमें, पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जैनियोंमें जो यह कहावत प्रचलित है कि समंतभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए है उसे राइस साहबने प्रायः ठीक माना है, और उसीकी पुष्टिमें उन्होंने अपने अनुमानको जन्म दिया है। आपके इस अनुमानका आधार, श्रवण-

* 'कर्णाटकशब्दानुशासन' की भूमिकामें भी आपने यही समय दिया है।

बेलगोलके ‘ मल्लिषेणप्रशस्ति ’ नामक शिलालेख (न० ५४=६७) में, समन्तभद्रका ‘ सिंहनदि ’ से पहले स्मरण किया जाना है । आपकी रायमे यह पूर्व स्मरण इस बातके लिये अत्यंत स्वाभाविक अनुमान है कि समतभद्र सिंहनंदिसे अधिक अथवा अल्प समय पहले हुए है । ये सिंहनंदि मुनि गगराज्य (गगवाड़ि) की स्थापनामें विशेषरूपसे कारणीभूत अथवा सहायक थे, गगवशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्माके गुरु थे, और इम लिये कोंगुदेशराजाक्कल्‌ (तामिल क्रानिकल) आदिसे कोंगुणिवर्माका जो समय ईसाकी दूमरी शताव्दीका अन्तिम भाग (A D. 188) पाया जाता है वही सिंहनंदिका अस्तित्व-समय है । सिंहनंदिसे पहले स्मरण किये जानेके कारण समतभद्र सिंहनदिसे पहले हुए है, और इसी लिये उनका अस्तित्वकाल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दि अनुमान किया गया है । यही सब राइस साहबके अनुमानका साराश है । *

---

१ राइस साहबको बादमें कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला है, जो शक सवत्‌ २५ (A. D. 103) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने, सन्‌ १८९४ में, नंजनगूड ताल्लुके (मैसूर) के शिलालेखोंमें न० ११० पर प्रकाशित कराया है (E. C. III)। उससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारंभिक अथवा पूर्वभाग पाया जाता है, और इस लिये सन्‌ १८८९ में श्रवणवेल्गोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको प्रकाशित कराते हुए जो दूसरे आधारोंपर आपने यह दूसरी शताब्दिका अन्तिम भाग समय माना था उसे ठीक न समझना चाहिये।

* इस सम्बधमे राइस साहबके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

Supposing him (समन्तभद्र) to have preceded at a greater or less distance the guru (सिंहनन्दि) next mentioned, and that is the most natural inference, he

हमारी रायमें, राइस साहबका यह अनुमान निरापद अथवा युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि समन्तभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए हों, और ईसाकी पहली शताब्दिके विद्वान् हों, परतु जिस आधार पर राइस साहबने इस अनुमानकी सृष्टि की है वह सुदृढ नहीं है, उसके लिये सबसे पहले, यह सिद्ध होनेकी बड़ी जरूरत है कि उक्त शिलालेखमें जितने भी गुरुओंका उल्लेख है वह सब कालक्रमको लिये हुए है, अथवा उसमें सिंहनन्दिका समतभद्रके बाद या उनके वशमे होना लिखा है। परंतु ऐसा सिद्ध नहीं होता—न तो शिलालेख ही उस प्रकृतिका जान पड़ता है और न उसमें 'ततः' या 'तदन्वये' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दिका बादमें होना सूचित किया है—उसमें कितने ही गुरुओंका स्मरण क्रम-रहित आगे पीछे भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये '**पात्रकेसरी**'[1] विद्यानदको लीजिये, जिन्होंने **अकलंकदेवकी** 'अष्टशती' को अपनी 'अष्टसहस्री' द्वारा पुष्ट किया है और जो विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इसका स्मरण अकलकदेवसे पहले ही नहीं, बल्कि '**श्रीवर्द्धदेव**' से भी पहले किया गया है। श्रीवर्द्धदेवकी स्तुति 'दडी' नामक कविने भी की है, जो ईसाकी छठी शताब्दीका विद्वान् है और उसकी

---

might, in connection with the remarks made below, be placed in the 1st or 2nd century A. D................

There is accordingly no reason why Sinha nandi should not be placed at the end of the 2nd century A. D.

१ पात्रकेसरी और विद्यानद दोनों एक ही व्यक्ति थे इसके लिये देखो 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रथ, तथा वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक अथवा 'जैनहितैषी' भाग ९, अक ९, पृ० ४३९–४४०। सम्यक्त्वप्रकाशके निम्न वाक्यसे ही दोनोंका एक व्यक्ति होना पाया जाता है—"तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्त तच्च लिख्यते— ।"

स्तुतिका वह पद्य उक्त शिलालेखमें दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीवर्द्धदेव बहुत पुराने आचार्य हुए है और वे पात्रकेसरीसे कई सौ वर्ष पहले हो गये है। फिर भी पात्रकेसरीका स्मरण उनसे भी पहले किया जाना इस बातको स्पष्ट सूचित करता है कि उक्त शिलालेखमें कालक्रमसे गुरुओंके स्मरणका कोई नियम नहीं रक्खा गया है, और इसलिये शिलालेखमें समन्तभद्रका नाम सिंहनन्दिसे पहले लिये जानेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि समंतभद्र सिंहनन्दिसे पहले ही हुए है। रही 'पट्टावली'की बात सो यद्यपि वह हमारे सामने नहीं है फिर भी इतना जरूर कह सकते है कि आम तौरपर पट्टावलियाँ प्राय: प्रचलित प्रवादों अथवा दंतकथाओं आदिके आधारपर पीछेसे लिखी गई है, उनमें प्रमाणवाक्यों तथा युक्तियोका अभाव है, और इसलिये केवल उन्हींके आधार पर ऐसे जटिल प्रश्नोंका निर्णय नहीं किया जा सकता —वे अधिक प्राचीन गुरुओंके क्रम और समयके विषयमें प्राय: अपर्याप्त हैं।

२—'कर्णाटक-कवि-चरिते' नामक कनड़ी ग्रथके रचयिता (मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्य) का अनुमान है कि समंतभद्र शक संवत ६० (ई० सन् १३८) के लगभग हो गये है, ऐसा पंडित नाथूरामजीने, अपनी 'कर्णाटक-जैन-कवि' नामक पुस्तकमें सूचित किया है, जो प्राय: उक्त कनड़ी ग्रंथके आधारपर लिखी गई है। परतु किस आधारपर उनका ऐसा अनुमान है, इसका कोई उल्लेख नहीं किया। जान पड़ता है उक्त पट्टावलीके, आधारपर अथवा लेविस राइसके कथनानुसार ही उन्होंने समतभद्रका वह समय लिख दिया है, उसके लिये स्वय कोई विशेष अनुसधान नहीं किया। यही वजह है जो बादको मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहवने, अपने कनड़ी-साहित्यके इतिहास (History of Kanarese literature) में,

जिसे उन्होंने उक्त लेविस राइस साहबके ग्रंथों और 'कर्णाटककवि-चरिते' के आधारपर लिखा है, समंतभद्रके अस्तित्वकालविषयमें सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि जैनियोंकी रिवायत (लोककथा) के अनुसार वे दूसरी शताब्दीके विद्वानोंमेसे है * ।

३—श्रीयुत एम० एस० रामस्वामी आय्यगर, एम० ए० ने, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें, लिखा है कि "समन्तभद्र उन प्रख्यात दिगम्बर (जैन) लेखकोंकी श्रेणीमें सबसे प्रथम थे जिन्होने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके समयमें महान् प्राधान्य प्राप्त किया है।" इससे स्पष्ट है कि आपने समन्तभद्रको प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालीन और उनके राज्यमें विशेषरूपसे लब्धख्याति माना है। परन्तु प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे कौनसे राजाके समयमें समतभद्र हुए है, यह कुछ नहीं लिखा और न यही सूचित किया कि आपका यह सब कथन किस आधारपर अवलम्बित है, जिससे उसपर विशेष विचारको अवसर मिलता। आपने प्राचीन राष्ट्रकूट राजाओंके नाम भी नहीं दिये और न यही प्रकट किया कि उनका काल कबसे कबतक रहा है। राष्ट्रकूटोंके जिस कालका आपने उल्लेख किया है और जिसके साथमें 'प्राचीन' (अर्ली) विशेषणका भी कोई प्रयोग नहीं किया गया वह ईसवी सन् ७५० से प्रारंभ होकर ९७३ पर समाप्त

---

* Samanta-bhadra is by Jain tradition placed in the second century.

१ This Samantabhadra was the first of a series of celebrated Digambara writers who acquired considerable predominance, in the early Rashtrakut period

होता है । यह काल, इतिहासमें, राष्ट्रकूट राजा ' दन्तिदुर्ग ' से प्रारभ होता है और यहींसे राष्ट्रकूटोंके विशेष उदयका उल्लेख मिलता है। इससे पहले इन्द्र (द्वितीय), कर्क (प्रथम), और गोविन्द (प्रथम) नामके तीन राजा और भी हो गये है, जिनके राज्यकालादिकका कोई विशेष पता नहीं चलता । माळूम होता है उनका राज्य एक ही क्रमसे नहीं रहा और न वे कोई विशेष प्रभावशाली राजा ही हुए है । डाक्टर आर० जी० भाण्डारकरने, अपनी ' अर्ली हिस्टरी ऑफ डेक्कन '[१] में, उस वक्त तकके मिले हुए दानपत्रोंके आधार पर उक्त गोविन्द (प्रथम) को इस वशका सबसे प्राचीन राजा बतलाया है * । साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'आइहोले' के रविकीर्तिवाले शिलालेख (शक स० ५५६) मे जिस गोविन्द राजाके विषयमें यह उल्लेख है कि उसने चालुक्यनप पुलकेशी (द्वितीय) पर आक्रमण किया था वह प्र प्रथम जान पड़ता है । ऐसी हालतमें—जब कि इस हासका कोई ठीक पता नहीं है—यह कहना कि राष्ट्रकूटोंके राज्यकालमें प्राधान्य प्राप्त किया था समय लब्धप्रतिष्ठ हुए थे, युक्तियुक्त प्रतीत न आय्यगर महाशयके इस कथनका अभिप्राय यह मा समतभद्र दन्तिदुर्गराजाके राज्य-कालमें हुए है अ किया जाय कि वे गोविन्द प्रथमके समकालीन थे अस्तित्वसमय, भाडारकर महोदयकी सूचनानुसार,

---

१ द्वितीय सस्करण, पृष्ठ ६२, 'गवर्नमेंट सेंट्रल प्रेस,' बम्बईद्वारा सन् १८९५ सन १८९५ का छपा हुआ ।

* The earliest prince of the dynasty mentioned in the grants hitherto discovered is Govinda I.

५५६ (ई० सन् ६३४) है जो रविकीर्तिके उक्त शिलालेखका समय है, तो यह बात आपके उस कथनके विरुद्ध पड़ती है जिसमें आपने, पुस्तकके पृष्ठ ३०–३१ पर, यह सूचित करते हुए कि समतभद्रके बाद बहुतसे जैन मुनियोंने अन्यधर्मावलम्बियोंको स्वधर्मानुयायी बनानेके कार्य (the work of proselytism) को अपने हाथमे लिया है, उन मुनियोंमें, प्रधान उदाहरणके तौर पर, सबसे पहले गगवाडि (गगराज्य) के सस्थापक 'सिंहनदि' मुनिका और उसके बाद 'पूज्यपाद,' 'अकलकदेव'के नामोंका उल्लेख किया है। क्योंकि सिंहनंदिमुनिका अस्तित्वसमय जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है, कोंगुणिवर्माके साथ साथ ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारभिक अथवा पूर्व*भाग माना जाता है और पूज्यपाद भी गोविन्द प्रथमके उक्त समयसे प्रायः एक शताब्दी पहले हुए हैं। इसलिये या तो यही कहना चाहिये कि समतभद्र सिंहनदिसे पहले (ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीमें) हुए है और या यही प्रतिपादन करना चाहिये कि वे प्राचीन राष्ट्रकूटोके समकालीन (ईसाकी प्रायः सातवीं शताब्दीके पूर्वार्ध अथवा आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धवर्ती) थे। दोनों बातें एकत्र नहीं बन सकतीं। जहाँ तक हम समझते है आय्यगर महाशयने भी लेविस राइस साहबके अनुसार, समतभद्रका अस्तित्वसमय सिंहनदिसे पहल ही माना है और प्राचीन राष्ट्रकूटोंके समकालानवाला उनका उल्लेख किसी गलती अथवा भूल पर अवलम्बित है। यही वजह है जो उन्होंने वहाँ पर शक सवत ६० वाले जैनियोके साम्प्रदायिक कथनको भी बिना किसी प्रतिवादके स्थान दिया है। यदि ऐसा नहीं है, बल्कि-

* देखो पिछला वह 'फुट नोट' जिसमें कोंगुणिवर्माका समय शक स० २५ दिया है।

सिंहनंदि और पूज्यपादसे पहले समंतभद्रको स्थापित करनेवाली बात ही उनकी गलत है, और उन्होंने वास्तवमें समतभद्रको ईसवी सन् ७५० या उसके बादका विद्वान् माना है तो हमें इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि आपकी यह मान्यता बिलकुल ही निराधार है, जिसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं हो सकता।

४—मध्यकालीन भारतीय न्यायके इतिहास (हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इडियन लॉजिक') में, डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम० ए० ने अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि समतभद्र ईसवी सन् ६०० के करीब हुए है * । परंतु आपके इस अनुमानका क्या आधार है-अथवा किन युक्तियोंके बल पर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये बाध्य हुए है, यह कुछ भी सूचित नहीं किया।[1] हाँ, इससे पहले, इतना जरूर सूचित किया है कि समंतभद्रका उल्लेख हिन्दू-तत्त्ववेत्ता 'कुमारिल' ने भी किया है और उसके लिये डाक्टर भाडारकरकी संस्कृतग्रंथविषयक उस रिपोर्टके पृष्ठ ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख हम न० १ में कर चुके है। साथ ही यह प्रकट किया है कि 'कुमारिल' बौद्ध तार्किक विद्वान् धर्मकीर्तिका समकालीन था और उसका जीवनकाल आमतौर पर ईसाकी ७ वीं शताब्दी माना गया है। शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रथमें समतभद्रका उल्लेख मिल जानेसे ही—आपने समतभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका विद्वान् मान लिया है। यदि ऐसा है तो

---

* Samantabhadra is supposed to have flourished about 600 A. D.

१ सूचित करनेकी खास जरूरत थी, क्योंकि दूसरे विद्वान् समतभद्रका अस्तित्व समय ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी मान रहे थे।

आपका यह मान लेना जरा भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । समंत-भद्र कुमारिलसे अधिक समय पहले न होकर अल्पसमय पहले ही हुए है, इस बातकी उक्त उल्लेख मात्रमें क्या गारंटी है? इस बातको सिद्ध करनेके लिये तो विशेष प्रमाणोंकी आवश्यकता थी, जिनका उक्त पुस्त-कमें अभाव पाया जाता है ।

धर्मकीर्तिके प्रकरणमें, विद्याभूषणजीने धर्मकीर्तिका स्पष्ट समय (संभवतः धर्मकीर्तिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहनेका समय) ई० सन् ६३५ से ६५० के लगभग बतलाया है और इस समयकी पुष्टिमें तीन बातोंका उल्लेख किया है—एक तो यह कि धर्मकीर्तिका गुरु धर्मपाल ई० सन् ६३५ में जीवित था, इसी सन्[1] तक उसके अस्ति-त्वका पता चलता है, इससे धर्मकीर्ति भी उस समयके करीब मौजूद होना चाहिये; दूसरे यह कि धर्मकीर्ति तिब्बतके राजा ' स्रोण्-त्सन्गम्पो ' का समकालीन था, जिसका अस्तित्व समय ई० सन् ६२७ से ६९८ तक पाया जाता है, और इस समयके साथ धर्मकीर्तिका समय अनुकूल पड़ता है; तीसरे यह कि 'इ-त्सिग् ' नामक चीनी यात्रीने ई० सन् ६७१ से ६९५ के मध्यवर्ती समयमें भारतकी यात्रा की है; वह (अपने यात्रा-वृत्तान्तमें) बड़ी खूबीके साथ इस बातको प्रकट करता है कि किस तरह पर ' दिग्नाग'के बाद "धर्मकीर्तिने तर्कशास्त्रमें और अधिक उन्नति की है ।" इसके सिवाय धर्मकीर्तिकी बौद्ध दीक्षाके बाद, विद्याभू-षणजीने यह भी प्रकट किया है कि धर्मकीर्तिने तीर्थदर्शन (Tirtha

१ इसी सन् ६३५ में, चीनी यात्री ह्वेनत्संग जब नालदाके विश्वविद्याल-यमें पहुँचा तो वहाँ उक्त धर्मपालकी जगह, प्रधान पदपर, उनका एक शिष्य शीलभद्र प्रतिष्ठित हो चुका था; ऐसा विद्याभूषणजीकी उक्त पुस्तकसे पाया जाता है ।

System) के गुप्ततत्त्वका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छासे एक गुलामके वेषमें दक्षिणकी यात्रा की, वहाँ यह माळूम करके कि कुमारिल ब्राह्मण इस विषयका अद्वितीय विद्वान् है, अपने आपको उसकी सेवामें रक्खा और अपनी सेवासे उसे प्रसन्न करके उससे उक्त दर्शनके गुप्त सिद्धान्तोंको माळूम किया । इस सब कथनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि धर्मकीर्ति ६३५से पहले ही कुमारिलकी सेवामें पहुँच गये थे, और उस समय कुमारिल वृद्ध नहीं तो प्रायः ४० वर्षकी अवस्थाके अवश्य होंगे। ऐसी हालतमे कुमारिलका समय पीछेकी ओर ई० सन् ६००के करीब पहुँच जाता है, और यही समय, ऊपर, समन्तभद्रका बतलाया गया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि विद्याभूषणजीने, वास्तवमें, समतभद्र और कुमारिलको प्रायः समकालीन ठहराया है । परतु कुमारिलने, अपने 'श्लोकवार्तिक' मे, अकलंकदेवके 'अष्टशती' ग्रंथ पर, उसके 'आज्ञाप्रधाना हि....' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं, ऐसा प्रोफेसर के० बी० पाठक 'दिगम्बरजैनसाहित्यमें कुमारिलका स्थान' नामक अपने निबंधमे, सूचित करते है और साथ ही यह प्रकट करते है कि कुमारिल अकलकसे कुछ बाद तक जीवित रहा है, इसीसे जो आक्षेप अष्टशतीके वाक्योंपर कुमारिलने किये उनके निराकरणका अवसर स्वय अकलकको नहीं मिल सका, वह काम बादमें अकलकके शिष्यों (विद्यानद और प्रभाचंद्र) को करना पडा । उक्त 'अष्टशती' ग्रथ समंतभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य है, यह पहले जाहिर किया जा चुका है । इससे पाठक स्वय समझ सकते है कि समतभद्रके एक ग्रथके ऊपर कई शताब्दी पीछेके बने हुए भाष्य पर, भाष्यकारकी

---

१ 'अष्टशती' भाष्य कई शताब्दी पीछेका बना हुआ है, यह बात आगे चलकर स्वय माळूम हो जायगी ।

प्रायः वृद्धावस्थामे. जब कुमारिल कटाक्ष करता है तब वह समतभद्रसे कितने पीछेका विद्वान् है और उसे समन्तभद्रके प्राय समकालीन ठहराना कहां तक युक्तिसगत हो सकता है । जान पडता है विद्याभूषणजीको कुमारिलके उक्त 'श्लोकवार्तिक' को देखनेका अवसर ही नहीं मिला । यही वजह है जो वे अकलकदेवको कुमारिलसे भी पीछेका—ईसवीं सन् ७५० के करीबका—विद्वान् लिख गये है ! यदि उन्होने उक्त ग्रथ देखा होता तो वे अकलकदेवका समय ७५० की जगह ६४० के करीब लिखते, और तब आपका यह कथन 'अकलकचरित' के निम्न पद्यके प्राय अनुकूल जान पड़ता, जिसमे लिखा है कि 'विक्रम सवत्[1] ७०० (ई० सन् ६४३) में अकलक यतिका बौद्धोके साथ महान् वाद हुआ है—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि ।
कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥[2]

और भी कितने ही जैन विद्वानोंके विपयमें विद्याभूपणजीके समय-निरूपणका प्रायः ऐसा ही हाल है—वह किसी विशेष अनुसधानको

१ कुछ विद्वानोंने अकलकदेवके 'राजन्साहसतुग' इत्यादि पद्यमे आए हुए 'साहसतुग' राजाका राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथम (शुभतुग) के साथ समीकरण करके, अकलकदेवको उसके समकालीन–ईसाकी आठवीं शताब्दीके प्राय उत्तरार्धका–विद्वान् माना है, परंतु कुमारिल यदि डा० सतीशचद्रके कथनानुसार धर्मकीर्तिका समकालीन था तो अकलकदेवके अस्तित्वका समय यह वि० स० ७०० ही ठीक जान पड़ता है, और तब यह कहना होगा कि 'साहसतुग' का कृष्णराजके साथ जो समीकरण किया गया है वह ठीक नहीं है । लेविस राइसने ऐसा समीकरण न करके अपनेको साहसतुगके पहचाननेमे असमर्थ बतलाया है ।

२ यह पद्य, 'इन्स्क्रिपशन्स ऐट श्रवणबेल्गोल' (एपिग्रेफिया कर्णाटिका जिल्द दूसरी) के द्वितीयसस्करण, (सन् १९२३) की प्रस्तावनामें, मि० आर० नरसिंहाचार्यके द्वारा उक्त आशयके साथ उद्धृत किया गया है ।

लिये हुए मालूम नहीं होता–जिसका एक उदाहरण न्यायदीपिकाके कर्ता 'धर्मभूषण' का समय है । आपने धर्मभूषणका समय ई० सन् १६०० के करीब दिया है परंतु उनकी न्यायदीपिका शक संवत् १३०७ मे लिखी गई है, ऐसा प्रो० के० बी० पाठकने, 'साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स जिल्द १ली, पृष्ठ १५६' के आधार पर अपने उक्त निबंधमें सूचित किया है । ऐसी हालतमे आपको धर्मभूषणका समय ई० सन् १३८५, या '१४०० के करीब' देना चाहिये था; परंतु ऐसा न करके आपने धर्मभूषणको उनके असली समयसे एकदम २०० वर्ष पीछेका विद्वान् करार दिया है और यह लिख दिया है कि करीब ३०० वर्ष (५३२ के स्थानमें) हुए जब उन्होंने न्यायदीपिका लिखी थी ! इससे स्पष्ट है कि विद्याभूषणजीने जैन विद्वानोंका ठीक समय मालूम करनेके लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया और इस लिये इस विषयमें उनका वह कथन, जो विशेष युक्तियोको साथमें लिये हुए नहीं है, कुछ अधिक विश्वासके योग्य मालूम नहीं होता—कितने ही स्थानों पर तो वह बहुत ही भ्रमोत्पादक जान पड़ता है । समंतभद्रका अस्तित्व-विषयक कथन आपका कितना भ्रमपूर्ण है इस बातका और भी अच्छा अनुभव पाठकोंको आगे चल कर हो जायगा ।

सिद्धसेन और न्यायावतार ।

५—कुछ विद्वानोंका खयाल है कि स्वामी समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे पहले हुए है । सिद्धसेन यदि विक्रमादित्य राजाकी सभाके नवरत्नोंमेंसे थे और इस लिये विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् समझे जाते है तो समंतभद्र उससे भी पहलेके—ईसाकी पहली शताब्दीसे भी पहलेके—विद्वान् होने चाहियें; क्यों कि समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डक' का निम्न पद्य सिद्धसेनके 'न्यायावतार' में उद्धृत पाया जाता है—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्[1] ॥ ९ ॥

इसमें सदेह नहीं कि यह पद्य समंतभद्रके 'रत्नकरंडक' नामक उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) का पद्य है, उसमें यथास्थान—यथाक्रम—मूलरूपसे पाया जाता है और उसका एक वहुत ही आवश्यक अंग है। यदि इस पद्यको उक्त ग्रथसे निकाल दिया जाय तो उसके कथनका सिलसिला ही बिगड़ जाय। क्यों कि ग्रंथमें, जिन आप्त, आगम तपोभृत्के अष्ट अंगसहित और त्रिमूढतादिरहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उनका क्रमशः स्वरूप निर्देश करते हुए इस पद्यसे पहले आप्तका और इसके वाद तपोभृतका स्वरूप दिया है; यह पद्य यहाँ दोनोंके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विपयका एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतारमें इस पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध जान पड़ती है। यह उसका कोई आवश्यक अंग माऌम नहीं होता, और न इसको निकाल देनेसे वहाँ ग्रंथके सिलसिलेमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई वाधा आती है। ग्रथमें परोक्ष प्रमाणके '**अनुमान**' और '**शाब्द**' ऐसे दो भेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके वाद, इस पद्यसे ठीक पहले 'शाव्द' प्रमाणके लक्षणका यह पद्य दिया हुआ है—

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः[2] ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ ८ ॥

---

१ यह पद्य दोनों ही ग्रथोंमें नवर ९ पर दिया हुआ है, और ऐसा होना आकस्मिक घटनाका परिणाम है।

२ टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना वाक्य दिया हुआ है—

इस पद्यकी उपस्थितिमे इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोसे व्यर्थ पडता है। प्रथम तो, उसमें शास्त्रका लक्षण आगमप्रमाणरूपसे नहीं दिया— यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान आगम प्रमाण अथवा शाव्दप्रमाण कहलाता है—बल्कि सामान्यतया आगम पदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्डक' में सम्यग्दर्शनका विषय बतलाया गया है। दूसरे, शाव्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्नवस्तु भी नहीं है, जिसकी शाव्द प्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अंतर्भूत है। टीकाकारने भी, शाव्दके **'लौकिक'** और **'शास्त्रज'** ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमे आगया है,*इससे ९ वें पद्यमें शाव्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट हो जाता है। तीसरे, ग्रंथ भरमे इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम' शव्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिसके स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूल ग्रंथमें कोई निर्देश है जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण प्रतिपादक यह पद्य हो सकता, चौथे यदि यह कहा जाय

"तदेव स्वार्थानुमानलक्षण प्रतिपाद्य तद्गतां भ्रान्ततावित्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादितपदार्थानुमानलक्षण एवात्पवक्तव्यत्वात तावच्छाब्दलक्षणमाह"।

१ स्वपराभासी निर्बाध ज्ञानको ही 'न्यायावतार' के प्रथम पद्यमें प्रमाणका लक्षण बतलाया है, इस लिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति होनी चाहिये।

* 'शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति। तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं प्रतिपादितम्।

कि ८ वें पद्यमें 'शाब्द' प्रमाणको जिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है उसीका 'शास्त्र' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया गया है तो यह बात भी नहीं बनती, क्यों कि ८ वें पद्यमें ही 'दृष्टेष्टाव्याहत' आदि विशेषणोंके द्वारा वाक्यका स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्यमे दिये हुए शास्त्रके स्वरूपसे प्रायः मिलता जुलता है—उसके '**दृष्टेष्टाव्याहत**' का 'अदृष्टेष्टविरोधक' के साथ साम्य है और उसमें 'अनुल्लंघ्य' तथा 'आप्तोपज्ञ' विशेषणोंका भी समावेश हो सकता है, '**परमार्थाभिधायि**' विशेषण 'कापथघट्टन' और 'सार्व' विशेषणोंके भावका द्योतक है, और शाब्दप्रमाणको '**तत्त्वग्राहितयोत्पन्न**' प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य 'तत्त्वोपदेशकृत्' माना गया है—इस तरह पर दोनों पद्योंमें परस्पर बहुत कुछ साम्य पाया जाता है । ऐसी हालतमें ग्रंथकारके लिये एक ही बातकी व्यर्थ पुनरुक्ति करनेकी कोई वजह नहीं हो सकती, खासकर ऐसे ग्रंथमें जो सूत्ररूपसे जँचे तुले शब्दोंमें लिखा जाता हो । पाँचवें, ग्रंथकारने स्वय अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे 'परार्थानुमान' बतलाया है; यथा—

स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥ १० ॥

इन सब बातों अथवा कारणोंके समुच्चयसे यह स्पष्ट है कि 'न्यायावतार' में 'आप्तोपज्ञ' नामक पद्यकी स्थिति बहुत ही संदिग्ध है, वह मूल ग्रंथकारका पद्य मालूम नहीं होता, उसे मूल ग्रंथकारविरचित ग्रंथका आवश्यक अंग माननेसे पूर्वोत्तर पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रंथकी प्रतिपादनशैली भी उसे स्वीकार नहीं करती,

और इस लिये वह अवश्य ही एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है। टीकाकारने उसे देनेसे पहले, शब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज'[1] ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, प्रस्तावनारूपसे जो यह लिखा है कि 'जिस प्रकारके शास्त्रसे उत्पन्न हुआ शास्त्रज प्रमाण प्रमाणताको प्राप्त होता है उसे अब ग्रंथकार दिखलाते है'* वह ग्रंथके अन्य पद्योंके साथ इस पद्यका सामजस्य स्थापित करनेके लिये टीकाकारका प्रयत्न मात्र है। अन्यथा, मूल ग्रंथकारकी न तो वैसी भेदकल्पना ही माल्लम होती है, न उस प्रकारकी कल्पनाके आधारपर ग्रंथमें कथनकी कोई पद्धति ही पाई जाती है और न ८ वें पद्यमे वाक्यका स्वरूप जतला देने पर, उन्हें शास्त्रका अलग स्वरूप देनेकी कोई जरूरत ही थी। वे यदि ऐसा करते तो अन्य ग्रंथोंकी तरह अपने ग्रंथमें उस आप्तका लक्षण भी अवश्य देते जिससे शास्त्र अथवा वाक्य विशेषकी उत्पत्ति होती है और जिसके भेद तथा प्रमाणतापर उस शास्त्र या वाक्यका भेद अथवा प्रामाण्य प्राय अवलम्बित रहता है, परंतु ग्रंथभरमें आप्तका लक्षण तो क्या, उसके सामान्यस्वरूपका प्रतिपादक मगलाचरण तक भी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथकारने इस प्रकारकी कल्पनाओं और विशेष कथनोंसे

---

१ 'लौकिक' के साथ शास्त्रज नामका भेद कुछ अच्छा तथा संगत भी माल्लम नहीं होता, वह 'लोकोत्तर' होना चाहिए था। 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार' नामक श्वेताम्बर ग्रन्थमें जिस आप्तके वचनको आगम बतलाया गया है उसके लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद किये है (स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च) और इस लिये आप्तवाक्य तथा आप्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाले शाब्द प्रमाण या आगम प्रमाणके भी वे ही दो भेद लौकिक और लोकोत्तर होने चाहिये थे। यहाँ शास्त्रज ऐसा नामभेद केवल अगले पद्यकी ग्रंथके साथ संगति मिलानेके लिये ही टीकाकारद्वारा कल्पित हुआ जान पड़ता है।

* 'यादृश शास्त्रात्सजात प्रमाणतामनुभवति तद्दर्शयति।'

अपने ग्रंथको प्रायः अलग रक्खा है, उन्होंने सामान्यरूपसे प्रमाणनय-की उस प्रसिद्ध व्यवस्थाका ही इस ग्रथमें कीर्तन किया है जिसे सब लोग व्यवहारमें लाते हैं ×, और इस लिये भी यह पद्य ग्रथमें उद्धृत ही जान पड़ता है। यदि सचमुच ही ग्रथकारने, ग्रंथके आठवें पद्यमें दिये हुए वाक्यके स्वरूपका समर्थन करनेके लिये इस पद्यको 'उक्त च' रूपसे उद्धृत किया हो तो इस कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि सिद्धसेन अवश्य ही समतभद्रके बाद हुए है। परतु, जहाँ तक हम समझते है, सिद्धसेन दिवाकर जिस टाइपके विद्वान् थे और जिस ढंग (पद्धति) से उन्होंने अपने ग्रथको प्रारभ और समाप्त किया है उस परसे सिद्धसेन द्वारा इस पद्यके उद्धृत किये जानेकी बहुत ही कम संभावना पाई जाती है—इस बातका खयाल भी नहीं होता कि सिद्धसेन जैसे विद्वानने अपने ऐसे छोटेसे सूत्रग्रथमें, एक दूसरे विद्वानके वाक्यको 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत करना उचित समझा हो। हमारी रायमें यह पद्य या तो ग्रथकी किसी दूसरी पुरानी टीकामें, 'वाक्य'की व्याख्या करते हुए, उद्धृत किया गया है और या किसी विद्वानने ८ वे अथवा १० वें पद्यमें आए हुए 'वाक्य' शब्दपर टिप्पणी देते हुए वहाँ उद्धृत किया है, और उसी टीका या टिप्पणवाली प्रतिपरसे मूल ग्रथकी नकल उतारते हुए, लेखकोंकी असावधानी अथवा नासमझीसे, यह ग्रथमें प्रक्षिप्त हो गया है और ग्रथका एक अग बन गया है। किसी पद्यका इस तरह पर प्रक्षिप्त होना कोई असाधारण बात नहीं है—बहुधा ग्रंथोंमें इस प्रकारसे प्रक्षिप्त हुए पद्योंके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। इस

× प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तॄणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥

लिये, ‘ न्यायावतार ’ में इस पद्यकी स्थिति आदिको देखते हुए हमारी यही राय होती है कि यह पद्य वहाँपर क्षेपक है, और ग्रंथकी वर्तमान टीकासे, जिसे कुछ विद्वान् चंद्रप्रभसूरि (वि० सं० ११५९) की और कुछ सिद्धर्षि (सं० ९६२) की बनाई हुई कहते हैं, पहले ही ग्रंथमें प्रक्षिप्त हो चुका है। अस्तु । इस पद्यके ‘ क्षेपक ’ करार दिये जानेपर ग्रंथके पद्योंकी संख्या ३१ रह जाती है। इसपर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि सिद्धसेनकी बाबत कहा जाता है कि उन्होंने ‘ द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका ’ नामसे ३२ स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी श्लोकसंख्या ३२ है, न्यायावतार भी उन्हींमेंसे एक स्तुति है*— द्वात्रिंशिका है—उसकी पद्यसंख्या भी ३२ ही होनी चाहिये और इस लिये उक्त पद्यको क्षेपक माननेसे ग्रंथके परिमाणमें बाधा आती है। परंतु इस प्रकारकी आपत्तिके लिये वास्तवमें कोई स्थान नहीं। प्रथम तो ‘ न्यायावतार ’ कोई स्तुतिग्रंथ ही नहीं है, उसमें मंगलाचरण तक भी नहीं और न परमात्माको सम्बोधन करके ही कोई कथन किया गया है, दूसरे, इस बातका कोई प्राचीन (टीकासे पहलेका) उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह पाया जाता हो कि न्यायावतार ‘द्वात्रिंशिका’ है अथवा उसके श्लोकोंकी नियतसंख्या ३२ है; और तीसरे, सिद्धसेनकी जो २० अथवा २१

* “ए शिवाय पण ‘द्वात्रिंशतद्वात्रिंशिका’ ए स्तुतिसंग्रह ग्रंथ रच्यो छे, तेमानो न्यायावतार एक स्तुतिरूप ग्रंथ छे।” ऐसा न्यायावतार सटीककी प्रस्तावनामें न्दभाई भोगीलालजी, सेक्रेटरी ‘हेमचंद्राचार्यसभा’ पटनने प्रतिपादन किया है।

१ सिद्धसेन दिवाकरकी आम तौरपर २० द्वात्रिंशिकाएँ एकत्र मिलती हैं, सिर्फ एक प्रतिमें २१ वीं द्वात्रिंशिका भी साथ मिली है, ऐसा प्रकाशकोंने सूचित किया है, और वह २१ वीं द्वात्रिंशिका अपने साहित्य परसे संदिग्ध जान पड़ती है इसी लिये यहाँपर ‘अथवा’ शब्दका प्रयोग किया गया है।

'द्वात्रिंशिकाएँ' मिलती हैं उन सबमें ३२ पद्योंका कोई नियम नहीं देखा जाता—आठवीं द्वात्रिंशिकामें २६, ग्यारहवींमें २८, पंद्रहवींमें ३१, उन्नीसवींमें भी ३१, दसवींमें ३४ और इक्कीसवींमें ३३ पद्य पाये जाते है *। ऐसी हालतमें 'न्यायावतार'के लिये ३२ पद्योंका कोई आग्रह नहीं किया जा सकता, और न यही कहा जा सकता है कि ३१ पद्योंसे उसके परिमाणमें कोई बाधा आती है।

अब देखना चाहिये कि सिद्धसेन दिवाकर कब हुए है और समंतभद्र उनसे पहले हुए या कि नहीं। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर उज्जयिनीके राजा विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमेंसे एक रत्न थे, और उन नवरत्नोंके नामोंके लिये 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथका निम्न पद्य पेश किया जाता है—

धन्वंतरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वाराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस पद्यमें, यद्यपि, 'सिद्धसेन' नामका कोई उल्लेख नहीं है परन्तु 'क्षपणक' नामके जिस विद्वानका उल्लेख है उसीको 'सिद्धसेन दिवाकर' बतलाया जाता है। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण तो, इस [illegible] अपनी मान्यताका उल्लेख करते हुए, यहाँ तक लिखते हैं कि 'जैन क्षपणक (जैनसाधु) को हिन्दूलोग विक्रमादित्यकी [illegible] [illegible] करनेवाले नवरत्नोंमेंसे एक रत्न समझते हैं वह सिद्धसेनके [illegible]

* देखो 'श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृत ग्रंथमाला' जिसे '[illegible] सभा' भावनगरने वि० सं० १९६५ में छपाकर प्रकाशित किया।

दूसरा कोई विद्वान् नहीं था' * । साथ ही, प्रकट करते है कि बौद्ध ग्रथोमें भी जैनसाधुओंको 'क्षपणक' नामसे नामाकित किया है, प्रमाणके लिये 'अवदानकल्पलता' के दो पद्य + भी उद्धृत किये है, और इस तरह पर यह सूचित किया है कि उक्त 'क्षपणक' नामका विद्वान् बौद्ध-भिक्षु नहीं था । इसमे सदेह नहीं कि 'क्षपणक' जैन-साधुको कहते है । यदि वास्तवमें सिद्धसेन विक्रमादित्यकी सभाके ये ही क्षपणक विद्वान् थे और इस लिये वराहमिहिरके समकालीन थे तो उनका समय ईसाकी प्राय: छठी शताब्दी जान पड़ता है । क्यों कि वराहमिहिरका अस्तित्व समय ई० सन् ५०५ से ५८७ तक पाया जाता है—उसने अपनी ज्योतिषगणनाके लिये शक स० ४२७ (ई० सन् ५०५) को अब्दपिण्डके तौरपर पसद किया था ×

---

* I am inclined to believe that Sidhasen was no other than Kshapnaka (a jain sage) who is traditionally known to the Hindus to have been one of the nine gems that adorned the court of Vikramaditya, (H. M S. Indian Lojic p 15)

+ वे पद्य इस प्रकार है—

भगवद्भाषितं तत्तु सुभद्रेण निवेदितम् ।
श्रुत्वा क्षपणक क्षिप्रमभूद्द्वेषविषाकुल ॥ ९ ॥
तस्य सर्वज्ञतां वेत्ति सुभद्रो यदि मद्गिरा ।
तदेष क्षपणश्रद्धां त्यक्ष्यति श्रमणादरात् ॥

—अ०, ज्योतिष्कावदान ।

× देखो डा० सतीशचद्रकी न्यायावतारकी प्रस्तावना और 'हिस्टरी आफ इडियन लाजिक,' जिनमें आपने वराहमिहिरकी 'पंचसिद्धान्तिका' का यह पद्य भी उद्धृत किया है—

और ई० सन् ५८७ में उसका देहान्त हो चुका था। इसी लिये डाक्टर सतीशचंद्रने, अपनी 'मध्यकालीन न्याय' के इतिहासकी पुस्तकमें, सिद्धसेनको ई० सन् ५३३ के करीबका और न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, सन् ५५० के करीबका विद्वान् माना है, और उज्जयिनीके विक्रमादित्यके विषयमें, उन विद्वानोंकी रायको स्वीकार किया है जिन्होंने विक्रमादित्य * का समीकरण मालवाके उस राजा यशोधर्मदेवके साथ किया है जिसने, अल्बेरूनीके कथनानुसार, ई० सन् ५३३ में कोरूर (Korur) स्थान पर हूणोंको परास्त किया था। ऐसी हालतमें, यह स्पष्ट है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् नहीं थे, बल्कि उसकी छठी शताब्दी अथवा ईसाकी पाँचवीं और छठी शताब्दीके विद्वान् थे। इस विषयमें, मुनि जिनविजयजी, जैनसाहित्यसंशोधक–द्वितीय अंकके पृष्ठ ८२ पर, लिखते है—

" सिद्धसेन ईसाकी ६ ठी शताब्दीसे बहुत पहले हो गये है। क्योंकि विक्रमकी पाचवीं शताब्दीमें हो जानेवाले आचार्य मल्लवादीने सिद्धसेनके सम्मतितर्क ऊपर टीका लिखी थी। हमारे विचारसे सिद्धसेन विक्रमकी प्रथम शताब्दिमें हुए है।"

सप्ताक्षिवेदसंख्य शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्द्धास्तमिते भानौर्यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥ ८ ॥

१ देखो विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' तृ० स०, पृ० ३०५.

* 'विक्रमादित्य' नामके–इस उपाधिके धारक–कितने ही राजा हो गये हैं। गुप्तवंशके चंद्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त खास तौर पर 'विक्रमादित्य' प्रसिद्ध थे। इनके और इनके मध्यवर्ती कुमारगुप्तके राज्यकालमें ही–ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें–'कालिदास' नामके उन सुप्रसिद्ध विद्वान्का होना, पिछली तहकीकातसे, पाया जाता है जिन्हें विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नोंमें परिगणित किया गया है (वि० ए० स्मिथकी अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया, तृ० संस्करण,

यह ठीक है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य मल्लवादीको वीर-संवत् ८८४ का विद्वान् लिखा है+और उसीको लेकर मुनिजीने उन्हें विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् प्रतिपादन किया है। परन्तु आचार्य मल्लवादीने बौद्धाचार्य 'धर्मोत्तर'की 'न्यायबिन्दु-टीका'[1] पर 'धर्मोत्तर-टिप्पणक'[2] नामका एक टिप्पण लिखा है, और आचार्य धर्मोत्तर ईसाकी ९ वीं शताब्दी (ई० सन् ८३७–८४७ के करीब) के विद्वान् थे, इस लिये मल्लवादीका वीरसंवत ८८४ में होना असंभव है; ऐसा डाक्टर सतीशचंद्र अपने मध्यकालीन न्यायके इतिहासमें, सूचित करते हैं। साथ ही, यह प्रकट करते है कि यह संवत् ८८४, वीर संवत् न होकर, या तो विक्रम संवत् है और या शकसंवत्। विक्रम संवत् (ई० सन् ८२७) की हालतमें मल्लवादी धर्मोत्तरके समकालीन थे और शक संवत् (ई० स० ९६२) की हालतमे वे धर्मोत्तरसे एक

पृ० ३०४) और मुनि जिनविजयजीने जिनको 'सिद्धसेनके समकालीन और सहवासी महाकवि' बतलाया है (जैनहितैषी, नवम्बर सन् १९१९)।

+—" श्रीवीरवत्सरादथशताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥ "

यह पद्य 'न्यायावतार–वृत्ति'की प्रस्तावनामें 'प्रभावकचरित'के नामसे उद्धृत किया है।

१ मूल ग्रंथ 'न्यायबिन्दु' आचार्य 'धर्मकीर्ति' का लिखा हुआ है जो ईसाकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे। देखो सतीशचन्द्रकी हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक।

२ इस 'धर्मोत्तर-टिप्पणक' की एक प्रति ताड़पत्रोंपर अन्हिलवाड़ पाटनमें सुरक्षित है और सं० १३३१ की लिखी हुई बतलाई जाती है। उसके अन्तमें लिखा है—"इति धर्मोत्तरटिप्पनके श्रीमल्लवाद्याचार्यकृते तृतीय परिच्छेद समाप्तः मङ्गल महाश्रीः ॥" (History of M. S. of Indian Logic P. 34)

शताब्दी पीछेके विद्वान् समझे जाने चाहिये * । इससे, मल्लवादीके समयके आधार पर मुनिजीने जो यह प्रतिपादन किया है कि सिद्धसेन विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए हैं सो ठीक प्रतीत नहीं होता । और भी कोई दूसरा प्रबल प्रमाण अभी तक ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ जिससे सिद्धसेनका समय ईसाकी पाँचवीं छठी शताब्दीसे पहले स्थिर किया जा सके, और छठी अथवा पाँचवीं[1] शताब्दीका समय मानने पर हमें यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हो सकता कि समंतभद्र सिद्धसेन दिवाकरसे बहुत पहले हुए हैं, जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा ।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि सिद्धसेनको विद्याभूषणजीने श्वेताम्बर संप्रदायका विद्वान् लिखा है । हमारी रायमें आपका यह लिखना केवल एक सम्प्रदायकी मान्यताका उल्लेख मात्र है, और दूसरे सम्प्रदायकी मान्यतासे अनभिज्ञताको सूचित करता है, इससे अधिक उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता । अन्यथा, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्ध-

---

* देखो उक्त इतिहास (History of the Mediaeval School of Indian Logic) के पृष्ठ ३५, १३१ ।

१ वराहमिहिरके एक ग्रंथमें जब शक सं० ४२७ (ई० सन् ५०५) का उल्लेख है तो वे उसकी रचनासे प्रायः २०–२५ वर्ष पहले और भी जीवित रहे होंगे, यह स्वाभाविक है, और इस लिये उनका अस्तित्व समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दीका चतुर्थ चरण भी जान पड़ता है । इसके सिवाय यह भी संभव है कि वराहमिहिरकी युवावस्थाका जो प्रारंभ काल हो वह क्षपणककी वृद्धावस्थाका समय हो, इसी लिये यहाँपर पाँचवीं शताब्दीको भी सिद्धसेनके अस्तित्वके लिये ग्रहण कर लिया गया है ।

सेनकी मान्यता है, दिगम्बरोंकी पट्टावली[1]—गुरुपरम्पराओंमें[2] भी सिद्ध-सेनका नाम है, कितने ही दिगम्बर आचार्योंद्वारा[3] सिद्धसेन खास तौर पर स्तुति किये गये है और अपने ग्रन्थोंके साहित्य परसे भी वे खसूसियतके साथ कोई श्वेताम्बर माॡम नहीं होते तब, वैसा लिखनेके लिये आप कुछ युक्तियोंका प्रयोग जरूर करते अथवा, इस विषयमें, दोनो ही सम्प्रदायोंकी मान्यताका उल्लेख करते; परंतु इन दोनो ही बातोंका वहाँ एकदम अभाव है, और इसी लिये हमारी उपर्युक्त राय है। रहा ‘क्षपणक’ शब्द, वह सामान्यरूपसे जैनसाधुका बोधक होने पर भी खास तौर पर श्वेताम्बर साधुका कोई द्योतक नहीं है, प्रत्युत इसके वह बहुत प्राचीन कालसे दिगम्बर साधुओंके लिये व्यवहृत होता आया है, हिन्दुओं तथा बौद्धोंके प्राचीन ग्रथोंमें निर्ग्रंथ—दिगम्बर साधुओंके लिये उसका प्रयोग पाया जाता है और खुद श्वेताम्बर ग्रथोमे भी वह दिगम्बरोंके लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

---

१ ‘सेनगण’ की पट्टावलीमें ‘सिद्धसेन’ का निम्न प्रकारसे उल्लेख पाया जाता है—

(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहीकालसंस्थापनमहाकालिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्टयाविष्कृतश्रीपार्श्वतीर्थेश्वरप्रातिद्वन्द्वश्रीसिद्धसेनभट्टारकाणा ।

—जैन सि० भा०, प्रथम किरण ।

२ हरिवंशपुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने, अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए उसमें, ‘सिद्धसेन’का नाम भी दिया है । यथा—

‘सुसिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शान्तिषेणकौ ।’

—हरिवंशपुराण ।

३ दिगम्बराचार्योंद्वारा की हुई स्तुतियोंके कुछ पद्य इस प्रकार है—

खोमाणराजकुलजोऽपिसमुद्रसूरि—
गच्छं शशास किल दप्रवणप्रमाण (?) ।
जित्वा तदा क्षपणकान्स्ववशं वितेने
नार्गेद्रदे (?) भुजगनाथनमस्य तीर्थे (?) ॥

यह पद्य तपगच्छकी पट्टावलिमे, जो जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स हेरॅल्ड, जिल्द ११, अक ७-१० मे मुद्रित हुई है, समुद्रसूरिके वर्णनमें दिया है। इसमें जिन क्षपणकोंको जीतनेकी बात लिखी है

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषा. ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तय ॥

—हरिवशपुराणे, श्रीजिनसेन ।

कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मता. ।
मणयः पद्मरागाद्याः ननु काचोऽपि मेचकाः ॥ ३२ ॥
प्रवादिकरियूथाना केशरी नयकेशर ।
सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराङ्कुर ॥ ४२ ॥

—आदिपुराणे, भगवज्जिनसेन· ।

सिद्धान्तोद्धवश्रीधवसिद्धसेनं तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकं ।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वंदे तद्विद्याढ्य वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम् ॥

नियमसारटीकाया, पद्मप्रभ ।

सदावदातमहिमा सदाध्यानपरायण· ।
सिद्धसेनमुनिर्जीयात् भट्टारकपदेश्वरः ॥

—रत्नमालायां, शिवकोटि ।

(ये 'शिवकोटि' समन्तभद्रस्वामीके शिष्य 'शिवकोटि' आचार्यसे भिन्न हैं।)

मदुक्तिकल्पलतिकां सिंचन्त करुणामृतै ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्द्धयन्तु हृदि स्थिताः ॥

—यशोधरचरित्रे, कल्याणकीर्ति ।

कर ' **यो देवनन्दिप्रथमाभिधानः** ' इत्यादि पद्योंके द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और १०८ वें शिलालेखमें समन्तभद्रके बाद पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम[1] पद्य दिया है उसीमें ' **ततः** ' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वय पूज्यपादने, अपने ' जैनेन्द्र ' व्याकरणके निम्न सूत्रमे समन्तभद्रका उल्लेख किया है—

' **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य** ।' ५–४–१४० ॥

इन सब उल्लेखोंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि समन्तभद्र पूज्यपादसे पहले हुए है। पूज्यपादने 'पाणिनीय' व्याकरण पर ' **शब्दावतार**[2] ' नामका न्यास लिखा था और आप गगराजा 'दुर्विनीत' के शिक्षागुरु (Preceptor) थे, ऐसा ' हेब्बूर ' के ताम्रलेख, ' एपिग्रेफिया कर्णाटिका ' की कुछ जिल्दों, ' कर्णाटककविचरिते ' और ' हिस्टरी ऑफ कनडीज लिटरेचर'से पाया जाता है । साथ ही यह भी माछ्म होता है कि ' दुर्विनीत ' राजाका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। इसलिये पूज्यपाद ईसवी सन् ४८२

१ पूज्यपादके परिचयके तीन पद्योंमें प्रथम पद्य इस प्रकार है—

> श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्म्मराज्यस्ततो सुराधीश्वरपूज्यपाद ।
> यदीय-वैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥

२ पूज्यपाद द्वारा 'शब्दावतार' नामक न्यासके रचे जानेका हाल 'नगर' ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेख (E. C. VIII,) के निम्न *वाक्यसे भी पाया जाता* है—

> न्यासं जैनेन्द्रसज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो—
> न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा ।
> यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद—
> स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥

से भी कुछ पहलेके विद्वान् थे, यह स्पष्ट है। डॉक्टर बूल्हरने[1] जो आपको ईसाकी पॉचवीं शताब्दीका विद्वान् लिखा है वह ठीक ही है। पूज्यपादके एक शिष्य '**वज्रनन्दी**' ने वि० सं० ५२६ (ई० स० ४७०) में 'द्राविड' सघकी स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेनके 'दर्शनसार'[2] ग्रथमें मिलता है * और इससे यह माॡम होता है कि पूज्यपाद 'दुर्विनीत' राजाके पिता 'अविनीत[3] के राज्यकालमें भी मौजूद थे, जो ई० सन् ४३० से प्रारंभ होकर ४८२ तक पाया जाता है। साथ ही, यह भी माॡम पड़ता है कि द्राविड़ सघकी स्थापना जब पूज्यपादके एक शिष्यके द्वारा हुई है तब उसकी स्थापनाके समय पूज्यपादकी अवस्था अधिक नहीं तो ४० वर्षके करीब जरूर होगी और उन्होंने अपने ग्रथोंकी रचनाका कार्य ई० सन् ४५० के करीब प्रारभ किया होगा। ऐसी हालतमें, समन्तभद्र प्राय: ई० सन् ४५० से पहले हुए हैं, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परतु कितने पहले हुए हैं, यह बात अभी विचारणीय है। इस प्रश्नका समुचित और यथार्थ एक उत्तर देनेमे बड़ी ही कठिनाइयॉ उपस्थित होती हैं। यथेष्ट साधनसामग्रीकी कमी यहाँपर बहुत ही खलती है। और इसलिये, यद्यपि, इस विषयका कोई निश्चयात्मक एक

---

१ Ind Ant, XIV, 355

२ यह ग्रंथ वि० स० ९९० का बना हुआ है।

*—सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महा सत्तो ॥ २४ ॥
पचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥

३ अविनीत राजाका एक ताम्रलेख शक स० ३८८ (ई० सन् ४६६) का लिखा हुआ पाया जाता है जिसे मर्करा प्लेट न० १ कहते हैं।

उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता, फिर भी विचार करते हुए इस सम्बधमें जो जो घटनाएँ सामने उपस्थित हुई है और उनसे जिस जिस समयका, जिस प्रकारसे अथवा जो कुछ बोध होता है उस सबको पाठकोंके सामने रख देना ही उचित मालूम देता है, जिसमे पाठकजन वस्तुस्थितिको समझकर विशेष अनुसंधानद्वारा ठीक समयको मालूम करनेमें समर्थ हो सकें, अथवा लेखकको ही विशेष निर्णयके लिये कोई खास सूचना दे सकें ।

उमास्वाति-समय ।

(क) श्रवणबेल्गोलके शिलालेखपरसे समन्तभद्रका परिचय देते हुए, यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि समन्तभद्र 'उमास्वाति' आचार्य और उनके शिष्य 'बलाकपिच्छ' के बाद हुए हैं । यदि उमास्वातिका या उनके शिष्यका निश्चित समय मालूम होता तो उस परसे समन्तभद्रका आसन्न समय आसानीसे बतलाया जा सकता था, अथवा इतना तो सहजहीमें कहा जा सकता था कि समन्तभद्र उस समयके बाद और ई० सन् ४५० के पहले—दोनोंके मध्यवर्ती किसी समयमें—हुए हैं । परन्तु उमास्वातिका समय अभीतक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो सका—उसकी भी हालत प्रायः समन्तभद्रके समय जैसी ही है और इस लिये उमास्वातिके संदिग्ध समयके आधार पर समन्तभद्रके यथार्थ समयकी बाबत कोई ऊँची तुली बात नहीं कही जा सकती ।

(ख) नन्दिसंघकी पट्टावलीमें, उमास्वातिके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय वि० सं० १०१ दिया है । साथ ही, यह भी लिखा है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्य पद पर रहे, उनकी आयु ८४ वर्षकी थी और सं० १४२ में उनके पट्टपर लोहाचार्य

द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। श्रवणबेल्गोलके कितने ही शिलालेखोंमें[1] उमास्वातिके प्रधान शिष्य रूपसे 'बलाकपिच्छ'का ही नाम दिया है, बलाकपिच्छकी शिष्यपरम्पराका भी उल्लेख किया है और यहाँपर उसकी जगह लोहाचार्यका नाम पाया जाता है। इसकी बाबत, यद्यपि, यह कहा जा सकता है कि बलाकापिच्छ लोहाचार्यका ही नामान्तर होगा,—जैसे उमास्वातिका नामान्तर 'गृध्रपिच्छ'—अथवा लोहाचार्य उमास्वातिके कोई दूसरे ही शिष्य होंगे परतु फिर भी इस पट्टावलीपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। इसमे प्राचीन आचार्योंका समय और क्रम बहुत कुछ गड़बड़में पाया जाता है। उदाहरणके लिये पूज्यपाद (देवनन्दी) के समयको ही लीजिये, पट्टावलीमें वह वि० सं० २५८ से ३०८ तक दिया है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि पट्टावलीमें पूज्यपादके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय ई० सन् २०० के करीब बतलाया है, परन्तु इतिहाससे जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, वह ४५० के करीब पाया जाता है, और इस लिये दोनोंमें करीब अढाईसौ (२५०) वर्षका भारी अन्तर है। इतिहासमें पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिका उल्लेख मिलता है और यह भी उल्लेख मिलता है कि उन्होने वि० सं० ५२६ में 'द्राविड' संघकी स्थापना की, परन्तु पट्टावलीमें पूज्यपादके बाद दो आचार्यों (जयनन्दी और गुणनन्दी) का उल्लेख करके चौथे (१३) नम्बर पर वज्रनन्दीका नाम दिया है और साथ

---

१ देखो, शिलालेख न० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८।

२ यह असली नाम मालूम भी नहीं होता, जान पड़ता है बलाक (बक, सारस) की पीछी रखनेके कारण इनका यह नाम प्रसिद्ध हुआ है। इनके गुरु गृध्रकी पीछी रखते थे। इससे मयूरकी पीछीका उस समय कोई खास आग्रह मालूम नहीं पड़ता।

हीं उनका समय भी वि० सं० ३६४ से ३८६ तक बतलाया है। क्रम-भेदके साथ साथ इन दोनों समयोमे भी परस्पर बहुत बड़ा अन्तर जान पड़ता है। इतिहाससे वसुनन्दीका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दी माल्म होता है परन्तु पट्टावलीमें ६ ठी शताब्दी (५२५–५३१) दिया है। इस तरह जाँच करनेसे बहुतसे आचार्योंका समयादिक इस पट्टावलीमें गलत पाया जाता है, जिसे विस्तारके साथ दिखलाकर यहाँ इस निबन्धको तूल देनेकी जरूरत नहीं है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह पट्टावली कितनी सदिग्धावस्थामे है और केवल इसीके आधार पर किसीके समयादिकका निर्णय कैसे किया जा सकता है। प्रोफेसर हेर्नल[1], डाक्टर पिटर्सन[2] और डा० सतीशचद्रने[3] इस पट्टावलीके आधार पर ही उमास्वातिको ईसाकी पहली शताब्दीका विद्वान् लिखा है और उससे यह माल्म होता है कि उन्होंने इस पट्टावलीकी कोई विशेष जाँच नहीं की—वैसे ही उसके रग-ढंगपरसे उसे ठीक मान लिया है। अस्तु; यदि पट्टावलीमें दिया हुआ उमास्वातिका समय ठीक हो तो समन्तभद्रका अस्तित्व-समय उससे प्रायः ४० वर्षके फासले पर अनुमान किया जा सकता है—यह ४० वर्षका अन्तर एकके समयारंभसे दूसरेके समयारंभ तक अथवा एककी समय-समाप्तिसे दूसरेकी समय-समाप्ति तक भी हो सकता है—और तब डा० भाण्डार-

---

१. Ind. ant, XX, P. 341, 351.

२ Peterson's fourth report on Sanskrit manuscripts P. XVI.

३. History of the Mediaeval school of Indian Logic, P. 8, 9.

करकी रिपोर्टमें[1] समन्तभद्रका समय जो शक स० ६० (वि० स० १९५) के करीब बतलाया गया है अथवा आम तौर पर विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है उसे भी ठीक कहा जा सकता है।

(ग) 'विद्वज्जनबोधक' में निम्न श्लोकको उमास्वाति (उमास्वामी) के समयवर्णनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है और उसके द्वारा यह सूचित किया है कि उमास्वाति आचार्य वीरनिर्वाणसे ७७० वर्ष बाद हुए है अथवा[2] ७७० वर्ष तक उनके समयकी मर्यादा है—

वर्षे[3] सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामिमुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥

यदि इस समय जो वीरनिर्वाणसंवत् (२४५१) प्रचलित है उसे ठीक मान लिया जाय तो इस श्लोकके आधार पर उमास्वातिका समय वि० स० ३०० या ३०० तक होता है और वह पट्टावलीके समयसे डेढसौ वर्षसे भी अधिक पीछे पड़ता है। इस समयको ठीक मान लेने पर समन्तभद्र वि० स० ३४० (ई० सन् २८३) या ३४० तकके करीबके विद्वान् ठहरते हैं।

वीरनिर्वाण, विक्रम और शक संवत् ।

परन्तु वीरनिर्वाण सवत्का अभीतक कोई ठीक निश्चय नहीं हुआ। इस सवत्से विक्रम सवत्का जो ४७० वर्ष (४६९ वर्ष ५ महीने) बाद प्रचलित होना माना जाता है उसकी बाबत कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ठीक नहीं है, क्योंकि वीरनिर्वाणसे

---

१ हस्तलिखित सस्कृत ग्रथोंके अनुसधान-विषयक सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट।

२ इस पिछले अर्थकी सभावना अधिक प्रतीत होती है। कुन्दकुन्दका बादमें उल्लेख भी उसे पुष्ट करता है।

३ मालूम नहीं यह पद्य विद्वज्जनबोधकमें कहाँसे उद्धृत किया गया है और कौनसे ग्रथका है।

४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म हुआ है—न कि उसका सम्वत् प्रचलित हुआ, और इसके लिये वे नन्दिसंघकी दूसरी[1] प्राकृत पट्टावलीका निम्न वाक्य पेश करते है—

सत्तरि[2] चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस बाललीला सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥

उनके विचारसे विक्रमकी १८ वर्षकी अवस्था हो जाने पर, वीर-निर्वाणसे ४८८ वर्ष ५ महीने बाद, विक्रम सवत् प्रारम्भ हुआ है, और यह विक्रमके राज्यकालका सम्वत् है। श्रीयुत बाबू काशीप्रसादजी जायसवाल, बार-ऐट-ला, पटना, तथा मास्टर बिहारीलालजी बुलन्द-शहरी इसी मतको पुष्ट करते है और डा० हर्मन जैकोबीका भी अब ऐसा ही मत मालूम होता है*। नन्दिसघकी पट्टावलीमें भी

---

१ यह पट्टावली जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरणमे भी मुद्रित हुई है।

२ यह गाथा 'विक्रम-प्रबन्ध' में भी पाई जाती है, (जै० सि० भा०, किरण ४ थी, पृ० ७५ ।)

*यह बात डा० हर्मन जॅकोबीके एक पत्रके निम्न अशसे मालूम होती है जो उन्होंने 'भगवान महावीर' नामक पुस्तककी पहुँच देते हुए, हालमें लिखा है और जिसके इस अशको बा० कामताप्रसादजीने 'वीर' के दिसम्बर सन् १९२४ के अकमें मुद्रित किया है—

In the 32nd chapter you show that according to Digambara tradition, the Nirvâna of Mahâvira took place 470 before Vikrama. Now I found in Gurvavali from Jaipur that Vikrama's birth occurred 470 years after Mahavira's Nirvana सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो. But the Vikrama era does not date from the जन्म of Vikrama, but from the राज्य of Vikrama, or from the 18 th year after his birth By this reckoning the Nirvana should be placed 18 years earlier or 545 B. C.

आचार्योंके पट्टारोहणके जो सम्वत् दिये है उनकी गणना विक्रमके राज्याभिषेक समयसे ही की गई है,* अन्यथा, उक्त पट्टावलीमें भद्रबाहु द्वितीयके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० स० ४ दिया है वह नंदिसघकी दूसरी प्राकृतपट्टावलीके विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि उस पट्टावलीमें भद्रबाहु (द्वितीय) का वीरनिर्वाणसे ४९२ वर्ष बाद होनेका उल्लेख किया है और यह समय विक्रमके जन्मसे २२ वर्ष बाद बैठता है। पट्टावलीमें स० २२ न देकर ४ का दिया जाना इस बातको साफ बतलाता है कि वह विक्रमके राज्यकालका संवत् है और उसके जन्मसे १८ वर्षके बाद प्रारभ हुआ है। अस्तु, यदि प्रचालित विक्रम सवत्को विक्रमके जन्मका संवत् न मानकर राज्यका संवत् मानना ही ठीक हो और साथ ही यह भी माना जाय कि विक्रमका जन्म वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है तो आजकल जो वीरनिर्वाण सं० २४५१ वीत रहा है उसे २४७० मानना पडेगा; उमास्वातिका समय तब, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० २८१ या २८१ तक ठहरेगा, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी १८ वर्ष और पहले (ई० सन् २६५ या २६५ तकके करीब) हो जायगा।

विक्रमसवत्के सम्वंधमें एक मत और भी है और वह प्रचालित संवत्को विक्रमकी मृत्युका सवत् प्रतिपादन करता है। इस मतके प्रधान पोषक हमारे मित्र प० नाथूरामजी प्रेमी है। आपने, 'दर्शनसार' की विवेचनामें, अपने इस मतका बहुत स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख किया है और साथ ही कुछ प्रमाणवाक्योंके द्वारा उसे पुष्ट करनेका भी यत्न

---

* देखो 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण ४ थी, पृष्ठ ७८।

किया है * । दर्शनसारकी कई गाथाओंमें, कुछ सघोंके उत्पत्ति-समयका निर्देश करते हुए, '**विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स**' शब्दोका प्रयोग किया गया है । इसपरसे प्रेमीजीको यह खयाल पैदा हुआ कि इस ग्रंथमें जो कालगणना की है वह क्या खास तौरपर विक्रमकी मृत्युसे की गई है अथवा प्रचलित विक्रम संवत्का ही उसमें उल्लेख है और वह विक्रमकी मृत्युका संवत् है । खोज करनेपर आपको अमितगति आचार्यका निम्नवाक्य उपलब्ध हुआ और उसपरसे प्रचलित विक्रम संवत्को मृत्यु सवत् माननेके लिये आपको एक आधार मिल गया—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके ।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुंजनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

यह 'सुभाषितरत्नसंदोह'का पद्य है । इसमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि विक्रम राजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५० वाँ वर्ष (सम्वत्) बीत रहा था और राजा मुज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ल पचमीके दिन यह शास्त्र समाप्त किया गया है । अमितग-

---

* यथा—"बहुतोंका खयाल है कि वर्तमानमें जो विक्रमसवत् प्रचलित है वह विक्रमके जन्मसे या राज्याभिषेकसे शुरू हुआ है, परन्तु हमारी समझमे यह मृत्युका ही सवत् है । इसके लिये एक प्रमाण लीजिये ।"

१ देखो गाथा न० ११, २८ और ३८ जिनके प्रथम चरण क्रमश· 'छत्तीसे वरिससए' 'पचसए छव्वीसे,' 'सत्तसए तेवण्णे' हैं और द्वितीय चरण सबका वही 'विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स' दिया है । और इन गाथाओंमें क्रमश· श्वेताम्बर, द्राविड तथा काष्ठासघोंकी उत्पत्तिका समय निर्देश किया है ।

तिने अपने दूसरे ग्रंथ 'धर्मपरीक्षा'की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है—

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रं॥

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० में ग्रथकी समाप्तिका उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया, फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढनेसे इस विषयमे कोई सदेह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रम संवत्का ही अपने ग्रथोंमें प्रयोग किया है और वे उसे विक्रमकी मृत्युका सवत् मानते थे—सवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी, उससे कोई भेद नहीं पड़ता था। पहले पद्यमे मुजके राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी खास तौरसे समर्थक है, क्योंकि इतिहाससे प्रचालित वि० स० १०५० में मुजका राज्यासीन होना पाया जाता है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगतिने प्रचालित विक्रम सवत्से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रम सवतका उल्लेख अपने उक्त पद्योंमे किया है। ऐसा कहने पर मृत्यु स० १०५० के समय जन्मस० ११३० अथवा राज्यस० १११२ का प्रचालित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुजके जीवित रहनेका इतिहासमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुंजके उत्तराधिकारी राजा भोजका भी वि० स० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

यद्यपि, विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजाके द्वारा उसका मृत्युसंवत् प्रचलित किये जानेकी वात जीको कुछ कम लगती है, और यह हो सकता है कि अमितगति आदिको उसे मृत्युसंवत् समझनेमें कुछ

गलती हुई हो, फिर भी ऊपरके उल्लेखोंसे इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमीजीका यह मत नया नहीं है—आजसे हजार वर्ष पहले भी उस मतके माननेवाले मौजूद थे और उनमें **देवसेन** तथा **अमितगति** जेस आचार्य भी शामिल थे * । यदि यही मत ठीक हो और वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका शरीरतः जन्म होना भी ठीक हो तो यह मानना पड़ेगा कि विक्रम सवंत् वीरनिर्वाणसे प्रायः ५५० (४७०+८०) वर्ष बाद प्रारभ हुआ है आर वीर निवार्णको हुए आज प्रायः २५३१ (५५०+१९८१) वर्ष बीत गये है; क्योंकि विक्रमकी आयु ८० वर्षके करीब बतलाई जाती है। ऐसी हालतमे उमास्वातिका समय उक्त पद्य परसे वि० सं० २२० या २२० तक निकलता है, और तब समन्तभद्र भी विक्रमकी तीसरी शताब्दीके या ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते हैं ।

इस तरह विक्रम संवत्के जन्म, राज्य और मृत्यु ऐसे तीन विकल्प होनेसे वीरनिर्वाणसंवत्के भी तीन विकल्प हो जाते हैं, और उसक आधार पर निर्णय होनेवाले आचार्योंके समयमें भी अन्तर पड़ जाता है ।

जॉर्ल चारपेंटियर नामके एक विद्वानने, जून, जुलाई और अगस्त सन् १९१४ के इंडियन 'एण्टिक्वेरी' के अंकोंमे, एक विस्तृत लेखके[1]

---

* देवसेन आचार्यने अपने 'भावसग्रह' मे भी विक्रमके मृत्युसवतका उल्लेख किया है और प० वामदेवके भावसग्रहमें भी उसका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

सपट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥

1 यह लेख और इसके खडनवाला लेख दोनों अभी तक हमे देखनेको नहीं मिल सके ।

द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण विक्रमसंवत्से ४७० वर्ष पहले नहीं किन्तु ४१० वर्ष पहले हुआ है और इसलिये प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत्मेसे ६० वर्ष कम करने चाहियें। आपकी रायमें महावीरनिर्वाणसे ४७० वर्षबाद विक्रम नामके किसी राजाका अस्तित्व ही इतिहासमें नहीं मिलता। आपकी युक्तियोंका यद्यपि मिस्टर के० पी० जायसवालने खंडन किया है, ऐसा जैनसाहित्यसंशोधक, प्रथमखंडके ४ थे अंकसे माऌम होता है, फिर भी यह विषय अभी तक विवादग्रस्त चला जाता है।

वीरनिर्वाणका विषय आजकल ही कुछ विवादग्रस्त हुआ हो सो नहीं, बल्कि आजसे प्राय: १५०० वर्ष पहले भी, अथवा उससे भी कुछ वर्ष पूर्व, वह विवाद ग्रस्त था, ऐसा जान पड़ता है। यही वजह है जो 'तिलोयपण्णत्ति' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) नामक प्राकृत ग्रंथमें इस विषयके चार विभिन्न मतोंका उल्लेख किया गया है*। यथा—

वीरजिणं सिद्धिगदे चउसद-इगसट्ठिवासपरिमाणो।
कालंमि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ॥ ८६॥
अह वा वीरे सिद्धे सहस्सणवकंमि सगसयब्भहिये।
पणसीदिंमि यतीदे पणमासे सगणिओ जादो॥ ८७॥
चोद्दस सहस्स सगसय ते-णउदी-वासकालविच्छेदे।
वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अह वा॥ ८८॥
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा॥ ८९॥

अर्थात्—वीर जिनेन्द्रकी सिद्धिपदप्राप्तिके बाद जब ४६१ वर्ष बीत गये तब यहाँ पर शक नामक राजा उत्पन्न हुआ। अथवा वीर

* देखो जैनहितैषी, भाग १३, अंक १२, पृष्ठ ५३३।

भगवानके सिद्ध होनेके बाद ९७८५ वर्ष ५ महीने वीतने पर शक राजा हुआ । अथवा वीरेश्वरकी मुक्तिसे १४७९३ वर्षके अन्तरसे शक राजा उत्पन्न हुआ । अथवा वीरजिनेन्द्रकी निर्वाण-प्राप्तिको जब ६०५ वर्ष ५ महीने हो गये तब शक राजा हुआ ।

इस कथनसे स्पष्ट है कि उस वक्त वीरनिर्वाणका होना एक मत तो शक राजासे ४६१ वर्ष पहले, दूसरा ९७८५ वर्ष ५ महीने पहले, तीसरा १४७९३ वर्ष पहले और चौथा ६०५ वर्ष ५ महीने पहले मानता था । इन चारों मतोंमे पहला मत नया है—उन मतोंसे भिन्न है जिनका इससे पहले उल्लेख किया गया है—और वही त्रिलोकप्रज्ञप्तिके कर्त्ताको इष्ट जान पड़ता है । यदि यही मत ठीक हो तो कहना चाहिये कि विक्रम राजा वीरनिर्वाणसे ३२६(४६१–१३५) वर्ष बाद हुआ है, न कि ४७० वर्ष बाद, और इस समय वीरनिर्वाणसंवत् २३०७ बीत रहा है । साथ ही, यह भी कहना चाहिये कि उमास्वातिका समय उक्त पद्यके आधारपर वि० सं० ४४४ (७७०–३२६) या ४४४ तक होता है और समन्तभद्रका समय भी तब विक्रमकी ५ वीं शताब्दीका प्रायः अन्तिम भाग ठहरता है, अथवा यो कहिये कि वह पूज्यपादके समयके इतना निकट पहुँच जाता है कि पूज्यपादको अपने प्रारंभिक मुनि-जीवनमें समन्तभद्रके सत्समागमसे लाभ उठानेकी बहुत कुछ संभावना रहती है ।

दूसरा और तीसरा दोनों मत एकदम नये ही नहीं, वल्कि इतने अद्भुत और विलक्षण माळूम होते है कि आजकल उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । माळूम नहीं ये दोनों मत किस आधारपर अवलम्बित हैं और उनका क्या रहस्य है। इनके रहस्यको शायद कोई महान् शास्त्री ही जैनग्रथोंके वहुत गहरे अध्ययनके वाद उद्घाटन कर सके ।

उस रहस्यके उद्घाटित होनेपर जैनशास्त्रोंकी बहुतसी लम्बी चौड़ी कालगणनापर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

रहा चौथा मत, वह वही है जो आजकल प्रचलित है और जिसके अनुसार इस समय वीरनिर्वाण संवत् २४५१ माना जाता है। त्रिलोकसारकी निम्न गाथामें भी इसी मतका उल्लेख है—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो ।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहियसगमासं ॥ ८५० ॥[1]

इस मतके विषयमें यद्यपि, यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती कि इसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका देह-जन्म माना गया है या राज्यजन्म अथवा उसके राज्यकालकी समाप्ति ही उससे अभिप्रेत है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि यदि शक राजाका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद प्रारभ हुआ है तो राजा विक्रमका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद प्रारभ हुआ है—४८८ वर्ष बाद नहीं,—क्योंकि दोनोंके राज्यकालमें अथवा सम्वतोंमें १३५ वर्षका अन्तर प्रसिद्ध है, जो ४८८ वर्ष बाद विक्रमराज्यका प्रारभ होना मानने पर नहीं बन सकता। और इस लिये प्राकृत पट्टावली आदिमें जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष वाद विक्रमका जन्म होना लिखा है वह उसका राजारूपसे जन्म होना हो सकता है—देहरूपसे नहीं। देहरूपसे जन्म होना तभी समझा जा सकता है जब कि शक संवत्का प्रारभ भी शक राजाके जन्मसे माना गया हो।

---

१ इस गाथामें वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजाका और शकसे ३९४ वर्ष ७ महीने वाद कल्किका होना बतलाया गया है।

एक बात और भी यहाँ प्रकट कर देने योग्य है, और वह यह कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें 'सगराजो'के बाद **'तो'** शब्दका प्रयोग किया गया है जो **'ततः'** (तत्पश्चात्) का वाचक है—माधवचंद्र त्रैविद्यदेवविरचित संस्कृतटीकामे भी उसका अर्थ **'ततः'** ही किया गया है—और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शक राजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्कि राजा हुआ, और चूंकि त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंसे कल्किकी मृत्युका वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष बाद होना पाया जाता है * इस लिये उक्त ३९४ वर्ष ७ महीनेमें कल्किका राज्यकाल भी शामिल है, जो त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अनुसार ४२ वर्ष परिमाण कहा जाता है। दूसरे शब्दोमें यो कहना चाहिये कि इस गाथामे शक और कल्किका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्यकालकी समाप्तिका सूचक है। और इस लिये यह नहीं कहा जा सकता है कि शक राजाका राज्यकाल वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारंभ हुआ और उसकी समाप्तिके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने बीतनेपर कल्किका राज्यारभ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हजारकी नियत संख्यामें बाधा आती है। अस्तु। वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक राजाके राज्यकालकी समाप्ति मान लेनेपर यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके अनन्तर ही समाप्त हो गया था, और इस लिये वीरनिर्वाणसे ४७०

---

* देखो जैनहितैषी भाग १३, अंक १२ मे 'लोकविभाग और त्रिलोकप्रज्ञप्ति' नामका लेख।

वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म होनेकी जो बात कही जाती है वह ठीक नहीं बैठती, अथवा यह कहना पड़ता है कि दोनोंके समयोंमे जो १३५ वर्षका अन्तर माना जाता है वही ठीक नहीं है। ऐसी हालतमें, विक्रमसंवत्को विक्रमका मृत्यु-संवत् न मानकर यदि यह माना जाय कि वह विक्रमकी १८ या २० वर्षकी अवस्थामे उसके राज्याभिपेक समयसे प्रारंभ हुआ है तो, ४७० मेंसे विक्रमके राज्यकाल (६६–६२ वर्षों) को घटाकर यह कहना होगा कि वह वीरनिर्वाणसे प्राय: ४०८ अथवा जार्ल चार्पेंटियरके कथनानुसार, ४१० वर्ष बाद प्रारंभ हुआ है। साथ ही, यह भी कहना होगा कि इस समय वीरनिर्वाण सवत् २३८९ या २३९१ बीत रहा है, और इस लिये उमास्वातिका समय, उक्त पद्यके आधार पर, वि० सं० ३६० या ३६२ होना चाहिये अथवा इनमेंसे किसी संवत्को ही उनके समयकी अन्तिम मर्यादा कहना चाहिये, और तदनुसार समन्तभद्रका समय भी वि० स० ४०० या ४०० तकके करीब बतलाना चाहिये।

इस सब कथनसे पाठक स्वयं समझ सकते है कि वीरनिर्वाण संवत्का विषय और विक्रम तथा शक सवतोंके साथ उसका सम्बंध कितनी अधिक गड़बड़ तथा अनिश्चितावस्थामें पाया जाता है, और इसलिये, उसके आधारपर–उसकी गुत्थीको सुलझाये बिना उसकी किसी एक वातको लेकर–किसीके समयका निर्णय कर बैठना कहॉ तक युक्तियुक्त और निरापद हो सकता है। इसमें संदेह नहीं कि वीरनिर्वाण-काल जैसे विपयका अभी तक अनिश्चित रहना जैनियोंके लिये एक वड़े ही कलक तथा लज्जाकी वात है, और इसलिये जितना शीघ्र वन सके विद्वानोंको उसे पूरी तौर पर निश्चित कर डालना चाहिये। परतु यह सव काम अधिक परिश्रम और समय-साध्य होनेके साथ

साथ प्रचुर अथवा यथेष्ट साधनसामग्रीके सामने मौजूद होनेकी खास अपेक्षा रखता है, जिसका इस समय अभाव है, और इसी लिये इस प्रबंधमे हम उसका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके। अवसरादिक मिलने पर उसके लिये जुदा ही प्रयत्न किया जायगा।

कुन्दकुन्द-समय।

(घ) ऊपर—'ग' भागमें—उमास्वातिका समय-सूचक जो पद्य 'विद्वज्जनबोधक'से उद्धृत किया गया है उसमे कुन्दकुन्दाचार्यको भी उसी समयका विद्वान् बतलाया है जिसका उमास्वाति मुनिको, और इस तरह पर दोनोंको समकालीन विद्वान् सूचित किया है। परतु इस पद्यके अनुसार दोनोको समकालीन मान लेने पर भी इनमे वृद्धत्वका मान कुन्दकुन्दाचार्यको प्राप्त था, इसमे संदेह नहीं है। नान्दिसंघकी पट्टावलीमें तो कुन्दकुन्दके अनन्तर ही उमास्वातिका आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होना लिखा है और उससे ऐसा माळूम पड़ता है मानो उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य ही थे। परन्तु श्रवणबेलगोलके शिलालेखमें उमास्वातिका कुन्दकुन्दसे ठीक बादमें उल्लेख करते हुए भी उन्हें कुन्दकुन्दका शिष्य सूचित नहीं किया, बल्कि '**तदन्वये**' और '**तदीयवंशे**' शब्दोंके द्वारा कुदकुदका 'वशज' प्रकट किया है *। फिर भी यह वशजत्व कुछ दूरवर्ती माळूम नहीं होता। हो सकता है

* श्रवणबेलगोलके शिलालेखों—न० ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० मे—'तदन्वये' पदको लिये हुए यह श्लोक पाया जाता है—

> अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ।
> तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥

और १०८ वें शिलालेखका पद्य निम्न प्रकार है—

> अभूदुमास्वातिमुनि पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीत शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन॥

कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हों और इसीसे ' तदन्वये ' आदि पदोंके प्रयोगकी जरूरत पड़ी हो । इस तरह भी दोनों कितने ही अंशोंमें समकालीन हो सकते हैं और उमास्वातिके समयकी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके समयकी समाप्ति भी कहा जा सकता है । शायद यही वजह हो जो उक्त पद्यमें उमास्वातिका समय बतलाकर पीछेसे ' कुन्दकुन्दस्तथैव च ' शब्दोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है, अर्थात् कुन्दकुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं । अस्तु, उक्त पट्टावलीमें उमास्वातिकी आयु ८४ वर्ष दी है और साथ ही यह सूचित किया है कि वे ४० वर्ष ८ महीने आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहे । यदि यह उल्लेख ठीक हो तो कहना चाहिये कि उमास्वाति प्रायः ४३ वर्ष कुन्दकुन्दके समकालीन रहे हैं । ऐसी हालतमें यदि कुन्दकुन्दका ही निश्चित समय मालूम हो जाय तो उसपरसे भी समन्तभद्रके आसन्न समयका बहुत कुछ यथार्थ बोध हो सकता है । परन्तु कुन्दकुन्दका समय भी अभी तक पूरी तौरसे निश्चित नहीं हो पाया । नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जो आपका समय वि० सं० ९४ से १०१ तक दिया है उस पर तो, पट्टावलीकी हालतको देखते हुए सहसा विश्वास नहीं होता, और उक्त पद्यमें जो समय दिया है वह उन सब विकल्पो अथवा संदेहोंका पात्र बना हुआ है जो ऊपर 'ग' भागमे उपस्थित किये गये हैं, और इसलिये इन दोनों आधारों परसे प्रकृत विषयके निर्णयार्थ यहाँ किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती—समन्तभद्रके समयसम्बन्धमें जो कल्पनाएँ ऊपर की गई हैं वे ही ज्योंकी त्यों कायम रहती हैं । अब देखना चाहिये दूसरे किसी मार्गसे भी कुन्दकुन्दका कोई ठीक समय उपलब्ध होता है या कि नहीं ।

इन्द्रनंदि आचार्यके 'श्रुतावतार'से माळूम होता है कि भगवान् महावीरकी निर्वाण–प्राप्तिके बाद ६२ वर्षके भीतर तीन केवली, उसके बाद १०० वर्षके भीतर पाँच श्रुतकेवली, फिर १८३ वर्षके भीतर ग्यारह मुनि दशपूर्व-के पाठी, तदनतर २२० वर्षके भीतर पाँच एकादशागधारी और तत्प-श्चात् ११८ वर्षमें चार आचारागके धारी मुनि हुए । इस तरह वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यंत अंगज्ञान रहा । इसके बाद चार आरातीय मुनि अंग और पूर्वोंके एकदेशज्ञानी हुए, उनके बाद 'अर्हद्बलि,' अर्हद्बलिके अनन्तर 'माघनन्दि' और माघनन्दिके पश्चात् 'धरसेन' नामके आचार्य हुए, जो 'कर्मप्राभृत'के ज्ञाता थे । इन मुनिराजने अपनी आयु अल्प जानकर और यह खयाल करके कि हमारे पीछे कर्मप्राभृत श्रुतका ज्ञान व्युच्छेद न होने पावे, वेणाक तटके मुनिसघसे दो तीक्ष्णबुद्धि मुनियोंको बुलवाया, जो बादमें 'पुष्पदन्त' और 'भूतवलि' नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्हे वह समस्त श्रुत अच्छी तर-हसे व्याख्या करके पढ़ा दिया । तत्पश्चात् पुष्पदन्त और भूतबलिने कर्मप्राभृतको सक्षिप्त करके षट्खण्डागमका रूप दिया और उसे द्रव्य-पुस्तकारूढ किया–अर्थात्, लिपिबद्ध करा दिया । उधर गुणधर आचार्यने 'कषायप्राभृत' अपरनाम 'दोषप्राभृत'के गाथासूत्रोंकी रचना करके उन्हें 'नागहस्ति' और 'आर्यमक्षु' नामक मुनियोंको पढाया, उनसे 'यतिवृषभ'ने पढकर उन गाथाओंपर चूर्णिसूत्र रचे और यति-वृषभसे 'उच्चारणाचार्य' ने अध्ययन करके चूर्णिसूत्रोंपर वृत्तिसूत्र लिखे । इस प्रकार गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा कषाय-प्राभृतकी रचना होकर वह भी द्रव्यपुस्तकारूढ हो गया । जब कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त द्रव्यभावरूपसे पुस्तका-रूढ हो गये तब कोण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि (कुदकुद) नामके

आचार्य गुरुपरिपाटीसे दोनों सिद्धान्तोंके ज्ञाता हुए और उन्होंने 'षट्खण्डागम 'के प्रथम तीन खण्डोंपर बारह हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी।

इस कथनसे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीरनिर्वाण सं० ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए है। परन्तु कितने पीछे, यह अस्पष्ट है। यदि अन्तिम आचारागधारी 'लोहाचार्य' के बाद होने-वाले विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्वलि, माघनदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहजहीमें कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीरनिर्वाणसे ७६३ (६८३+२०+६०) वर्ष बाद हुए है और यह समय उस समय (७७०) के करीव ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जनबोधकसे उद्धृत किये हुए उक्त पद्यमें दिया है, और इस लिये इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है। श्रुतावतारमे, वीरनिर्वाणसे अन्तिम आचारागधारी लोहाचार्यपर्यंत, ६८३ वर्षके भीतर केवलि-श्रुतकेवलियों आदिके होनेका जो कथन जिस क्रम और जिस समयनिर्देशके साथ किया है वह त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जिनसेनकृत हरिवंशपुराण और भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराण जैसे प्राचीन ग्रथोंमे भी पाया जाता है। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें इतना विशेष जरूर है कि आचारागधारियोकी ११८ वर्षकी सख्यामें अग और पूर्वोके एकदेशधारियोंका भी समय शामिल किया है *, इससे विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका जो

* पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसवाहू।
तुरियो य लोहणामो एदे आयार अंगधरा॥ ८०॥

पृथक् समय २० वर्षका मान लिया गया था उसे गणनासे निकाल दिया जा सकता है और तब कुन्दकुन्दका वीरनिर्वाणसे ७४३ वर्ष बाद होना कहा जा सकता है। इससे भी उक्त पद्यके समयसमर्थनमें कोई बाधा न आती, क्योंकि उस पद्यमें प्रधानतासे उमास्वातिका समय दिया है—उमास्वातिके समकालीन होनेपर भी, वृद्धत्वके कारण, कुन्दकुन्दका अस्तित्व २७ वर्ष पहले और भी माना जा सकता है और उसका मान लिया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। सेनगणकी पट्टावलीमें भी ६८३ वर्षकी गणना 'श्रुतावतार' के सदृश ही की गई है। परंतु नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें वह गणना कुछ विसदृशरूपसे पाई जाती है। उसमें दशपूर्वधारियों तकका समय तो वही दिया है जिसका ऊपर उल्लेख किया है। उसके बाद एकादशांगधारी पाँच मुनियोंका समय, २२० वर्ष न देकर, १२३ वर्ष दिया है और शेष ९७ वर्षोंमें सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य नामके उन चार मुनियोंका होना लिखा है और उन्हे दश नव तथा अष्ट अंगका पाठी बतलाया है, जिन्हें 'श्रुतावतार' आदि ग्रंथोंमें एकादशा-

सेसेक्करसंगाणिं चोद्दसपुव्वाणमेकदेसधरा ।
एकसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाणं ॥ ८१ ॥
तेसु अदीदेसु तदा आचारधरा ण होंति भरहंमि ।
गोदममुणिपहुदीणं वासाणं छस्सदाणि तेसी दो ॥ ८२ ॥

१ जैनहितैषी, भाग ६ ठा, अंक ७–८ में पं० नाथूरामजीने आठके बाद सात संख्याका भी उल्लेख किया है और लिखा है कि, "जिस ग्रंथके आधार पर हमने यह पट्टावली प्रकाशित की है, उसमें इन्हे क्रमश. दश, नौ, आठ और सात अंगका पाठी बतलाया है"। ऐसा होना जीको भी लगता है, परंतु हमारे सामने जो पट्टावली है उसमें 'दसंग नव अंग अट्ठधरा' और 'दसनवअट्ठंगधरा' पाठ हैं। संभव है कि पहला पाठ कुछ अशुद्ध छप गया हो और वह 'दसंग णवअट्ठसत्तधरा' हो।

चार्यमेंसे किसीको आपका गुरु नहीं लिखा है; इस लिये इन आचार्योंके बाद कमसे कम एक आचार्यका आपके गुरुरूपसे होना जरूरी मालूम पड़ता है, जिसके लिये उक्त समय अधिक नहीं है। इस तरह पर कुन्दकुन्दके समयका प्रारंभ वीरनिर्वाणसे ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है। परन्तु इस अधिक समयकी कल्पनाको भी यदि छोड़ दिया जाय और यही मान लिया जाय कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर ही कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं तो यह कहना होगा कि वे विक्रम सवत् २१३ (६८३–४७०) के बाद हुए हैं उससे पहले नहीं। यही प० नाथूरामजी प्रेमी * आदि अधिकाश जैन विद्वानोका मत है। इसमें हम इतना और भी जोड़ देना चाहते है कि वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष वाद विक्रमका देहजन्म मानते हुए, उसका विक्रमसवत् यदि राज्यसवत् है तो उससे १९५ (६८३–४८८) वर्ष वाद और यदि मृत्युसवत् है तो उससे १३३ (६८३–५५०) वर्ष वाद कुदकुदाचार्य हुए हैं। साथ ही, इतना और भी कि, यदि शक राजाका अस्तित्वसमय वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पर्यंत रहा है, उसीकी मृत्युका वर्तमान शक सवत् (१८४६) प्रचलित है और विक्रम तथा शक सवतोंमें १३५ वर्षका वास्तविक अन्तर है तो कुन्दकुन्दाचार्य वि० स० से ३५७ (६८३–३६१+१३५) वर्ष वाद हुए हैं।

ऊपर उमास्वातिके समयसे समन्तभद्रके समयकी कल्पना प्रायः ४० वर्ष वाद की गई है, कुन्दकुन्दके समयसे वह ६० वर्ष वाद की जा सकती है और कुछ अनुचित प्रतीत नहीं होती। ऐसी हालतमें समन्तभद्रको क्रमशः वि० स० २७३, २५५, १९३ या ४१७ के करीबके विद्वान् कह सकते है। और यदि शक सवत् शक राजाकी

* देखो जैनहितैषी भाग १० वॉ, अक ६–७, पृ० ३७९।

का संवत् न होकर उसके राज्य अथवा जन्मका संवत् हो तो पिछले
७ संवतमेंसे शकराज्यकाल अथवा उसकी आयुके वर्ष भी कम
जा सकते हैं ।

राजा शिवकुमार ।

'पचास्तिकाय' सूत्रकी जयसेनाचार्यकृत टीकामें लिखा है कि श्रीकु-
न्दाचार्यने इस शास्त्रको अपने शिष्य शिवकुमार महाराजके प्रति-
नार्थ रचा है, और वही राजा इस शास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त है ।

" श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः ...शिवकुमारमहाराजा-
संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृत-
त्रे .."

"अथ प्राभृतग्रंथे शिवकुमारमहाराजो निमित्तं अन्यत्र द्रव्य-
हादौ सोमश्रेष्ठ्यादि ज्ञातव्यम् । इति संक्षेपेण निमित्तं
थितं ।"

ग्रथकी कनडी टीकामे भी, जो 'बालचंद्र' मुनिकी बनाई हुई है,
प्रकारका उल्लेख बतलाया जाता है । प्रोफेसर के० बी०
कने इन शिवकुमार महाराजका समीकरण कदम्बवंशके राजा
शिवमृगेशवर्मा 'के साथ किया है—उन्हींको उक्त शिवकुमार बत-
या है—और शिवमृगेशका समय, चालुक्य चक्रवर्ती 'कीर्तिवर्मा'
राजके द्वारा वादामी स्थानपर शक सं० ५०० में प्राचीन कदम्ब-
के ध्वस्त किये जानेसे ५० वर्ष पहलेका निश्चित करके,
प्रतिपादन किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य शक सं० ४५०
वि० स० ५८५ या ई० सन् ५२८) के विद्वान् सिद्ध होते है ।
उक्त महाशयके इस मतको प० गजाधरलालजी न्यायशास्त्रीने,

‘समयसारप्राभृत’ की प्रस्तावनामें, अपना यह मत पुष्ट करनेके लिये उद्धृत किया है कि कुन्दकुन्दका उत्पत्तिसमय वि० स० २१३ से पहले वनता ही नहीं; और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि उसे स्वीकार कर लेनेमें कोई भी हानि नहीं है *। परंतु हमें तो उसके स्वीकारनेमे हानि ही हानि नजर पड़ती है—लाभ कुछ भी नहीं—और वह जरा भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इस मतको मान लेनेसे समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्दसे पहलेके विद्वान् ठहरते है, और तब कुन्दकुन्दके वशमे उमास्वाति हुए, उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपादने ‘सर्वार्थसिद्धि’ नामकी टीका लिखी, इत्यादि कथनोका कुछ भी अर्थ अथवा मूल्य नहीं रहता, और पचासों शिलालेखो तथा ग्रंथादिकोंमें पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानोंके विपयमें जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुदकुदके वंशमें अथवा उनके वाद हुए है मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है†,

* ‘२१३ तमवैक्रमसंवत्सरात्पूर्वं तु साधयितुमेव नार्हति भगवत्कुन्दकुन्दोत्पत्तिसमयः।’............

‘ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुन्दकुन्दसमयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तम शकसंवत्सर एव सिद्ध्यति स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति।’

† उदाहरणके लिये देखो मर्कराका ताम्रपत्र जो शक सवत् ३८८ का लिखा हुआ है और जिसमे कुन्दकुन्दाचार्यके वशमे होनेवाले आचार्योंका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

‘......श्रीमान् कोगणि-महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगणं कौण्डकुन्दान्वय-गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणन्दिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य जनाणन्दिभटार-शिष्यस्य गुणणन्दिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारगे अष्ट अशीति-त्रयो-शतस्य सम्वत्सरस्य माघमासं .. ..’

—कुर्ग इन्स्क्रिप्शन्स (E C I)

यह सब क्या कुछ कम हानि है? समझमें नहीं आता कि न्यायशास्त्री-जीने विना पूर्वापर सम्बन्धोंका विचार किये ऐसा क्यों लिख दिया। अस्तु, हमारी रायमे, प्रथम तो जयसेनादिका यह लिखना ही कि 'कुन्द-कुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पंचास्ति-कायकी रचना की' बहुत कुछ आधुनिक * मत जान पड़ता है, मूल ग्रथमें उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्रीअमृतचद्राचार्यकृत प्राचीन टीकापरसे ही उसका कोई समर्थन होता है। स्वय कुन्दकुन्दाचार्यने ग्रथके अन्तमें यह सूचित किया है कि उन्होंने इस 'पचास्तिकायसं-ग्रह' सूत्रको प्रवचनभक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनार्थ रचा है। यथा—

* १३ वी १४ वीं शताब्दीके करीवका, क्योंकि वालचद्रमुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके गुरु नयकीर्तिका शक स० १०९९ (वि० स० १२३४) में देहान्त हुआ है। और जयसेनाचार्य विक्रमकी प्राय १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। उन्होंने प्रवचनसारटीकाकी प्रशस्तिमे जिन 'कुमुदेन्दु' को नमस्कार किया है वे उक्त वालचद्र मुनिके समकालीन विद्वान् थे। आपकी प्राभृतत्रयकी टीकाओंमे गोम्मटसार, चारित्रसार, द्रव्यसग्रह आदि ११ वीं १२ वीं शताब्दियोंके वने हुए ग्रथोंके कितने ही उल्लेख पाये जाते हैं। ऐसी हालतमे पचास्तिकायटीकाके अन्तमें 'पचास्तिकाय समाप्त' के वाद जो 'विक्रम सवत् १३६९ वपराश्विन शुद्धि १ भौम दिने' ऐसा समय दिया हुआ है वह आश्चर्य नहीं जो टीकाकी समाप्तिका ही समय हो।

१ प्रो० ए० चक्रवर्ती, 'पचास्तिकाय' की प्रस्तावनामे लिखते हैं कि प्राभृत-त्रयके सभी टीकाकारोंने इस वातका उल्लेख किया है कि इन तीनों ग्रथोंको कुन्दकुन्दाचार्यने अपने शिष्य शिवकुमारके हितार्थ रचा है, परतु अमृतचंद्राचार्य-की किसी भी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। नहीं मालूम प्रो० साहवने किस आधार पर ऐसा कथन किया है।

२ 'मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा।' (अमृतचन्द्र)।

**मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥ १७३ ॥**

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दने अपना यह ग्रंथ किसी व्यक्तिविशेष-के उद्देश्यसे अथवा उसकी प्रेरणाको पाकर नहीं लिखा, बल्कि इसका खास उद्देश्य '**मार्गप्रभावना**' और निमित्तकारण '**प्रवचनभक्ति**' है। यदि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनकी खास प्रेरणासे इस ग्रंथको लिखा होता तो वे इस पद्यमें या अन्यत्र कहीं उसका कुछ उल्लेख जरूर करते, जैसे कि भट्टप्रभाकरके निमित्त 'परमात्मप्रकाश' की रचना करते हुए योगीन्द्रदेवने जगह जगह पर ग्रंथमें उसका उल्लेख किया है। परतु यहाँ मूल ग्रथमें ऐसा कुछ भी नहीं, न प्राचीन टीकामें ही उसका उल्लेख मिलता है और न कुन्दकुन्दके किसी दूसरे ग्रंथसे ही शिवकुमारका कोई पता चलता है। इस लिये यह ग्रंथ शिव-कुमार महाराजके संबोधनार्थ रचा गया ऐसा माननेके लिये मन सहसा तय्यार नहीं होता। संभव है कि एक विद्वानने किसी किम्वदंतीके आधार पर उसका उल्लेख किया हो और फिर दूसरेने भी उसकी नकल कर दी हो। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने 'प्रवचनसार' की टीकामें प्रथम प्रस्तावनावाक्यके द्वारा, 'शिवकुमार' का जो निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है उससे शिवकुमार महाराजकी स्थिति और भी संदिग्ध हो जाती है—

अथ[1] कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृ-

१ देखो, रायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें प्रकाशित 'प्रवचनसार' का वि० सं० १९६९ का संस्करण।

तदुराग्रहः परित्यक्तसमस्तशत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यन्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्द्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतःपंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोति—

इस प्रस्तावनाके बाद मूल ग्रंथकी मंगलादिविषयक पाँच गाथा एक साथ दी हैं जिनमेंसे पिछली दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥ ४ ॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥

इन गाथाओंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने बतलाया है कि 'मैं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुओं (पंचपरमेष्ठियों) को नमस्कार करके और उनके विशुद्ध दर्शनज्ञानरूपी प्रधान आश्रमको प्राप्त होकर (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर) उस साम्यभाव (परम-वीतराग-चारित्र) का आश्रय लेता हूँ—अथवा उसे सम्पादन करता हूँ—जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।' और इस प्रकारकी प्रतिज्ञाद्वारा उन्होंने अपने ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयको सूचित किया है। अब इसके साथ टीकाकारकी उक्त प्रस्तावनाको देखिये, उसमें यहाँ प्रतिज्ञा शिवकुमारसे कराई गई है, और इस तरह पर शिवकुमारको मूलग्रंथका कर्ता अथवा प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दका ही नामान्तर सूचित किया है। साथ ही शिवकुमारके जो विशेषण दिये हैं वे एक राजाके विशेषण नहीं हो सकते—वे उन महामुनिराजके विशेषण हैं जो सकलचारित्रके [illegible]

होकर वीतरागचरित्रकी ओर प्रवृत्त होते है । ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते है कि शिवकुमार महाराजकी स्थिति कितनी संदिग्ध है ।

दूसरे, शिवकुमारका 'शिवमृगेशवर्मा' के साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी माद्धम नहीं होता । उससे अच्छा समीकरण तो प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती नायनार, एम० ए०, एल० टी०, का जान पड़ता है जो काचीके प्राचीन पल्लवराजा 'शिवस्कन्दवर्मा' के साथ किया गया है*; क्योंकि 'स्कन्द' कुमारका पर्याय नाम है और एक दानपत्रमें उसे 'युवामहाराज' भी लिखा है जो 'कुमारमहाराज' का वाचक है, इस लिये अर्थकी दृष्टिसे शिवकुमार और शिवस्कन्द दोनो एक जान पड़ते है। इसके सिवाय शिवस्कन्दका 'मयिदावोलु' वाला दानपत्र, अन्तिम मगल पद्यको छोड़ कर, प्राकृत भापामे लिखा हुआ है और उससे शिवस्कन्दकी दरबारी भापाका प्राकृत होना पाया जाता है जो इस ग्रंथकी रचना आदिके साथ शिवस्कन्दका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ज्यादा अनुकूल जान पड़ती है। साथ ही, शिवस्कन्दका समय भी शिवमृगेशसे कई शताब्दियों पहलेका अनुमान किया गया है† । इसलिये पाठक महाशयका उक्त समीकरण

---

* देखो 'पचास्तिकाय' के अंग्रेजी सस्करणकी प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा लिखित 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' (Historical Introduction), सन् १९२० ।

† चक्रवर्ती महाशयने, कुन्दकुन्दका अस्तित्वसमय ईसासे कई वर्ष पहलेसे प्रारभ करके, उन्हे ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान् माना है, और इस लिये उनके विचारसे शिवस्कदका समय ईसाकी पहली शताब्दी होना चाहिये, परन्तु एक जगह पर उन्होंने ये शब्द भी दिये हैं—

It is quite possible therefore that this Sivaskanda of Conjeepuram or one of the predecessor of the

किसी तरह भी ठीक मालूम नहीं होता। जान पडता है उन्होंने इस समीकरणको लेकर ही दो ताम्रपत्रोंमें[1] उल्लेखित हुए तोरणाचार्यको, कुन्दकुन्दान्वयी होनेके कारण, केवल डेढसौ वर्ष पीछेका ही विद्वान् कल्पित किया है; अन्यथा, वैसी कल्पनाके लिये दूसरा कोई भी आधार नहीं था। हम कितने ही विद्वानोंके ऐसे उल्लेख देखते हैं जिनमें उन्हें कुन्दकुन्दान्वयी सूचित किया है और वे कुन्दकुन्दसे हजार वर्पसे भी पीछेके विद्वान् हुए हैं। उदाहरणके लिये शुभचद्राचार्यकी पट्टाव[2]-लीको लीजिये, जिसमें सकलकीर्ति भट्टारकके गुरु 'पद्मनन्दि'को कुन्द-कुन्दाचार्यके वाद **'तदन्वयधरणधुरीण'** लिखा है और जो ईसाकी प्राय: १५ वीं शताव्दीके विद्वान् थे। इसलिये उक्त ताम्रपत्रोंके आधार-पर तोरणाचार्यको शक स० ६०० का और कुन्दकुन्दको उनसे १५० वर्प पहले—शक स० ४५०—का विद्वान् मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता और वह उक्त समीकरणकी मिथ्या कल्पना पर ही अवलम्बित जान पडता है। ४५० से पहलेका तो शक स० ३८८ का लिखा हुआ

Same name was the contemporary and deciple of Sri Kundakunda.

इन शब्दोंसे यह ध्वनि निकलती है कि इस शिवस्कदका ईसाकी पहली शताव्दीके पूर्वार्धमें होना चक्रवर्ती महाशयको शायद कुछ सदिग्ध जान पडा है, वे उसका कुछ वादमें होना भी सभव समझते है, और इस लिये उन्होंने इस शिवस्कदसे पहले उसी नामके एक और पूर्वजकी कल्पनाको भी कुन्दकुन्दकी समकालीनता और शिष्यताके लिये स्थान दिया है।

१ ये ताम्रपत्र राष्ट्रकूट वशके राजा तृतीय गोविन्दके समयके है और तोरणाचार्यके प्रशिष्य प्रभाचन्द्रसे सम्वध रखते हैं। इनमे एक शक स० ७१९ और दूसरा ७२४ का है। देखो, समयप्राभृतकी प्रस्तावना और षट्प्राभृतादि-सग्रहकी भूमिका। २ देखो जैनसिद्धान्तभास्करकी ४ थी किरण, पृष्ठ ४३।

मर्कराका ताम्रपत्र है, जिसमें कुन्दकुन्दका नाम है, गुणचंद्राचार्यको कुन्दकुन्दके वशमें होनेवाले प्रकट किया है और फिर ताम्रपत्रके समय तक उनकी पॉच पीढियोंका उल्लेख किया है।

एलाचार्य।

प्रो० ए० चक्रवर्तीने, पचास्तिकायकी अपनी 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' में, प्रो० हर्नलद्वारा संपादित नन्दिसघकी पट्टावलियोंके आधार पर, कुन्दकुन्दको विक्रमकी पहली शताब्दीका विद्वान् माना है—यह सूचित किया है कि वे वि० सं० ४९ में (ईसासे ८ वर्ष पहले) आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्षकी अवस्थामें उन्हे आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पदपर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिनकी बतलाई है। साथ ही, यह प्रकट करते हुए कि कुन्दकुन्दका एक नाम 'एलाचार्य' भी था और तामिल भाषाके 'कुरल' काव्यकी बाबत कहा जाता है कि उसे 'एलाचार्य' ने रचकर अपने शिष्य थिरुवल्लुवरको दिया था जिसकी कृतिरूपसे वह प्रसिद्ध है और जिसने उसको मदुरासघ (मदुराके कविसम्मेलन) के सामने पेश किया था, यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि उक्त एलाचार्य और कुन्दकुन्द दोनों एक ही व्यक्ति थे और इसलिये 'कुरल' का समय भी ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है *। परतु 'कुरल' का समय ईसाकी पहली शताब्दी ठहरो या कुछ और, और वह एलाचार्यका बनाया हुआ हो या न हो, हमें इस चर्चामें जानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि इसके आधारपर कुन्दकुन्दका

* This identification of E'láchârya the author of Kural with Eláchârya or Kund Kund would place the Tamil work in the 1st century of the Christian era.

समय निर्णय नहीं किया गया है । हमें यहाँपर सिर्फ इतना ही देखना है कि चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके जिस समयका प्रतिपादन किया है वह कहाँ तक युक्तियुक्त प्रतीत होता है । रही यह बात कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था या कि नहीं, इस विषयमें हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते है कि जहाँ तक हमने जैन-साहित्यका अवगाहन किया है, हमे नन्दिसघकी पट्टावली अथवा गुर्वावलीको छोड़कर, दूसरे किसी भी ग्रथ अथवा शिलालेख परसे यह माळूम नहीं होता कि 'एलाचार्य' कुन्दकुन्दका नामान्तर था । अनेक शिलालेखों आदि परसे उनका दूसरा नाम 'पद्मनन्दि' ही उपलब्ध होता है और वही उनका दीक्षासमयका नाम अथवा प्रथम नाम था *, 'कौण्डकुन्दाचार्य' नामसे वे बादमें प्रसिद्ध हुए है जिसका श्रुतिमधुररूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' बन गया है और यह उनका देशप्रत्यय नाम था क्योंकि वे कोण्डकुन्दपुरके रहनेवाले थे और इस लिये कोण्डकुन्दाचार्य का अर्थ 'कोण्डकुन्दपुरके आचार्य' होता है । उस समय इस प्रकारके नामोंकी परिपाटी थी, अनेक नगर-ग्रामोंमें मुनिसघ स्थापित थे—मुनियोंकी टोलियाँ रहती थीं—और उनमे जो बहुत बड़े आचार्य होते थे वे कभी कभी उस नगरादिकके नामसे ही प्रसिद्ध होते थे । श्रवण-

---

* जैसा कि श्रवणवेलगोलके शिलालेखोके निम्न वाक्योंसे पाया जाता है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधान ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्य सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥

—शि० ले० न० ४० ।

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धि ॥

—न० ४२,४३,४७,५० ।

वेलगोलके शिलालेखों आदिमे ऐसे बहुतसे नामोंका उल्लेख पाया जाता है । पट्टावलीमें 'गृध्रपिच्छ' और 'वक्रग्रीव' ये दो नाम जो और दिये है उनकी भी कहींसे उपलब्धि नहीं होती । उन नामोंके दूसरे ही विद्वान् हुए है—गृध्रपिच्छ उमास्वातिका दूसरा नाम था, जिसका उल्लेख कितने ही शिलालेखों तथा ग्रथोंमें पाया जाता है, और 'वक्रग्रीव' नामके भिन्न आचार्यका उल्लेख भी श्रवणवेलगोलके ५४ वें शिलालेख आदिमें मिलता है । इसी तरहपर 'एलाचार्य' नामके भी दूसरे ही विद्वान् हुए है, जिनसे भगवज्जिनसेनके गुरु श्रीवीरसेनाचार्यने सिद्धान्त-शास्त्रोंको पढकर उन पर 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाएँ लिखी थीं, जिन्हें धवल और जयधवल सिद्धान्त भी कहते है । 'धवला' टीकाको वीरसेनने शक स० ७३८ में बनाकर समाप्त किया था, इससे 'एलाचार्य' विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके विद्वान् थे । चक्रवर्तीमहाशयके कथनानुसार, डाक्टर जी० यू० पोपने 'कुरल' का समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीसे कुछ पीछेका बतलाया है और वह समय इन एलाचार्यके समयके अनुकूल पड़ता है । आश्चर्य नहीं, यदि 'कुरल' का यही समय हो तो उसकी रचनामें इन एलाचार्यने कोई

---

१ "काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७ ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।" इत्यादि
—इन्द्रनन्दिश्रुतावतार ।

२ 'धवला' टीकाकी प्रशस्तिमें, स्वयं वीरसेन आचार्यने एलाचार्यका शिष्यरूपसे उल्लेख किया है—
'जस्स सेसाएणमए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुदी— ।
महु सो एलाइरिओ पसियउ वरवीरसेणस्स" ॥ १ ॥

खास सहायता प्रदान की हो । परन्तु उसे बिल्कुल ही स्वय रचकर दे देनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती क्योंकि थिरुवल्लुवर यदि इतने अयोग्य थे कि वे स्वयं वैसी कोई रचना नहीं कर सकते थे तो वे कवि-सघके सामने उसे अपने नामसे पेश करनेके योग्य भी नहीं हो सकते थे—वे तब 'कुरल' को एलाचार्यके नामसे ही उपस्थित करते, जिनके नामसे उपस्थित करनेमें कोई बाधा मालूम नहीं होती—और यदि वे खुद भी वैसी रचना करनेके लिये समर्थ थे तो यह नहीं हो सकता कि उन्होंने सारका सारा ग्रंथ दूसरे विद्वानसे लिखा कर उसे अपने नामसे प्रकट किया हो अथवा उसमें अपनी कुछ भी कलम न लगाई हो । इस विषयमें हिन्दुओंका यह परम्पराकथन ज्यादा वजनदार मालूम होता है कि थिरुवल्लुवरने 'एलालसिंह' की सहायतासे स्वयं-ही इस ग्रंथकी रचना की है, परतु उनका ग्रंथकर्ताको शैवधर्मानुयायी बतलाना कुछ ठीक नहीं जचता । बहुत सभव है कि हिन्दुओंका यह 'एलालसिंह' एलाचार्य ही हो अथवा एलाचार्यके गृहस्थ जीवनका ही यह कोई नाम हो । वस्तुस्थितिकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी प्रबल प्रमाणकी उपलब्धि अथवा योग्य समर्थनके पट्टावलीके प्रकृत कथनपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। और न एक मात्र उसीके आधारपर यह कहा जा सकता है कि एलाचार्य कुन्दकुन्दका नामान्तर था ।

पट्टावलिप्रतिपादित समय ।

अब समयविचारको लीजिये । जिस पट्टावलीके आधारपर चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दके उक्त समयका प्रतिपादन किया है वह वही पट्टावली है जिसे ऊपर 'ख' भागमें बहुत कुछ सदिग्ध और अविश्वसनीय बतलाया जा चुका है । और इसलिये जबतक उसपर होनेवाले सदेहों

तथा आक्षेपोंका अच्छी तरहसे निरसन न कर दिया जाय तब तक केवल उसीके आधार पर किसी आचार्यके समयको दृढताके साथ सत्य प्रतिपादन नहीं किया जासकता; फिर भी उसमें उल्लेखित अनेक समयोंके सत्य होनेकी सभावना है, और इसलिये हमे यह देखना चाहिये, कि कुन्दकुन्दके उक्त समयकी सत्यतामें प्रकारान्तरसे कोई बाधा आती है या कि नही—

यह बात मानी हुई है और इसमें कोई मतभेद भी नहीं पाया जाता कि वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्षतक अंगज्ञान रहा, उसके बाद फिर कोई अगज्ञानी—एक भी अगका पाठी—नहीं हुआ, और कुन्दकुन्दाचार्य अंगज्ञानी नहीं थे। इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके कथनानुसार कुन्दकुन्द अन्तिम आचारागधारी लोहाचार्यकी कई पीढियोंके बाद हुए है जिन पीढियोंके लिये ६०–८० वर्पके समयकी कल्पना कर लेना कुछ बेजा नही है। और प्राकृत पट्टावलीके अनुसार, भूतबलिको अन्तिम एकागधारी मान लेनेपर कुन्दकुन्दका समय ६८३ से २०–३० वर्प बादका ही रह जाता है। परन्तु दोनो ही दृष्टियोको सक्षिप्त करके यदि यही मान लिया जाय कि कुन्दकुन्द अन्तिम एकागधारी (लोहाचार्य या भूतबलि) के ठीक बाद हुए है तो यह मानना होगा कि वे वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्प बाद हुए है। और ऐसी हालतमे, जैसा कि ऊपर जाहिर किया गया है, कुन्दकुन्द किसी तरह भी विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् सिद्ध नहीं होते। हाँ यदि यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्द, अंगधारी न होते हुए भी, एकागधारियोंमें पहले हुए है तो उनका समय विक्रमकी पहली शताब्दी बन सकता है। [illegible] चक्रवर्ती भी ऐसा ही मानकर चले मालूम होते हैं, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

आपने एकादशांगधारियों तक ४६८ वर्षकी गणना की है। इस गणनामें एकादशांगधारियोंका एकत्र समय २२० की जगह १३२ वर्ष माना गया है और वह प्राकृत पट्टावलीके अनुसार है। इसी पट्टावलीको लेकर आपने अन्तिम एकादशांगधारी कंसके बाद सुभद्र और यशोभद्रका समय क्रमशः ६ वर्ष और १८ वर्षका बतलाया है। इसके बाद, भद्रबाहु द्वितीयके २३ वर्ष समयका नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीके साथ मेल देखकर कुन्दकुन्दके समयके लिये उस पट्टावलीका आश्रय लिया है, और पट्टावलीमें भद्रबाहुके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेका समय विक्रमराज्य सं० ४ दिया हुआ होनेसे यह प्रतिपादन किया है कि विक्रमका जन्म सुभद्रके उक्त समयारंभसे दूसरे वर्षमें हुआ है—अथवा इस उल्लेखके द्वारा यह सूचित किया है कि विक्रम प्रायः १८ वर्षकी अवस्थामें राज्यासनपर अभिषिक्त हुआ था और उस वक्त यशोभद्रके समयका १५ वाँ वर्ष बीत रहा था। साथ ही इस पिछली पट्टावलीके आधारपर कुन्दकुन्दसे पहले होनेवाले आचार्योंका जो समय आपने दिया है उससे मालूम होता है कि यशोभद्रके बाद भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनन्दी प्रथम और जिनचंद्र, ये चारों आचार्य ४५ वर्ष ८ महीने ९ दिनके भीतर हुए हैं, और चूंकि भद्रबाहु द्वितीयका आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना चैत्रसुदी १४ के दिन लिखा है, इससे यह भी मालूम होता है कि वे वीरनिर्वाणसे ४९२ (४६८+६+१८) वर्ष ५ महीने १३ दिन बाद आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इस तरह पर वीरनिर्वाणसे ५३८ वर्ष १ महीना २२ दिन (४९२ वर्ष ५ महीने

१ वीरनिर्वाण कार्तिक वदी १५ के दिन हुआ था, इसके बाद चैत्रसुदी १४ से पहले ५ महीने १३ दिनका समय और बैठता है।

१३ दिन+४५ वर्ष ८ महीने ९ दिन) बाद, पौषवदी ८ के दिन, आचार्य पद पर कुन्दकुन्दके प्रतिष्ठित होनेका विधान किया गया है; अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि प्राकृत पट्टावलीके अनुसार जब ७–८ अगोंके पाठी लोहाचार्यका समय चल रहा था, या श्रुताव-तार और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिके अनुसार एकादशागधारियोका ही—संभवतः कंसाचार्यका—समय बीत रहा था उस समय कुन्दकुन्दाचार्य-के अस्तित्वका प्रतिपादन किया गया है ।

यद्यपि, अंगज्ञानी न होने पर भी कुन्दकुन्दका अंगज्ञानियोंके समय-में होना कोई असंभव या अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता,—उस समय भी दूसरे ऐसे विद्वान् जरूर होते रहे है जो एक भी अंगके पाठी नहीं थे—परन्तु ऐसा मान लेनेपर नीचे लिखी आपत्तियाँ खड़ी होती है जिनका अच्छी तरहसे निरसन अथवा समाधान हुए विना कुन्द-कुन्दका यह समय नहीं माना जा सकता, जो कि एक बहुत ही सशं-कित और आपत्तियोग्य पट्टावलीपर अवलम्बित है—

(१) दोनो पट्टावलियोंके आधारपर अर्हद्बलि कुन्दकुन्दके प्रायः समकालीन और शेष माघनन्दि (द्वितीय), धरसेन, पुष्पदन्त तथा भूत-बलि नामके चारो आचार्य कुन्दकुन्दसे एकदम पीछेके विद्वान् पाये जाते है, और यह बात इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके विरुद्ध पड़ती है ।

(२) गुणधर, नागहस्ति, आर्यमंक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य भी कुन्दकुन्दसे कितने ही वर्ष बादके विद्वान् ठहरते है, और यह बात भी 'श्रुतावतार' के विरुद्ध पड़ती है ।

---

१ [illegible] समय वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके बाद प्रारम्भ होता है और [illegible] गया है । इसलिये कुन्दकुन्दके आचार्य होनेके बाद [illegible] भी लोहाचार्यका समय रहा है ।

(३) किसी भी ग्रंथ अथवा शिलालेखादिमें ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह साफ तौरपर विदित होता हो कि उक्त माघनंदी, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, तथा गुणधर, नागहस्ति, आर्यमक्षु, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य, ये सब अथवा इनमेंसे कोई भी—कुन्दकुन्दकी आचार्यसंततिमें अथवा उनके बाद हुए हैं। कुन्दकुन्दके बाद होनेवाले आचार्योंकी जगह जगह अनेक नाममालाएँ मिलती हैं, उनमेंसे किसीमें भी इन आचार्योंका कोई नाम न होनेसे इन आचार्योंका कुन्दकुन्दके बाद होना जरूर खटकता है। हाँ एक स्थानपर—श्रवणबेलगोलके १०५ (२५४) नम्बरके शिलालेखमें—ये वाक्य जरूर पाये जाते है—

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोङ्कुराभ्यामिवकल्पभूजः ॥
अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं ।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥
सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं ।
तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंहसंघेषु यस्तं मनुते कुदृक्षः ॥

इन वाक्योंमें यह बतलाया गया है कि "पुष्पदन्त और भूतबलि दोनो अर्हद्बलिके शिष्य थे और उनसे अर्हद्बलि ऐसे राजते थे मानों जगज्जनोंको फल देनेके लिये कल्पवृक्षने दो नये अकुर ही धारण किये है। इन्हीं अर्हद्बलिने कालस्वभावसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंको घटानेके लिये कुन्दकुन्दान्वयरूपी मूलसंघको चार भागोंमें विभाजित किया था और वे विभाग सेन, नन्दि, देव तथा सिंह नामके चारसंघ है। इन चारों संघोंमें जो वास्तविक भेद मानता है वह कुदृष्टि है।"

इस कथनमें मूलसंघका जो ‘ कुन्दकुन्दान्वय ’ विशेषण दिया गया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयविशेषित मूलसंघका अर्हद्बलिद्वारा चार संघोंमें विभाजित होना लिखा है उससे, यद्यपि, यह ध्वनि निकलती है कि कुन्दकुन्दान्वय अर्हद्बलिसे पहले प्रतिष्ठित हो चुका था और इसलिये कुन्दकुन्द अर्हद्बलिसे पहले हुए हैं परंतु यह शिलालेख शक सं० १३२० का लिखा हुआ है जब कि कुन्दकुन्दान्वय बहुत प्रसिद्धिको प्राप्त था और मुनिजनादिक अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी कहनेमें गर्व मानते थे। इसलिये यह भी हो सकता है कि वर्तमान कुन्दकुन्दान्वयको मूलसंघसे अभिन्न प्रकट करनेके लिये ही यह विशेषण लगाया गया हो और ऐतिहासिक दृष्टिसे उसका कोई सम्बंध न हो । अर्हद्बलि, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है पट्टावलियोंके अनुसार कुन्दकुन्दके समकालीन थे—वे कुन्दकुन्दसे प्रायः तीन वर्ष बाद तक ही और जीवित रहे हैं * । ऐसी हालतमें उनके द्वारा कुन्दकुन्दान्वयके इस तरहपर विभाजित किये जानेकी संभावना कम पाई जाती है । इसके सिवाय, अर्हद्बलिद्वारा इस चतुर्विधसंघकी कल्पनाका विरोध श्रवणबेलगोलके निम्न शिलावाक्योंसे होता है—

ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः ।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥

---

* प्रस्तुत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षके बाद प्रारंभ करके ५९३ तक दिया है, और नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीसे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द ५१ वर्ष १० महीने १० दिन तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे, जिससे उनका जीवनकाल वीरनि० सं० ५९० तक पाया जाता है और इस तरह पर अर्हद्बलिका कुन्दकुन्दसे कुछ तीन वर्ष बाद तक जीवित रहना ठहरता है ।

तस्मिन्गते स्वर्गभुवं महर्षौ दिवःपतीन्नर्तुमिव प्रकृष्टान् ।
तदन्वयोद्भूतमुनीश्वराणां बभूवुरित्थं भुवि संघभेदाः ॥
स योगिसंघश्चतुरः प्रभेदानासाद्य भूयानविरुद्धवृत्तान् ।
बभावयं श्रीभगवान्जिनेन्द्रश्चतुर्मुखानीव मिथः समानि ॥
देव-नन्दि-सिंह-सेन-संघभेदवर्तिनां
देशभेदतः प्रबोधभाजि देवयोगिनां ।
वृत्तितस्समस्ततोऽविरुद्धधर्मसेविनां
मध्यतः प्रसिद्ध एष नन्दि-संघ इत्यभूत् ॥

—शिलालेख नं० १०८ (२५८)।

इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि अकलंकदेव (राजवार्तिकादि ग्रंथोंके कर्ता) की दिवःप्राप्तिके बाद, उनके वंशके मुनियोंमें, यह चार प्रकारका संघभेद उत्पन्न हुआ जिसका कारण देश-भेद है और जो परस्पर अविरुद्ध रूपसे धर्मका सेवन करनेवाला है। अकलंकसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके संघोंका कोई उल्लेख भी अभीतक देखनेमें नहीं आया जिससे इस कथनके सत्य होनेकी बहुत कुछ संभावना पाई जाती है।

(४) 'षट्खण्डागम'के प्रथम तीन खंडोंपर कुन्दकुन्दने १२ हजार श्लोकपरिमाण एक टीका लिखी, यह उल्लेख भी मिथ्या ठहरता है।

(५) उपलब्ध जैनसाहित्यमें कुन्दकुन्दके ग्रंथ ही सबसे अधिक प्राचीन ठहरते हैं और यह उस सर्वसामान्य मान्यताके विरुद्ध पड़ता है जिसके अनुसार कर्म-प्राभृत और कषाय-प्राभृत नामके वे ग्रंथ ही प्राचीन-तम माने जाते हैं जिन पर धवलादि टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(६) विद्वज्जनबोधकके उस पद्यमे कुन्दकुन्दका जो समय दिया है और जिसका ‘ श्रुतावतार ’ आदि ग्रंथोंसे समर्थन होना भी ऊपर बतलाया गया है उसे भी असत्य कहना होगा, क्योंकि इस समय और उस समयमे करीब २०० वर्षका अन्तर पाया जाता है ।

(७) इसके सिवाय, पट्टावलीमे कुन्दकुन्दसे पहले ‘ गुप्तिगुप्त ’ और ‘ जिनचन्द्र ’ नामके जिन आचार्योंका उल्लेख है उनकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी भी जरूरत होगी; क्योंकि श्रुतसागरसूरिने, बोधपाहुड़की टीकामे ‘ **सीसेणय भद्दबाहुस्स** ’ का अर्थ देते हुए, ‘गुप्तिगुप्त’ को दशपूर्वधारी ‘ विशाखाचार्य’का नामान्तर बतलाया है—

“ **भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलि-गुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशानामाचार्याणा मध्ये प्रथमेन......।** ”

और डाक्टर फ्लीटने उसका समीकरण चंद्रगुप्त (मौर्य) के साथ किया है * । इन दोनों उल्लेखोंमे ‘गुप्तिगुप्त’ भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य ठहरते है परन्तु पट्टावलीमें उन्हे भद्रबाहु द्वितीयका शिष्य अथवा उत्तराधिकारी सूचित किया है । और शिलालेखोंमें ‘गुप्तिगुप्त’ नामका कोई उल्लेख ही नहीं मिलता । इसी तरहपर ‘जिनचन्द्र’की स्थिति भी संदिग्ध है । जिनचंद्र कुन्दकुन्दके गुरु थे, ऐसा किसी भी समर्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, शिलालेखोंमे कुन्दकुन्दके गुरुरूपसे जिनचंद्रका तो क्या, दूसरे भी किसी आचार्यका नाम नहीं मिलता । हाँ, कुछ शिलालेखोंमें इतना उल्लेख जरूर पाया जाता है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु श्रुतकेवलीके

---

* देखो ‘[illegible],’ पृ० [illegible]।

शिष्य 'चद्रगुप्त'के वंशमें हुए है ×। इसके सिवाय, जयसेनाचार्यने, पंचास्तिकायकी टीकामे, जहाॅ शिवकुमार महाराजके लिये मूल ग्रंथके रचे जानेका विधान किया है वहीं कुन्दकुन्दको 'कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव'का शिष्य भी लिखा है, इससे जिनचद्रकी स्थितिको स्पष्ट करनेकी और भी ज्यादा जरूरत थी जिसको चक्रवर्ती महाशयने नहीं किया।

ऐसी हालतमें, चक्रवर्ती महाशयने कुन्दकुन्दका जो समय प्रतिपादन किया है वह निरापद, सुनिश्चित और सहसा ग्राह्य माढ्म नहीं होता। और इसलिये, उसके आधार पर समतभद्रका समय निश्चित नहीं किया जा सकता। यदि किसी तरह पर कुन्दकुन्दका यही (विक्रमकी १ ली शताव्दी) समय ठीक सिद्ध हो तो समन्तभद्रका समय इससे ५०-६० वर्प पीछे माना जा सकता है।

भद्रबाहु-शिष्य कुन्दकुन्द ।

यहाॅ पर इतना और भी प्रकट कर देना उचित माढ्म होता है कि 'बोधप्राभृत' के अन्तमें एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

× उदाहरणके लिये देखो श्रवणवेरगोलके ४० वे शि० लेखका वह अश जो 'पितृकुल और गुरुकुल' प्रकरणमे उद्धृत किया गया है, अथवा १०८ वे शि० लेखका निम्न अश—

तदीय-शिष्योऽजनि चंद्रगुप्त. समग्र-शीलानत-देववृन्द ।
विवेशयत्तीव्रतप प्रभाव-प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥
तदीयवंशाकरत प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
वभौ यदन्तर्मणिवान्मुनीन्द्रस्सकुन्दकुन्दोदितचण्डदण्ड ॥

१ 'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै श्रीमत्कोण्डकुन्दाचार्यदेवै .. विरचिते पचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे... ।'

इन कुमारनन्दिका भी कहींसे कोई समर्थन नहीं होता।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१

इस गाथामे यह बतलाया गया है कि जिनेंद्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमे शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमे गूँथा गया है—भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रंथमे) कथन किया है।

इस उल्लेखपरसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'भद्रबाहुशिष्य' का अभिप्राय यहाँ ग्रंथकर्तासे भिन्न किसी दूसरे व्यक्तिका नहीं है, और इसलिये कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य जान पडते हैं। उन्होंने इस पद्यके द्वारा—यदि सचमुच ही यह इस ग्रंथका पद्य है तो—अपने कथनके आधारको स्पष्ट करते हुए उसकी विशेष प्रामाणिकताको उद्घोषित किया है। अन्यथा, कुन्दकुन्दसे भिन्न भद्रबाहुके शिष्यद्वारा जाने जाने और कथन किये जानेकी बातका यहाँ कुछ भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। टीकाकार श्रुतसागर भी इस सम्बन्धको स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने 'भद्रबाहु-शिष्य' के लिये जो 'विशाखाचार्य' की क ,

लेके विद्वान् ठहरते है और उस वक्त दशपूर्वधारियों जैसे महाविद्वान् मुनिराजोकी उपस्थितिमें 'कुन्दकुन्दान्वय'के प्रतिष्ठित होनेकी बात कुछ जीको नहीं लगती । इस लिये कुन्दकुन्द उन्हीं भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य होने चाहिये जिन्हें प्राचीन ग्रंथकारोंने 'आचाराग' नामक प्रथम अगके धारियोंमें तृतीय विद्वान् सूचित किया है और पट्टावलीमें जिनके अनन्तर गुप्तिगुप्त, माघनंदी और जिनचंद्रकी कल्पना की गई है । परन्तु पट्टावलीमें इनके आचार्यपदपर प्रतिष्ठित होनेका जो समय वि० स० ४ दिया है वह कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता—वह उस कालगणनाको लेकर कायम किया गया मालूम होता है जिसके अनुसार एकादशागधारियोंका समय २२० वर्षकी जगह १२३ वर्ष माना गया है और जिसका किसी प्राचीन ग्रथसे कोई समर्थन नहीं होता । उस समय पट्टोंकी ऐसी कोई व्यवस्था भी नहीं थी जैसी कि वह बादकी परिपाटी—को लक्ष्यमें लेकर लिखी हुई पट्टावलियों अथवा गुर्वावलियोसे पाई जाती है; और न ऐसा कोई नियम था जिससे एक आचार्यकी मृत्युपर उनके शिष्यको चाहे वह योग्य हो या न हो—विरासतमें आचार्य पद दिया जाता हो, बल्कि उस समयकी स्थितिका ऐसा बोध होता है कि जब कोई मुनि आचार्यपदके योग्य होता था तभी उसको आचार्यपद दिया जाता था और इस तरह पर एक आचार्यके समयमें उनके कई शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और पृथक् रूपसे अनेक मुनिसंघोंका शासन करते थे; अथवा कोई कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने किसी योग्य शिष्यके सपुर्द करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमेष्ठिका पद धारण कर लेते थे । इस लिये बहुत प्राचीन आचार्योंके सम्बंधमें पट्टावलियोंमें दिये हुए उनके आचार्यपद पर प्रतिष्ठित होनेके समय

और क्रम पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता। उपलब्ध जैन-साहित्यमें, प्रकृत विषयका उल्लेख करनेवाले प्राचीनसे प्राचीन ग्रंथोंपर-से एकादशांगधारियोंका समय वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्ष पर्यंत पाया जाता है। इसके बाद ११८ वर्षमें चार एकांगधारी तथा कुछ अंग-पूर्वोंके एकदेशधारी भी हुए हैं और इन्हींमे तीसरे नम्बर पर भद्रबाहु द्वितीयका नाम है। इन चारो आचार्योंका, प्राकृत पट्टावलीमें, जो पृथक् पृथक् समय क्रमशः ६, १८, २३, और ५० वर्ष दिया है उसकी एकत्र संख्या ९७ वर्ष होती है। हो सकता है कि इन मुनियोंके कालपरिमाणकी यह संख्या ठीक ही हो और बाकी २१ (११८–९७) वर्ष तक प्रधानतः अंगपूर्वोंके एकदेशपाठियोंका समय रहा हो। इस हिसाबसे भद्रबाहु (द्वितीय) का समय वीरनिर्वाणसे ५८९ (५६५+६+१८) वर्षके बाद प्रारंभ हुआ और ६१२ वे वर्ष तक रहा मालूम होता है। अब यदि यह मान लिया जावे—जिसके मान लेनेमें कोई खास बाधा मालूम नहीं होती—कि भद्रबाहुकी समय-समाप्तिसे करीब पांच वर्ष पहले—वी० नि० से ६०७ वर्षके बाद—ही कुन्दकुन्द उनके शिष्य हुए थे, और साथ ही, पट्टावलीमें जो यह

द्वलि, माघनंदि और धरसेनादिकका समय भी शामिल किया जा सकता है; क्योंकि त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें अगपूर्वैकदेशधारियोंके कोई खास नाम नहीं दिये, प्राकृत पट्टावलीमें इनके समयकी गणना एकागधारियो- के समय (५६६ से ६८३ तक) मे ही की गई है—अथवा यो कहिये कि इन्हें ही एकागधारी बतलाया है—, नन्दिसंघकी 'गुर्वाव- ली'में माघनन्दीको **'पूर्वपदांशवेदी'** लिखा है * और 'श्रुतावतार' में अर्हद्वलि, माघनन्दी तथा धरसेन नामके आचार्योंको अगपूर्वोंके एक- देशज्ञाता सूचित किया है × । इसके सिवाय, श्रवणबेलगोलके शिला- लेख नं० १०५ से, जिसके पद्य ऊपर उद्धृत किये गये है, मालूम होता है कि पुष्पदन्त और भूतबलि अर्हद्वलिके शिष्य थे। इन्हीं पुष्प- दन्त और भूतबलिको धरसेनने अपनी मृत्यु निकट देखकर बुलाया था और कर्मप्राभृत शास्त्रका ज्ञान कराया था। इससे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि, ये सब प्रायः एक ही समयके विद्वान् मालूम होते है। यह दूसरी बात है कि इनमेसे कोई कोई एक दूसरेसे कुछ वर्ष पीछे तक भी जीवित रहे है, और समकालीन विद्वानोंमें ऐसा प्रायः हुआ ही करता है। बाकी **'ततः' 'तदनन्तर'** आदि शब्दोंके द्वारा जो इन्हे कहीं कहीं एक दूस-

---

* यथा—'श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन्बलात्कारगणोतिरम्य ।
तत्राभवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववंद्य ॥

× यथा—"सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्य" ॥ ८५ ॥
"तस्यानन्तरमनगारपुगवो माघनन्दिनामाभूत् ।
सोऽप्यगपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं यात·" ॥ १०२ ॥
"अग्रायणीयपूर्वस्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा—
कर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाभूत्" ॥ १०४ ॥

ऐसे बादका विद्वान् सूचित किया है उसका अभिप्राय एकके मरण और दूसरेके जन्मसे नहीं बल्कि इनकी आचार्यपदप्राप्ति, ज्ञानप्राप्ति आदिके समयसे या बड़ाई छोटाईके खयालसे समझना चाहिये अथवा उसे ग्रंथकर्त्ताओंकी क्रमशः कथन करनेकी एक शैली भी कह सकते है। अस्तु, कुन्दकुन्दके इस समयके प्रतिष्ठित होनेपर उनके द्वारा 'षट्खण्डागम' सिद्धान्तकी टीकाका लिखा जाना बन सकता है * और पट्टावलीकी उक्त बातको छोडकर, और भी कितनी ही बातोंपर अच्छा प्रकाश पड सकता है।

तीसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते है और यह समय डाक्टर भांडारकरकी रिपोर्टमें उल्लेखित उस पट्टावलीके समयके प्रायः अनुकूल पडता है जिसमें समन्तभद्रको शक संवत् ६० (वि० स० १९५) के करीबका विद्वान् बतलाया गया है और जिसे लेविस राइस आदि विद्वानोंने भी प्रमाण माना है ।

यदि किसी तरह पर प्राकृत पट्टावलीकी गणना ही दूसरे प्राचीन ग्रंथोंकी गणनाके मुकाबलेमे ठीक सिद्ध हो, और उसके अनुसार भद्रबाहु द्वितीयका वि० स० ४ में ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना करार दिया जावे, साथ ही, यह मान लिया जावे कि कुन्दकुन्दने वि० स० १७ में उनसे दीक्षा ली थी, तो इससे कुन्दकुन्दका मुनिजीवनकाल वि० स० १७ स० १०१ तक हो जाता है, और यह वही समय है जो नन्दिसंघकी दूसरी पट्टावलीमें दिया है और जिसपर चक्रवर्ती महाशयके कथन-सम्बंधमें ऊपर विचार किया जा चुका है । इस समयको मान लेने पर समन्तभद्र तो विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान् ठहरते ही हैं परन्तु उन सब आपत्तियोंके समाधानकी भी जरूरत रहती है जो ऊपर खडी की गई है, अथवा यह मानना पडता है कि कुन्दकुन्दाचार्य अर्हद्वलि, माघनंदी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि और गुणधर आदि आचार्योंसे पहले हुए हैं और उन्होने पुष्पदन्त-भूतबलिके ' षट्खण्डागम ' पर कोई[1] टीका नहीं लिखी ।

तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव ।

(ड) श्रुतावतारमें, समन्तभद्रने पहले और पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) मुनि तथा शामकुण्डाचार्यके बाद, सिद्धान्तग्रंथोंके टीकाकार-

[1] कुन्दकुन्दाचार्यकी बनाई हुई 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त ग्रंथपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है ।

रूपसे 'तुम्बुलूराचार्य' नामके एक विद्वानका उल्लेख किया है जो 'तुम्बुलूर' ग्रामके रहनेवाले थे और इसीसे 'तुम्बुलूराचार्य' कहलाते थे। साथ ही, यह बतलाया है कि उन्होंने यह टीका कर्णाट भाषामें लिखी है, ८४ हजार श्लोकपरिमाण है और उसका नाम 'चूडामणि' है *। तुम्बुलूराचार्यका असली नाम 'श्रीवर्द्धदेव' बतलाया जाता है—लेविस राइस, एडवर्ड राइस और एस० जी० नरसिंहाचार्यादि विद्वानोंने अपने अपने ग्रंथोंमें × ऐसा ही प्रतिपादन किया है—परन्तु इस बतलानेका क्या आधार है, यह कुछ स्पष्ट नहीं होता। राजावलिकथेमें 'चूडामणिव्याख्यान' नामसे इस टीकाका उल्लेख है, इसे तुम्बलूराचार्यकी कृति लिखा है और ग्रंथसंख्या भी ८४ हजार दी है; कर्णाटक शब्दानुशासनमें 'चूडामणि' को कनड़ी भाषाका महान् ग्रंथ बतलाते हुए उसे तत्त्वार्थमहाशास्त्रका व्याख्यान सूचित किया है, ग्रंथसंख्या ९६ हजार दी है परतु ग्रंथकर्ता-का कोई नाम नहीं दिया, और श्रवणबेलगोलके ५४ वे शिलालेखमें श्री-

वर्द्धदेवको 'चूडामणि' नामक सेव्य काव्यका कवि बतलाया है और उनकी प्रशंसामें दण्डी कविद्वारा कहा हुआ एक श्लोक भी उद्धृत किया है, यथा—

"चूडामणिः कवीनां चूडामणि-नाम-सेव्यकाव्यकविः।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्यः कीर्तिमाहर्त्तुं॥"

य एवमुपश्लोकितो दण्डिना—

"जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीं॥"[1]

जान पड़ता है इतने परसे ही—ग्रंथके 'चूडामणि' नामकी समानताको लेकर ही—तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति करार दिया गया है। परन्तु राजावलिकथे और कर्णाटकशब्दानुशासनमें 'चूडामणि'को जिस प्रकारसे एक व्याख्यान (टीकाग्रंथ) प्रकट किया है उस प्रकारका उल्लेख शिलालेखमें नहीं मिलता, शिलालेखमें स्पष्ट रूपसे उसे एक 'सेव्य-काव्य' लिखा है और वह काव्य कनड़ी भाषाका है ऐसा भी कुछ सूचित नहीं किया है। इसके सिवाय राजावलिकथे आदिमें उक्त व्याख्यानके साथ श्रीवर्द्धदेवके नामका कोई उल्लेख भी नहीं है। इस लिये दोनोंको एक ग्रंथ मान लेना और उनके आधारपर तुम्बुलूराचार्यका श्रीवर्द्धदेवके साथ समीकरण करना सदेहसे खाली नहीं है। आश्चर्य नहीं जो 'चूडामणि' नामका कोई जुदा ही उत्तम संस्कृत काव्य हो और उसीको लेकर दण्डीने, जो स्वयं संस्कृत भाषाके महान् कवि थे, श्रीवर्द्धदेवकी प्रशंसामें उक्त श्लोक कहा हो। परन्तु यदि यही

[1] अर्थात्—हे श्रीवर्द्धदेव! महादेवने तो जटाग्रमें गंगाको धारण किया था और तुम सरस्वतीको जिह्वाग्रमें धारण किये हुए हो।

मान लिया जाय और यही मानना ठीक हो कि दण्डीकविद्वारा स्तुत श्रीवर्द्धदेव और तुम्बुलूराचार्य दोनों एक ही व्यक्ति थे तो हमें इस कहनेमें जरा भी सकोच नहीं होता कि श्रुतावतारमें समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके बादका जो विद्वान् प्रकट किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि दण्डीके उक्त श्लोकसे श्रीवर्द्धदेव दण्डीके समकालीन विद्वान् माळूम होते हैं, और दण्डी ईसाकी छठी अथवा विक्रमकी सातवीं शताब्दीके विद्वान् थे * । ऐसी हालतमें श्रीवर्द्धदेव किसी तरह पर भी समन्तभद्रसे पहलेके विद्वान् नहीं हो सकते; बल्कि उनसे कई शताब्दी पीछेके विद्वान् माळूम होते है ।

गंगराज्यके संस्थापक सिंहनन्दी ।

(च) शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेमें हूमच स्थानसे मिला हुआ ३५ नम्बरका एक वहुत बड़ा कनड़ी शिलालेख है, जो शक स० ९९९ का लिखा हुआ है और एपिग्रेफिया कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुआ है । इस शिलालेखपरसे माळूम होता है कि भद्रबाहु स्वामीके बाद यहाँ कलिकालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना आरभ हुआ—गणभेद उत्पन्न हुआ और फिर उनके वशक्रममें समन्तभद्र स्वामी उदयको प्राप्त हुए, जो '**कलिकालगणधर**' और '**शास्त्रकार**' थे । समन्तभद्रकी शिष्य-संतानमें सबसे पहले 'शिवकोटि' आचार्य हुए, उनके बाद 'वरदत्ताचार्य,' फिर 'तत्त्वार्थसूत्र' के कर्त्ता

---

* देखो लेविस राइसद्वारा सपादित 'इस्क्रिपशस ऐट श्रवणबेल्गोल' पृष्ठ ४४, १३५, और 'वेबर्स हिस्टरी आफ़ इंडियन लिटरेचर,' पृ० २१३, २३२ ।

१ मल्लिषेणप्रशस्तिमें आर्यदेवको 'राद्धान्त कर्त्ता' लिखा है और यहाँ 'तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता ।' इससे 'राद्धान्त' और 'तत्त्वार्थसूत्र' दोनों एक ही ग्रथके नाम माळूम होते हैं ।

'आर्यदेव,' आर्यदेवके पश्चात् गगराज्यका निर्माण करनेवाले 'सिंहनन्दि' आचार्य और सिंहनन्दिके पश्चात् एकसधि 'सुमति भट्टारक' हुए। इनके बाद 'कमलभद्र' पर्यंत और भी कितने ही आचार्योंके नामों तथा कहीं कहीं उनके कामोंका भी क्रमशः उल्लेख किया है। इस शिलालेखका कुछ अश इस प्रकार है—

"..श्रीवर्द्धमानस्वामिगल तीर्त्थ प्रवर्तिसे गौतमर्गणधरर् एने त्रिज्ञानिगल् अप्प मुणिगल् सलेयू अवरिं चतुरंगुलऋद्धि प्रासर् एनिसिद कोण्डकुन्दाचार्य्यरिं केलव-कालं योगे भद्रबाहु-स्वामिगलिन्द् इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरुं शास्त्रकर्त्तुगलुम् एनिसिद समन्त-भद्रस्वामिगल् अवर शिष्यसंतानं शिवकोट्याचार्य्यर् अवरिं वर-दत्ताचार्य्यर् अवरिं तत्वार्थसूत्रकर्त्तुगल् एनिसिद् आर्य्यदेवर् अवरिं गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिन्द् एकसंधि-सुमतिभट्टारकर् अवरिं। —"

इस लेख परसे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जिन सिंहनन्दि आचार्यका गगराज्यकी सस्थापनासे सम्बंध है वे समन्तभद्रस्वामीके बाद हुए हैं। यद्यपि, इस शिलालेखमें कुछ आचार्योंके नाम आगे पीछे क्रमभगको लिये हुए भी पाये जाते है—जिसका एक उदाहरण भद्रबाहु-स्वामीको कुन्दकुन्दसे कुछ काल बादका विद्वान् सूचित करना है—और इसलिये आचार्योंके क्रमसम्बधमें यह शिलालेख सर्वथा प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी इसमें सिंहनन्दिको समन्तभद्रके बादका

१ सिंहनन्दिके इस विशेषण 'गगराज्यम माडिद' का अर्थ लेविस राइसने who made the Ganga Kingdom दिया है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'जिन्होंने गगराज्यका निर्माण किया,' (वे सिहनन्दी आचार्य)।

जो विद्वान् सूचित किया है उसका समर्थन इसी नगर ताल्लुकेके दूसरे शिलालेखोंसे भी होता है जिनके नम्बर ३६ और ३७ है। और जो क्रमशः ९९९, १०६९ शक संवतोंके लिखे हुए है। यथा—

"...[1]श्रुतकेवलिगळ् एनिसिद (एनिप ३७) भद्रबाहुस्वामिगळ् (गळंग ३७) मोदलागि पलम्बर् (हलम्बर ३७) आचार्यर् पोदिम्बलियं समन्तभद्रस्वामिगळ् उदयिसिदर् अवर अन्वय-दोळ (अनन्तरं ३७) गगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्यर अवरिं ...—।"

इसके सिवाय, दूसरा ऐसा कोई भी शिलालेख देखनेमें नहीं आता जिसमे, समन्तभद्र और सिंहनन्दि दोनोंका नाम देते हुए, सिंहनन्दिको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो अथवा कमसे कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दिके नामका ही उल्लेख किया हो। ऐसी हालतमें समन्तभद्रके सिंहनन्दिसे पूर्ववर्ती विद्वान् होनेकी सभावना अधिक पाई जाती है। यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो तो इससे लेविस राइस साहबके उस अनुमानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल मल्लिषेणप्रशस्तिमें इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगाया था और इसलिये जो सदोष तथा अपर्याप्त था। इन [2]बादको मिले हुए शिलालेखोंमे 'अवरिं' 'अवर अन्वयदोळ्' और 'अवर अनन्तरं' शब्दोंके द्वारा

---

१ यह ३६ वें शिलालेखका अंश है, ३७ वेंमें भी यह अंश प्रायः इसी प्रकारसे दिया हुआ है, जहाँ कुछ भेद है उसे कोष्टकमें दिखलाकर उसपर नम्बर ३७ दे दिया गया है।

२ मल्लिषेणप्रशस्ति श्रवणबेल्गोलका ५४ वाँ शिलालेख है जो सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था, और नगर ताल्लुकेके उक्त शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं। वे सन् १८८९ में राइस साहबके सामने मौजूद नहीं थे।

इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि सिंहनन्दि समन्तभद्रके बाद हुए है। अस्तु, ये सिंहनन्दि गंगवंशके प्रथम राजा 'कोंगुणिवर्मा'के समकालीन थे और यह बात पहले भी जाहिर की जा चुकी है। सिंहनन्दिने गंगराज्यकी स्थापनामें क्या सहायता की थी, इसका कितना ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत करनेकी कोई जरूरत माळूम नहीं होती। यहाँ पर हम सिर्फ इतना ही प्रकट कर देना उचित समझते है कि कोंगुणिवर्माका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी माना गया है। उनका एक शिलालेख[1] शक सं० २५ का 'नंजनगूढ' ताल्लुकेसे उपलब्ध हुआ है, जिससे माळूम होता है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ थे। प्रायः यही समय सिंहनन्दिका होना चाहिये, और इस लिये कहना चाहिये कि समन्तभद्र वि० सं० १६० से पहले हुए है, परंतु कितने पहले, यह अप्रकट है। फिर भी पूर्ववर्ती मान लेने पर कमसे कम ३० वर्ष पहले तो समन्तभद्रका होना मान ही लिया जा सकता है; क्योंकि ३५ वें शिलालेखमें सिंहनन्दिसे पहले आर्यदेव, वरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख पाया जाता है, जिनके लिये १०–१० वर्षका समय मान लेना कुछ अधिक नहीं है। इससे समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् माळूम होते है। और यह समय उस समयके साथ मेल खाता

---

१ इस शिलालेखका नंबर ११० और आद्यांश निम्न प्रकार है—

"स्वस्ति श्रीमत्कोंगुणिवर्म्मधर्म्ममहाधिराज प्रथम गंगस्य दत्तं शकवर्षगतेषु पंचविंशति २५ नेय शुभकृतु संवत्सरसु फाल्गुनशुद्ध पंचमी शनि रोहणि...... ।'

—एपि० कर्णा०, जिल्द ३ री, सन् १८९४

है जो कुन्दकुन्दको भद्रबाहुका शिष्य मानकर तथा विक्रमसवतको मृत्यु-सवत् स्वीकार करके ऊपर बतलाया गया है, अथवा भद्रबाहुको वि० सं० ४ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला मान लेने पर नन्दिसंघकी पट्टावलीमे दिये हुए कुन्दकुन्दके समयाधार पर जिसकी कल्पना की गई है। अस्तु।

समय-सम्बधी इस सब कथन अथवा विवेचन परसे पाठक स्वय समझ सकते है कि समन्तभद्रके समय-निर्णय-पथमें कितनी रुकावटें पैदा हो रही है—क्या क्या दिक्कतें आरही है—और कैसी कैसी कठिन अथवा जटिल समस्याएँ उपस्थित है, जिन सबको दूर अथवा हल-किये विना समन्तभद्रके यथार्थ समय-सम्बन्धमें कोई जॅची तुली एक वात नहीं कही जा सकती। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रमकी पॉचवीं शताब्दीसे पीछे अथवा ईसवी सन् ४५० के वाद नहीं हुए, और न वे विक्रमकी पहली शताब्दीसे पहलेके ही विद्वान् माल्रम होते हैं—पहलीसे ५ वीं तक पॉच शताब्दियोंके मध्यवर्ती किसी समयमें ही वे हुए है। स्थूल रूपसे विचार करने पर हमे समन्तभद्र विक्रमकी प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दीके विद्वान् माल्रम होते हैं। परन्तु निश्चयपूर्वक यह वात भी अभी नही कही जा सकती। इस समयका विशेष विचार अवसरादिक मिलने पर दूसरे सस्करणके समय किया जायगा। इसमे सन्देह नहीं कि कितने ही प्राचीन आचार्योंका समय इसी तरहकी अनिश्चितावस्था तथा गडबडमें पडा हुआ है और उद्धार किये जानेके योग्य है। समन्तभद्रका समय सुनिश्चित होनेपर उन सभीके समयोंका बहुत कुछ उद्धार हो जायगा। साथ ही, वीर-निर्वाण, विक्रम और शक सवतोंकी समस्याएँ भी हल हो जायँगी, ऐसी दृढ आशा की जाती है।

समय-निर्णय-विषयक इस निबन्धको पढकर जो विद्वान् हमें निर्णयमें सहायक ऐसी कोई भी खास वात सुझाएँगे उनका हम हृदयसे आभार मानेंगे।

ग्रन्थ-परिचय ।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने कुल कितने ग्रथोंकी रचना की, वे किस किस विषय अथवा नामके ग्रथ है, प्रत्येककी श्लोकसख्या क्या है, और उन पर किन किन अचार्यों तथा विद्वानोंने टीका, टिप्पण अथवा भाष्य लिखे है, इन सब बातोंका पूरा विवरण देनेके लिये, यद्यपि, साधनाभावसे हम तय्यार नहीं है, फिर भी आचार्य महोदयके बनाये हुए जो जो ग्रथ इस समय उपलब्ध होते हैं, और जिनका पता चलता या उल्लेख मिलता है उन सबका कुछ परिचय, अथवा यथावश्यकता उन पर कुछ विचार, नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आप्तमीमांसा ।

समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रंथोंमें यह सबसे प्रधान ग्रंथ है और ग्रंथका यह नाम उसके विषयका स्पष्ट द्योतक है । इसे '**देवागम**' स्तोत्र भी कहते हैं । 'भक्तामर' आदि कितने ही स्तोत्रोंके नाम जिस प्रकार उनके कुछ आद्यक्षरों पर अवलम्बित है उसी प्रकार 'देवागम्' शब्दोंसे प्रारभ होनेके कारण यह ग्रंथ भी 'देवागम' कहा जाता है, अथवा अर्हन्त देवका आगम इसके द्वारा व्यक्त होता है—उसका तत्त्व साफ तौरपर समझमें आजाता है—और यह उसके रहस्यको लिये हुए है, इससे भी यह ग्रथ 'देवागम' कहलाता है । इस ग्रथके श्लोकों अथवा कारिकाओंकी संख्या ११४ है । परतु '**इतीयमाप्तमीमांसा**' नामके पद्य न० ११४ के बाद '**वसुनन्दि**' आचार्यने. अपनी '**देवागमवृत्ति**'में, नीचे लिखा पद्य भी दिया है—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्टान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥ ११५ ॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अंतमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दि आचार्यका ही पद्य है और उन्होने अपनी वृत्तिके अन्त-मगलस्वरूप इसे दिया है। परतु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

"कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्र-केसरी प्रमाण-नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह्वलकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह— "

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती है, एक तो यह कि यह पद्य वसुनन्दि आचार्यका नहीं है, दूसरे यह कि वसुनन्दिने इसे समन्तभद्रका ही, ग्रथके अन्त मगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझ कर ही इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनासहित दिया है। परतु यह पद्य, वास्तवमे, मूल ग्रथका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय है और उसीका यहाँ पर विचार किया जाता है—

इस ग्रथपर भट्टाकलकदेवने एक भाष्य लिखा है जिसे '**अष्टशती**' कहते हैं और श्रीविद्यानंदाचार्यने '**अष्टसहस्री**' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसे 'आप्तमीमांसालंकृति' तथा 'देवागमालंकृति' भी कहते हैं। इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रथोंमे इस पद्यको मूल ग्रथका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न इसकी कोई

व्याख्या ही की गई है। 'अष्टशती'में तो यह पद्य दिया भी नहीं। हाँ, 'अष्टसहस्री'में टीकाकी समाप्तिके बाद, इसे निम्न वाक्यके साथ दिया है—

'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यंते।'

उक्त पद्यको देनेके बाद '**श्रीमदकलंकदेवाः पुनरिदं वदन्ति**' इस वाक्यके साथ 'अष्टशती'का अन्तिम मगलपद्य उद्धृत किया है; और फिर निम्न वाक्यके साथ, श्रीविद्यानंदाचार्यने अपना अन्तिम मगल-पद्य दिया है—

"इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मंगलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः।"

अष्टसहस्रीके इन वाक्योंसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'अष्ट-शती' और 'अष्टसहस्री' के अन्तिम मगल वचनोंकी तरह यह पद्य भी किसी दूसरी पुरानी टीकाका मगल वचन है, जिससे शायद विद्या-नंदाचार्य परिचित नहीं थे अथवा परिचित भी होंगे तो उन्हें उसके रचयिताका नाम ठीक मालूम नहीं होगा। इसीलिये उन्होंने, अकलंक-देवके सदृश उनका नाम न देकर, '**केचित्**' शब्दके द्वारा ही उनका उल्लेख किया है। हमारी रायमें भी यही बात ठीक जँचती है। ग्रंथकी पद्धति भी उक्त पद्यको नहीं चाहती। मालूम होता है वसुनन्दि आचा-र्यको 'देवागम' की कोई ऐसी ही मूल प्रति उपलब्ध हुई है जो साक्षात् अथवा परम्परया उक्त टीका परसे उतारी गई होगी और जिसमें टीकाका उक्त मगल पद्य भी गलतीसे उतार लिया गया होगा। लेखकोंकी नासमझीसे ऐसा बहुधा ग्रंथप्रतियोंमें देखा जाता है। 'सनातनग्रंथमाला' में प्रका-शित 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र'के अन्तमें भी टीकाका '**यो निःशेषजिनोक्त**'

नामका पद्य मूलरूपसे दिया हुआ है और उसपर नंबर भी क्रमश: १४४ डाला है। परंतु वह मूलग्रंथका पद्य कदापि नहीं है।

'आप्तमीमांसा'की जिन चार टीकाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनके सिवाय' **'देवागम-पद्यवार्तिकालंकार'** नामकी एक पाँचवीं टीका भी जान पड़ती है जिसका उल्लेख युक्त्यनुशासन-टीकामें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

'इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्'।

इससे मालूम होता है कि यह टीका प्रायः पद्यात्मक है। मालूम नहीं इसके रचयिता कौन आचार्य हुए है। संभव है कि 'तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकालंकार'की तरह इस 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार'के कर्ता भी श्री-विद्यानंद आचार्य ही हों और इस तरहपर उन्होंने इस ग्रंथकी एक गद्यात्मक (अष्टसहस्री) और दूसरी यह पद्यात्मक ऐसी दो टीकाएँ लिखी हो परंतु यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। अस्तु, इन टीकाओंमे 'अष्टसहस्री' पर **'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका'** नामकी एक टिप्पणी लघुसमंतभद्राचा-र्यने लिखी है और दूसरी टिप्पणी श्वेताम्बरसम्प्रदायके महान् आचार्य तथा नैय्यायिक विद्वान् उपाध्याय श्रीयशोविजयजीकी लिखी हुई है। प्रत्येक टिप्पणी परिमाणमें अष्टसहस्री जितनी ही है—अर्थात् दोनों आठ आठ हजार श्लोकोंवाली है। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी—ऐसी ऐसी विशालकाय तथा समर्थ टीकाटिप्पणियोंकी उपस्थितिमें भी—'देवागम' अभीतक विद्वानोंके लिये दुरूह और दुर्बोधसा बना हुआ

है * । इससे पाठक स्वय समझ सकते हैं कि इस ग्रथके ११४ श्लोक कितने अधिक महत्त्व, गाभीर्य तथा गूढार्थको लिये हुए हैं, और इस लिये, श्रीवीरनदि आचार्यने ' निर्मलवृत्तमौक्तिका हारयष्टि ' की तरह और नरेंद्रसेनाचार्यने ' मनुष्यत्व ' के समान समतभद्रकी भारतीको जो ' दुर्लभ ' बतलाया है उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। वास्तवमे इस ग्रथकी प्रत्येक कारिकाका प्रत्येक पद ' सूत्र ' है और वह बहुत ही जॉच तौलकर रक्खा गया है—उसका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है । यही वजह है कि समतभद्र इस छोटेसे कूजेमें संपूर्ण मतमतान्तरोंके रहस्य-रूपी समुद्रको भर सके है और इस लिये उसको अधिगत करनेके लिये गहरे अध्ययन, गहरे मनन और विस्तीर्ण हृदयकी खास जरूरत है ।

हिन्दीमें भी इस ग्रथपर पडित जयचंदरायजीकी बनाई हुई एक टीका मिलती है जो प्राय: साधारण है । सबसे पहले यही टीका हमे उपलब्ध हुई थी और इसी परसे हमने इस ग्रथका कुछ प्राथमिक परिचय प्राप्त किया था । उस वक्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था, और इसलिये हमने बड़े प्रेमके साथ, उक्त टीकासहित, इस ग्रंथकी प्रतिलिपि स्वय अपने हाथसे उतारी थी । वह प्रतिलिपि अभी तक हमारे पुस्तकालयमे सुरक्षित है । उस वक्तसे बराबर हम इस मूल ग्रथको देखते आ रहे हैं और हमें यह बड़ा ही प्रिय माळूम होता है।

इस ग्रथपर कनड़ी, तामिलादि भाषाओंमें भी कितने ही टीका-टिप्पण, विवरण और भाष्य ग्रथ होंगे परतु उनका कोई हाल हमें

* इस विषयमें, श्वेताम्बर साधु मुनिजिनविजयजी भी लिखते हैं—

"यह देखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रन्थ मालूम होता है, पर इसका गाभीर्य इतना है कि, इस पर सैकडों-हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है ।"—

जैनहितैषी भाग १४, अक ६ ।

मालूम नहीं है, इसी लिये यहाँपर उनका कुछ भी परिचय नहीं दिया जा सका।

२ युक्त्यनुशासन।

समन्तभद्रका यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथा अपूर्व है और इसका भी प्रत्येक पद बहुत ही अर्थगौरवको लिये हुए है। इसमें, स्तोत्रप्रणालीसे, कुल ६४ * पद्यों द्वारा, स्वमत और परमतोंके गुणदोषोंका, सूत्ररूपसे, बड़ा ही मार्मिक वर्णन दिया है, और प्रत्येक विषयका निरूपण, बड़ी ही खूबीके साथ, प्रबल युक्तियोंद्वारा किया गया है। यह ग्रंथ जिज्ञासुओंके लिये हितान्वेषणके उपायस्वरूप है और इसी मुख्य उद्देश्यको लेकर लिखा गया है, जैसा कि ऊपर समंतभद्रके परिचयमें इसीके एक पद्यपरसे, जाहिर किया जा चुका है। श्रीजिनसेनाचार्यने इसे महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य लिखा है। इस ग्रंथपर अभीतक श्रीविद्यानंदाचार्यकी बनाई हुई एक ही सुन्दर संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है और वह 'माणिकचंद-ग्रंथमाला'में प्रकाशित भी हो चुकी है। इस टीकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ 'आप्तमीमांसा'के बादका बना हुआ है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद्व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवंत इति ते पृष्टा इव प्राहुः—"

---

* सन् १९०५ में प्रकाशित 'सनातनजैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें इस ग्रंथके पद्योंकी संख्या ६५ दी है, परंतु यह भूल है। उसमें ६० वें नम्बर पर जो 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने' नामका पद्य दिया है वह टीकाकारका पद्य है, मूलग्रंथका नहीं। और मा० ग्रंथमालामें प्रकाशित इस ग्रंथके पद्यों पर गलत नम्बर पड़ जानेसे ६५ संख्या मालूम होती है।

३ 'स्वयंभू'स्तोत्र।

इसे 'बृहत्स्वयभूस्तोत्र' और 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी कहते हैं। 'स्वयंभुवा' पदसे प्रारभ होनेके कारण यह 'स्वयंभूस्तोत्र', समाजमे दूसरा छोटा 'स्वयंभूस्तोत्र' भी प्रचलित होनेसे यह **'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'** और समन्तभद्रद्वारा विरचित होनेसे यह **'समंतभद्रस्तोत्र'** कहलाता है। इसके सिवाय, इसमें चतुर्विंगति स्वयभुवोकी—तीर्थकरों अथवा जिनदेवोकी—स्तुति है इससे भी इस स्तोत्रका सार्थक नाम 'स्वयभू-स्तोत्र' है। इस ग्रथमें **अर, नेमि** और **महावीर**को छोडकर शेष २१ तीर्थंकरोंकी स्तुति पॉच पॉच पद्योमें की गई है और उक्त तीन तीर्थंकरोंकी स्तुतिके पद्य क्रमश: २०,१० और ८ दिये है। इस तरहपर इस ग्रथकी कुल पद्यसंख्या १४३ है। यह ग्रथ भी वड़ा ही महत्त्वशाली है, निर्मल सूक्तियोको लिये हुए है, प्रसन्न तथा स्वल्प पदोसे विभूषित है और चतुर्विंशाति जिनदेवोंके धर्मको प्रतिपादन करना ही इसका एक विपय है। इसमें कहीं कहीं पर—किसी किसी तीर्थंकरके सम्वन्धमे—कुछ पौराणिक तथा ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया गया है, जो वडा ही रोचक माद्धम होता है। उस उल्लेखको छोडकर शेप सपूर्ण ग्रथ स्थान स्थान पर, तात्त्विक वर्णनों और धार्मिक शिक्षाओंसे परिपूर्ण है। यह ग्रथ अच्छी तरहसे समझकर नित्य पाठ किये जानेके योग्य है।

इस ग्रथ पर क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचंद्र आचार्यकी बनाई हुई अभी तक एक ही सस्कृतटीका उपलब्ध हुई है। टीका

---

१ 'जैनसिद्धान्त भवन आरा'मे इस ग्रथकी कितनी ही ऐसी प्रतियाँ कनडी अक्षरोंमें मौजूद है जिन पर ग्रथका नाम 'समंतभद्रस्तोत्र' लिखा है।

साधारणतया अच्छी है परंतु ग्रथके रहस्यको अच्छी तरह उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है । इस ग्रंथपर अवश्य ही दूसरी कोई उत्तम टीका भी होगी, जिसे भडारोंसे खोज निकालनेकी जरूरत है । यह स्तोत्र ' क्रियाकलाप ' ग्रथमें भी संग्रह किया गया है, और क्रियाकलापपर प० आशाधरजीकी भी एक टीका कही जाती है, इससे इस ग्रथपर प० आशाधरजीकी भी टीका होनी चाहिये ।

४ जिनस्तुतिशतक ।

यह ग्रथ ' स्तुतिविद्या,' 'जिनस्तुतिशत,' ' जिनशतक ' और ' जिनशतकालंकार ' नामोंसे भी प्रसिद्ध है । ' **स्तुतिविद्या** ' यह नाम ग्रथके '**स्तुतिविद्यां प्रसाधये** ' इस आदिम प्रतिज्ञावाक्यसे निकलता है, '**जिनस्तुतिशतं**' नाम ग्रंथके अन्तिम कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तसे पाया जाता है, उसीका ' **जिनस्तुतिशतक**' हो गया है । और '**जिनशतक**' यह सक्षिप्त नाम टीकाकारने अपनी टीकामे सूचित किया है । अलकारप्रधान होनेसे इसे ही ' **जिनशतकालंकार**' भी कहते है । यह ग्रथ भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है, रचनाकौशल तथा चित्रकाव्योंके उत्कर्पको लिये हुए है, सर्व अलकारोसे भूपित है

कोई टीका इस ग्रंथपर बनी ही नहीं, यह अर्थ समझमें नहीं आता और न युक्तिसंगत ही मालूम होता है। अस्तु, यह टीका अच्छी और उपयोगी बनी है।

समंतभद्रने, ग्रंथके प्रथम पद्यमें, अपनी इस रचनाका उद्देश 'आगसां जये' पदके द्वारा पापोंको जीतना सूचित किया है और टीकाकारने भी इस स्तुतिको 'घनकठिनघातिकर्मेंधनदहनसमर्था' लिखा है। इससे पाठक इस ग्रंथके आध्यात्मिक महत्त्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

५ 'रत्नकरंडक' उपासकाध्ययन।

इसे 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। उपलब्ध ग्रंथोंमें, श्रावकाचार विषयका, यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। श्रीवादिराजसूरिने इसे 'अक्षय्यसुखावह' और प्रभाचंद्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य' लिखा है। इसका विशेष परिचय और इसके पद्योंकी जाँच आदि-विषयक विस्तृत लेख इस ग्रंथकी प्रस्तावनामें दिया गया है।

---

१ यह विशेषण 'पार्श्वनाथचरित' के जिस पद्यमें दिया है वह पहले 'गुणादिपरिचय' में उद्धृत किया जा चुका है।

२ देखो, रत्नकरण्डकटीकाका अन्तिम पद्य, जो इस प्रकार है—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान्प्रभेन्दुर्जिनः॥

३ इस विस्तृत 'प्रस्तावना' के नीचे लिखे विषय हैं—

साधारणतया अच्छी है परंतु ग्रंथके रहस्यको अच्छी तरह उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है । इस ग्रंथपर अवश्य ही दूसरी कोई उत्तम टीका भी होगी, जिसे भंडारोंसे खोज निकालनेकी जरूरत है । यह स्तोत्र ' क्रियाकलाप ' ग्रंथमें भी संग्रह किया गया है, और क्रियाकलापपर पं० आशाधरजीकी भी एक टीका कही जाती है, इससे इस ग्रंथपर पं० आशाधरजीकी भी टीका होनी चाहिये ।

४ जिनस्तुतिशतक ।

यह ग्रंथ ' स्तुतिविद्या,' 'जिनस्तुतिशत,' ' जिनशतक ' और ' जिनशतकालंकार ' नामोंसे भी प्रसिद्ध है । ' **स्तुतिविद्या** ' यह नाम ग्रंथके '**स्तुतिविद्यां प्रसाधये** ' इस आदिम प्रतिज्ञावाक्यसे निकलता है, '**जिनस्तुतिशतं**' नाम ग्रंथके अन्तिम कविकाव्यनामगर्भचक्रवृत्तसे पाया जाता है, उसीका ' **जिनस्तुतिशतक**' हो गया है । और '**जिनशतक**' यह संक्षिप्त नाम टीकाकारने अपनी टीकामें सूचित किया है । अलंकारप्रधान होनेसे इसे ही ' **जिनशतकालंकार**' भी कहते हैं । यह ग्रंथ भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है, रचनाकौशल तथा चित्रकाव्योंके उत्कर्षको लिये हुए है, सर्व अलंकारोंसे भूषित है और इतना दुर्गम तथा कठिन है कि विना संस्कृतटीकाकी सहायताके अच्छे अच्छे विद्वान् भी इसे सहसा नहीं लगा सकते । इस ग्रंथका कितना ही परिचय पहले दिया जा चुका है । इसके पद्योंकी संख्या ११६ है और उन पर एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है जो नरसिंह भट्टकी बनाई हुई है । नरसिंह भट्टकी टीकासे पहले इस ग्रंथपर दूसरी कोई टीका नहीं थी, ऐसा टीकाकारके एक वाक्यसे पाया जाता है, और उसका यही अर्थ हो सकता है कि नरसिंहजीके समयमें अथवा उनके देशमें, इस ग्रंथकी कोई टीका उपलब्ध नहीं थी । उससे पहले

कोई टीका इस ग्रंथपर बनी ही नहीं, यह अर्थ समझमें नहीं आता और न युक्तिसगत ही माळूम होता है। अस्तु, यह टीका अच्छी और उपयोगी बनी है।

समतभद्रने, ग्रंथके प्रथम पद्यमें, अपनी इस रचनाका उद्देश 'आगसां जये' पदके द्वारा पापोंको जीतना सूचित किया है और टीकाकारने भी इस स्तुतिको 'घनकठिनघातिकर्मेंधनदहनसमर्था' लिखा है। इससे पाठक इस ग्रंथके आध्यात्मिक महत्त्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

५ 'रत्नकरंडक' उपासकाध्ययन।

इसे 'रत्नकरंडश्रावकाचार' भी कहते हैं। उपलब्ध ग्रंथोंमें, श्रावकाचार विषयका, यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। श्रीवादिराजसूरिने इसे 'अक्षय्यसुखावह' और प्रभाचंद्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य' लिखा है। इसका विशेष परिचय और इसके पद्योंकी जाँच आदि-विषयक विस्तृत लेख इस ग्रंथकी प्रस्तावनामें दिया गया है।

---

१ यह विशेषण 'पार्श्वनाथचरित'के जिस पद्यमें दिया है वह पहले 'गुणादिपरिचय'में उद्धृत किया जा चुका है।

२ देखो, रत्नकरण्डकटीकाका अन्तिम पद्य, जो इस प्रकार है—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यग्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिपः श्रीमान्प्रभेन्दुर्जिनः॥

३ इस विस्तृत 'प्रस्तावना'मे नीचे लिखे विषय हैं—

यहाँपर हम सिर्फ इतना ही बतला देना चाहते हैं कि इस ग्रथपर अभी-तक केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचद्राचार्यकी बनाई हुई है और वह प्राय: साधारण है। हाँ, **'रत्नकरंडकविपम-पद्व्याख्यान'** नामका एक सस्कृत टिप्पण भी इस ग्रथपर मिलता है, जिसके कर्त्ताका नाम उस परसे माळूम नहीं हो सका। यह टिप्पण आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है। कनड़ी भापामे भी इस ग्रथकी कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परतु उनके रचयिताओ आदिका भी कुछ पता नहीं चल सका। तामिल भापाका 'अरुंगलछेप्पु' (रत्नकरंडक) ग्रथ, जिसकी पद्य-संख्या १८० है, इस ग्रथको सामने रखकर बनाया गया माळूम होता है और कुछ अपवादोंको छोडकर इसीका प्राय भावानु-वाद अथवा स.राश जान पड़ता है *। परतु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल भाषाकी टीका ही कह सकते है।

६ जीवसिद्धि ।

इस ग्रथका पता श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत 'हरिवंशपुराण' के उस पद्यसे चलता है जो **'गुणादिपरिचय'** में उद्धृत किया जा चुका है। ग्रंथका विपय उसके नामसे ही प्रकट है और वह बड़ा ही उपयोगी विपय है। श्रीजिनसेनाचार्यने समतभद्रके इस प्रवचनको

१ ग्रन्थपरिचय, २ ग्रन्थपर सदेह, ३ ग्रंथके पद्योंकी जॉच, ४ सदिग्ध पद्य, ५ अधिक पद्योंवाली प्रतियाँ, ६ जॉचका साराश, ७ टीका और टीकाकार प्रभा-चन्द्र।

* यह राय हमने इस ग्रंथके उस अग्रेजी अनुवादपरसे कायम की है जो गत वर्ष १९२३–२४ के अग्रेजी जैनगजटके कई अकोंमें the Casket of Gems नामसे प्रकाशित हुआ है।

भी महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य बतलाया है। इससे पाठक स्वय समझ सकते है कि यह ग्रथ कितने अधिक महत्त्वका होगा। दुर्भाग्यसे यह ग्रथ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ। माल्म नहीं किस भडारमे वह पड़ा हुआ अपना जीवन शेष कर रहा है अथवा शेष कर चुका है। इसके शीघ्र अनुसधानकी बड़ी जरूरत है।

७ तत्त्वानुशासन।

'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रथ' नामकी सूचीमें दिये हुए समन्तभद्रके ग्रथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी एक नाम है। श्वेताम्बर कान्फरेंसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' मे भी 'तत्त्वानुशासन'को समन्तभद्रका बनाया हुआ लिखा है, और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका उल्लेख सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टमें है जो पिटर्सनसाहबकी नौकरीमे थे। और भी कुछ विद्वानोंने, समतभद्रका परिचय देते हुए, उनके ग्रथोंमें 'तत्त्वानुशासन'का भी नाम दिया है। इस तरह पर इस ग्रथके अस्तित्वका कुछ पता चलता है। परंतु यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। अनेक प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियाँ देखनेपर भी हमें यह माल्म नहीं हो सका कि यह ग्रंथ किस जगह मौजूद है और न इसके विषयमें हम अभीतक किसी शास्त्रवाक्यादिपरसे यह ही पूरी तौरपर निश्चय कर सके हैं कि समंतभद्रने, वास्तवमें, इस नामका कोई ग्रथ बनाया है, फिर भी यह खयाल जरूर होता है कि समतभद्रका ऐसा कोई ग्रथ होना चाहिये। खोज करनेसे इतना पता जरूर चलता है कि **रामसेनके** उस 'तत्त्वानुशासन'से भिन्न, जो माणिकचद्रग्रथमालामें '**नागसेन**'के नामसे मुद्रित हुआ है, कोई

१ 'नागसेन' नाम गलतीसे दिया गया है। वास्तवमें वह ग्रन्थ नागसेनके शिष्य 'रामसेन' का बनाया हुआ है, और यह बात हमने एक लेखद्वारा सिद्ध की थी जो जुलाई सन् १९२० के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है।

दूसरा 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथ भी बना है, जिसका एक पद्य 'नियमसारकी 'पद्मप्रभ' मलधारिदेव-विरचित टीकामें, '**तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने**' इस वाक्यके साथ, पाया जाता है और वह पद्य इस प्रकार है—

"उत्सर्ज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणं ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥"

यह पद्य 'माणिकचदग्रंथमाला'में प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, और इस लिये यह किसी दूसरे ही '**तत्त्वानुशासन**'का पद्य है, ऐसा कहनेमे कुछ भी सकोच नहीं होता। पद्य परसे ग्रंथ भी कुछ कम महत्त्वका माळूम नहीं होता। बहुत सभव है कि जिस 'तत्त्वानुशासन'का उक्त पद्य है वह स्वामी समतभद्रका ही बनाया हुआ हो।

इसके सिवाय, श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने, अपने '**अनेकान्तजयपताका**'मे 'वादिमुख्य समतभद्र'के नामसे नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये है, और ये श्लोक शान्त्याचार्यविरचित '**प्रमाणकलिका**' तथा वादि देवसूरिविरचित '**स्याद्वादरत्नाकर**' मे भी समतभद्रके नामसे उद्धृत पाये जाते है*—

बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥
न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवत् ॥

* देखो जैनहितैषी भाग १४, अक ६ (पृ० १६१) तथा 'जैनसाहित्य-सशोधक' अक प्रथममें मुनि जिनविजयजीका लेख।

और 'समयसार'की जयसेनाचार्यकृत ' तात्पर्यवृत्ति ' में भी, समन्तभद्रके नामसे कुछ श्लोकोंको उद्धृत करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है—

धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
अनेकान्तोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥

ये तीनों श्लोक समतभद्रके उपलब्ध ग्रथो (नं० १ से ५ तक) में नहीं पाये जाते और इस लिये यह स्पष्ट है कि ये समन्तभद्रके किसी दूसरे ही ग्रथ अथवा ग्रथोंके पद्य हैं जो अभी तक अज्ञात अथवा अप्राप्त है । आश्चर्य नहीं जो ये भी इस ' तत्त्वानुशासन ' ग्रंथके ही पद्य हों । यदि ऐसा हो और यह ग्रथ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैनियोंका महाभाग्य समझना चाहिये । ऐसी हालतमें इस ग्रंथकी भी शीघ्र तलाश होनेकी वड़ी जरूरत है ।

८ प्राकृत व्याकरण ।

' जैनग्रथावली ' से माळूम होता है कि समन्तभद्रका वनाया हुआ एक ' प्राकृतव्याकरण ' भी है जिसकी श्लोकसख्या १२०० है । उक्त ग्रथावलीमें इस ग्रथका उल्लेख ' रायल एशियाटिक सोसाइटी ' की रिपोर्टके आधार पर किया गया है और उक्त सोसाइटीमें ही उसका अस्तित्व वतलाया गया है । परंतु हमारे देखनेमें अभीतक यह ग्रथ नहीं आया और न उक्त सोसाइटीकी वह रिपोर्ट ही देखनेको मिल सकी है, * इस लिये इस विपयमें हम अधिक

* रिपोर्ट आदिको देखकर आवश्यक सूचनाएँ देनेके लिये कई वार वावू छोटेलालजी जैन, मेम्वर रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, को लिखा गया और प्रार्थनाएँ की गई परन्तु उन्होंने उनपर कोई ध्यान नहीं दिया, अथवा ऐसे कामोंके लिए परिश्रम करना उचित नहीं समझा ।

कुछ भी कहना नहीं चाहते। हाँ, इतना जरूर कह सकते है कि स्वामी समतभद्रका बनाया हुआ यदि कोई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो वह जैनियोंके लिये एक बड़े ही गौरवकी चीज होगी। श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेंद्र व्याकरण'में '**चतुष्टयं समंतभद्रस्य**' इस सूत्रके द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख भी किया है, इससे समंतभद्रके किसी व्याकरणका उपलब्ध होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

९ प्रमाणपदार्थ ।

मूडबिद्रीके 'पडुवस्तिभंडार' की सूचीसे[1] माल्रम होता है कि वहाँपर 'प्रमाणपदार्थ' नामका एक सस्कृत ग्रथ समतभद्राचार्यका बनाया हुआ मौजूद है और उसकी श्लोकसंख्या १००० है। साथ ही, उसके विषयमे यह भी लिखा है कि वह अधूरा है। माल्रम नहीं, ग्रंथकी यह श्लोकसंख्या उसकी किसी टीकाको साथ लेकर है या मूलका ही इतना परिमाण है। यदि अपूर्ण मूलका ही इतना परिमाण है तब तो यह कहना चाहिये कि समतभद्रके उपलब्ध मूलग्रथोंमें यह सबसे बड़ा ग्रंथ है, और न्यायविषयक होनेसे बड़ा ही महत्त्व रखता है। यह भी माल्रम नहीं कि यह ग्रथ किस प्रकारका अधूरा है—इसके कुछ पत्र नष्ट हो गये है या ग्रथकार इसे पूरा ही नहीं कर सके है। बिना देखे इन सब बातोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता *। हाँ, इतना जरूर हम कहना चाहते है कि यदि

---

१ यह सूची आराके 'जैनसिद्धान्त भवन'में मौजूद है।

* इस ग्रथके विषयमें आवश्यक बातोंको माल्रम करनेके लिये मूडबिद्रीके पं० लोकनाथजी शास्त्रीको दो पत्र दिये गये। एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने ग्रंथको निकलवाकर देखने और उसके सम्बन्धमे यथेष्ट सूचनाएँ देनेका वादा भी किया था, परतु नहीं माल्रम क्या वजह हुई जिससे वे हमे फिर कोई सूचना नहीं दे सके। यदि शास्त्रीजीसे हमारे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता तो हम पाठकोंको इस ग्रंथका अच्छा परिचय देनेके लिये समर्थ हो सकते थे।

यह ग्रथ, वास्तवमें, इन्हीं समतभद्राचार्यका बनाया हुआ है तो इसका बहुत शीघ्र उद्धार करने और उसे प्रकाशमें लानेकी बड़ी ही आवश्यकता है ।

१० कर्मप्राभृत-टीका ।

प्राकृत भाषामें, श्रीपुष्पदन्त-भूतबल्याचार्यविरचित 'कर्मप्राभृत' अथवा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामका एक सिद्धान्त ग्रंथ है । यह ग्रथ १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, ३ बन्धस्वामित्व, ४ भाववेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खडोंमें विभक्त है, और इस लिये इसे '**षट्खण्डागम**' भी कहते हैं। समन्तभद्रने इस ग्रथके प्रथम पांच खडोंकी यह टीका बड़ी ही सुन्दर तथा मृदु संस्कृत भाषामे लिखी है और इसकी संख्या अड़तालीस हजार श्लोकपरिमाण है, ऐसा श्रीइन्द्रनद्याचार्यकृत 'श्रुतावतार' ग्रथके निम्नवाक्योंसे पाया जाता है । साथ ही, यह भी मालूम होता है कि समन्तभद्र 'कषायप्राभृत' नामके द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी भी व्याख्या लिखना चाहते थे, परतु द्रव्यादि–शुद्धिकरण–प्रयत्नोंके अभावसे, उनके एक सधर्मी साधुने (गुरुभाईने) उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया था—

कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोभूत् १६७
श्रीमान्समंतभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधं ।
सिद्धान्तमत षट्खंडागमगतखंडपंचकस्य पुनः ॥ १६८ ॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां ।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥
विलिखन द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धः ॥ १७० ॥

इस परिचयमे उस स्थानविशेष अथवा ग्रामका नाम भी दिया हुआ है जहाँ तार्किकसूर्य स्वामी समतभद्रने उदय होकर अपनी टीका-किरणोंसे कर्मप्राभृत सिद्धान्तके अर्थको विकसित किया है। परतु पाठकी कुछ अशुद्धिके कारण वह नाम स्पष्ट नहीं हो सका। 'आसन्ध्या पलरि' की जगह **'आसीद्यः पलरि'** पाठ देकर प० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने उसका अर्थ 'आनंद नावाच्या गावात'—आनद नामके गॉवमे—दिया है। परंतु इस दूसरे पाठका यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह वात कुछ समझमें नहीं आती। पूछने पर पंडितजी लिखते है "श्रुतपचमीक्रिया इस पुस्तकके मराठी अनुवादमे समतभद्राचार्यका जन्म आनंदमें होना लिखा है," वस इतने परसे ही आपने 'पलरि' का अर्थ 'आनंद गॉवमे' कर दिया है, जो ठीक माॡम नहीं होता, और न आपका **'आसीद्यः'** पाठ ही हमे ठीक जँचता है; क्योंकि-**'अभूत्'** क्रियापदके होनेसे **'आसीत्'** क्रियापद व्यर्थ पड़ता है। हमारी रायमें, यदि कर्णाटक प्रान्तमें 'पल्ली' शव्दके अर्थमें 'पलर' या इसीसे मिलता जुलता कोई दूसरा शव्द व्यवहृत होता हो और सप्तमी विभक्तिमें उसका 'पलरि' रूप वनता हो तो यह कहा जा सकता है कि 'आसन्ध्या' की जगह **'आनंद्यां'** पाठ होगा, और तब ऐसा आशय निकल सकेगा कि समंतभद्रने 'आनदी पल्ली' में अथवा 'आनदमठ' में ठहरकर इस टीकाकी रचना की है।

११ गन्धहस्ति महाभाष्य ।

कहा जाता है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति'[1] नामका एक महाभाष्य भी लिखा है जिसकी श्लोक-

---

१ 'गंधहस्ति' एक वड़ा ही महत्त्वसूचक विशेषण है—गंधेभ, गंधगज और गधद्विप भी इसीके पर्याय नाम है। जिस हाथीकी गंधको पाकर दूसरे हाथी

संख्या ८४ हजार है, और उक्त 'देवागम' स्तोत्र ही जिसका मंगलाचरण है। इस ग्रंथकी वर्षोंसे तलाश हो रही है। बम्बईके सुप्रसिद्ध-दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० ने इसके दर्शन मात्र करा देनेवालेके लिये पाँचसौ रुपये नकदका पारितोषिक भी निकाला था, और हमने भी, 'देवागम' पर मोहित होकर, उस समय यह संकल्प किया था कि यदि यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो हम इसके अध्ययन, मनन और प्रचारमें अपना शेष जीवन व्यतीत करेंगे—परन्तु आज तक किसी भी भण्डारसे इस ग्रंथका कोई पता नहीं चला। एक बार अखबारोंमें ऐसी खबर उडी थी कि यह ग्रंथ आस्ट्रिया देशके एक प्रसिद्ध नगर (वियना) की लायब्रेरीमे मौजूद है। और इस पर दो एक विद्वानोंको वहाँ भेजकर ग्रंथकी कापी मँगानेके लिये कुछ चंदे वगैरहकी योजना भी हुई थी, परंतु बादमें मालूम हुआ कि वह खबर गलत थी—उसके मूलमें ही भूल हुई है—और इस लिये दर्शनोत्कंठित जनताके हृदयमें उस समाचारसे जो कुछ मंगलमय आशा बँधी थी वह फिरसे निराशामें परिणत हो गई।

हम जैनसाहित्य परसे भी इस ग्रंथके अस्तित्वकी बराबर खोज करते

नहीं ठहरते—भाग जाते अथवा निर्मद और निस्तेज हो जाते हैं—उसे 'गंधहस्ती' कहते हैं। इसी गुणके कारण कुछ खास खास विद्वान् भी इस पदसे विभूषित रहे हैं। समन्तभद्रके सामने प्रतिवादी नहीं ठहरते थे, यह बात पहले विस्तारके साथ 'गुणादिपरिचय' में बतलाई जा चुकी है, इससे 'गंधहस्ती' अवश्य ही समन्तभद्रका विरद अथवा विशेषण रहा होगा और इसीसे उनके महाभाष्यको गंधहस्ति महाभाष्य कहते होंगे। अथवा गंधहस्ति-तुल्य होनेसे ही वह गंधहस्ति महाभाष्य कहलाता होगा और इससे यह समझना चाहिये कि वह सर्वोत्तम भाष्य है—दूसरे भाष्य उसके सामने फीके, श्रीहीन और निस्तेज जान पड़ते हैं।

आ रहे है। अबतकके मिले हुए उल्लेखों द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य परसे इस ग्रंथका जो कुछ पता चलता है उसका सार इस प्रकार है—

(१) कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्त कौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

यही पद्य **'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'** ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी दिया हुआ है, जिसे प० अय्यपार्यने शक सं० १२४१ मे बना कर समाप्त किया था, और उसकी किसी किसी प्रतिमें '**प्रवर्तकः**' की जगह '**विधायकः**' और '**निदेशकः**' की जगह '**कवीश्वरः**' पाठ भी पाया जाता है, परतु उससे कोई अर्थभेद नहीं होता अथवा यों कहिये कि पद्यके प्रतिपाद्य विपयमे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि "स्वामी समन्तभद्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के **'गंधहस्ति'** नामक व्याख्यान (भाष्य) के प्रवर्तक—अथवा विधायक—हुए है और साथ ही वे '**देवागम**' के निदेशक—अथवा कवीश्वर—भी थे।"

इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट माल्लम होता है कि समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहास्ति' नामका कोई भाष्य अथवा महाभाष्य लिखा है परतु यह माल्लम नहीं होता कि 'देवागम' (आप्तमीमासा) उस भाष्यका मगलाचरण है। 'देवागम' यदि मगलाचरण रूपसे उस भाष्यका ही एक अश होता तो उसका पृथक् रूपसे नामोल्लेख करनेकी यहाँ कोई जरूरत नहीं थी, इस पद्यमें उसके पृथक् नामानिर्देशसे यह स्पष्ट ध्वनि

१ कवि हस्तिमल्ल विक्रमकी १४ वीं शताब्दीमे हुए है।

निकलती है कि वह समन्तभद्रका एक स्वतत्र और प्रधान ग्रथ है। देवागम (आप्तमीमासा) की अन्तिम कारिका भी इसी भावको पुष्ट करती हुई नजर आती है और वह निम्न प्रकार है—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां ।[1]
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥

वसुनन्दि आचार्यने, अपनी टीकामें इस कारिकाको '**शास्त्रार्थोपसंहार-कारिका**'[2] लिखा है, और इसकी टीकाके अन्तमें समतभद्रका **कृतकृत्यः**[3] **निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञः**' इत्यादि विशेषणोंके साथ उल्लेख किया है। विद्यानंदाचार्यने, अष्टसहस्रीमें, इस कारिकाके द्वारा **प्रारब्धनिर्वहण**—प्रारभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति—आदिको सूचित करते हुए, 'देवागम' को '**स्वोक्तपरिच्छेद**[4] **शास्त्र**' बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि इस शास्त्रमें जो दश परिच्छेदोंका विभाग पाया जाता है वह स्वय स्वामी समन्तभद्रका किया हुआ है। अकलकदेवने भी, ऐसा[5] ही प्रतिपादन किया है। और इस सब कथनसे

---

१ जो लोग अपना हित चाहते है उन्हें लक्ष्य करके, यह 'आप्तमीमासा' सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके लिये कही गई है।

२ शास्त्रके विषयका उपसहार करनेवाली अथवा उसकी समाप्तिकी सूचक कारिका।

३ ये दोनों विशेषण समन्तभद्रके द्वारा प्रारभ किये हुए ग्रथकी परिसमाप्तिको सूचित करते है।

४ "इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिन्नत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेष-परीक्षा . "
—अष्टसहस्री।

५ "इति स्वोक्तपरिच्छेदविहितेयमाप्तमीमासा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा ।"
—अष्टशती।

‘ देवागम’का एक स्वतंत्र शास्त्र होना पाया जाता है, जिसकी समाप्ति उक्त कारिकाके साथ हो जाती है; और यह प्रतीत नहीं होता कि वह किसी टीका अथवा भाष्यका आदिम मंगलाचरण है, क्योंकि किसी ग्रंथपर टीका अथवा भाष्य लिखते हुए नमस्कारादि रूपसे मंगलाचरण करनेकी जो पद्धति पाई जाती है वह इससे विभिन्न मालूम होती है और उसमें इस प्रकारसे परिच्छेदभेद नहीं देखा जाता । इसके सिवाय उक्त कारिकासे भी यह सूचित नहीं होता कि यहाँ तक मगलाचरण किया गया है और न ग्रंथके तीनों टीकाकारों—अकलक, विद्यानंद तथा वसुनन्दी नामके आचार्यों—मेंसे हा किसीने अपनी टीकामें इसे ‘गंधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण’ सूचित किया है, बल्कि गंधहस्ति महाभाष्यका कहीं नाम तक भी नहीं दिया । और भी कितने ही उल्लेखोंसे देवागम (आप्तमीमांसा) एक स्वतंत्र ग्रथके रूपमें उल्लेखित मिलता है * । और इस लिये कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्य परसे

---

* यथा—

१—गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जित ।
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः ॥
—विक्रान्तकौरव प्र० ।

२—स्वामिनश्चरित तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
—वादिराजसूरि (पा० च०)

३—जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिन ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥
अल चकार यस्सार्वमाप्तमीमासितं मतं ।
स्वामिविद्यादिनंदाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
—नगरताल्लुकेका शि० लेख न० ४६ (E. C, VIII.)

देवागमकी स्वतन्त्रतादि–विषयक जो नतीजा निकाला गया है उसका बहुत कुछ समर्थन होता है ।

कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्यसे यह भी माछूम नहीं होता कि जिस तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रने गधहस्ति नामका भाष्य लिखा है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'तत्त्वार्थशास्त्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थसूत्र । हो सकता है कि वह उमास्वातिका ही तत्त्वार्थसूत्र हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह उससे भिन्न कोई दूसरा ही तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थशास्त्र हो, जिसकी रचना किसी दूसरे विद्वानाचार्यके द्वारा हुई हो, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रोंके रचयिता अकेले उमास्वाति ही नहीं हुए हैं–दूसरे आचार्य भी हुए हैं–और न सूत्रका अर्थ केवल गद्यमय संक्षिप्त सूचनावाक्य या वाक्यसमूह ही है बल्कि वह 'शास्त्र' का पर्याय नाम भी है और पद्यात्मक शास्त्र भी उससे अभिप्रेत होते हैं । यथा—

> कायस्थपद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः ।—यशोधरचरित्र ।
> तथोद्दिष्टं मयात्रापि ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः ।—भद्रबाहुचरित्र ।
> भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।—पंचास्तिकाय ।
> देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः ।—वि० कौरव प्र० ।
> एतच्च मूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यं ।—अनगारधर्मामृतटीका ।

अतः तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ 'तत्त्वार्थविषयक शास्त्र' होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र' कहलाता है । 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'सिद्धान्तसूत्र' भी

---

१ यह [illegible] ग्रन्थके एक अधिकारका नाम है ।

तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्रके नामान्तर है । इसीसे आर्यदेवको एक जगह **'तत्त्वार्थसूत्र'** का और दूसरी जगह **'राद्धान्त'** का कर्त्ता लिखा है * और पुष्पदन्त, भूतवल्यादि आचार्यों द्वारा विरचित सिद्धान्त-शास्त्रोंको भी तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थमहाशास्त्र कहा जाता है । इन सिद्धान्त शास्त्रोंपर तुम्बुलूराचार्यने कनड़ी भाषामे 'चूडामणि' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दि-'श्रुताव-तार'मे ८४ हजार और 'कर्णाटकशब्दानुशासन' मे ९६ हजार श्लोकोका बतलाया है । भट्टाकलकदेवने, अपने 'कर्णाटक शब्दानु-शासन' मे कनडी भाषाकी उपयोगिताको जतलाते हुए, इस टीका का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"न चैष (कर्णाटक) भाषा शास्त्रानुपयोगिनी । तत्त्वार्थ-महाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रंथसंदर्भरूपस्य चू-डामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्तागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक-कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रंथानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात् ।"

---

* यथा—(१) "......अवरिं तत्त्वार्थसूत्रकर्तुगल् एनिसिद् आर्यदेवर..."

—नगरताल्लुकेका शि० लेख न० ३५० ।

(२) "आचार्यवर्यो यतिरार्यदेवो राद्धान्तकर्ता ध्रियतां स मूर्ध्नि ।"

श्र० बे० शिलालेख नं० ५४ (६७) ।

१ ये 'अष्टशती' आदि ग्रंथोंके कर्तासे भिन्न दूसरे भट्टाकलक हैं, जो विक्रमकी १७ वीं शताब्दीमे हुए हैं । इन्होंने कर्णाटकशब्दानुशासनको ई० सन् १६०४ (शक १५२६) में बनाकर समाप्त किया है ।

२ देखो, राइस साहबकी 'इस्क्रिप्शस ऐट श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक, सन् १८८९ की छपी हुई ।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि ‘ चूडामणि ’ जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ ‘ तत्त्वार्थमहाशास्त्र ’ के नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे ‘ सिद्धान्तशास्त्र ’ और ‘ तत्त्वार्थशास्त्र ’ दोनोंकी, एकार्थताका समर्थन होता है और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत तथा कषायप्राभृत ग्रंथ ‘ तत्त्वार्थशास्त्र ’ कहलाते थे। तत्त्वार्थविषयक होनेसे उन्हें ‘ तत्त्वार्थशास्त्र ’ या ‘ तत्त्वार्थसूत्र ’ कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।

उन्हीं तत्त्वार्थशास्त्रोंमेंसे ‘ कर्मप्राभृत ’ सिद्धान्तपर समन्तभद्रने भी एक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है और जिसकी संख्या ‘ इन्द्रनंदि-श्रुतावतार ’ के अनुसार ४८ हजार और ‘ विबुधश्रीधर-विरचित श्रुतावतार ’ के मतसे ६८ हजार श्लोक परिमाण है। ऐसी हालतमे, आश्चर्य नहीं कि कवि हस्तिमल्लादिकने अपने उक्त पद्यमें समन्तभद्रको तत्त्वार्थसूत्रके जिस ‘ गंधहस्ति ’ नामक व्याख्यानका कर्ता सूचित किया है वह यही टीका अथवा भाष्य हो। जब तक किसी प्रबल और समर्थ प्रमाणके द्वारा, बिना किसी संदेहके, यह मालूम न हो जाय कि समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर ही ‘ गंधहस्ति ’ नामक महाभाष्यकी रचना की थी तब तक उनके उक्त सिद्धान्तभाष्यको भी गंधहस्तिमहाभाष्य माना जा सकता है और उसमें यह पद्य कोई बाधक प्रतीत नहीं होता।

(२) आराके जैनसिद्धान्त भवनमें ताडपत्रों पर लिखा हुआ, कनडी भाषाका एक अपूर्ण ग्रंथ है, जिसका तथा जिसके कर्त्ताका नाम मालूम नहीं हो सका, और जिसका विषय उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम-

सूत्रके तीसरे अध्यायसे सम्बंध रखता है । इस ग्रथके प्रारभमें नीचे लिखा वाक्य मंगलाचरणके तौर पर मोटे अक्षरोंमे दिया हुआ है—

" तत्त्वार्थव्याख्यानषण्णवतिसहस्रगन्धहस्तिमहाभाष्यविधायत(क)देवागमकवीश्वरस्याद्वादविद्याधिपतिसमन्तभद्रान्वयपेनुगोण्डेयलक्ष्मीसेनाचार्यर दिव्यश्रीपादपद्मंगलिगे नमोस्तु ।"

इस वाक्यमें 'पेनुगोण्डे' के रहनेवाले लक्ष्मीसेनाचार्यके[1] चरण कमलोंको नमस्कार किया गया है और साथ ही यह वतलाया गया है कि वे उन समन्तभद्राचार्यके वंशमे हुए है जिन्होंने तत्त्वार्थके व्याख्यान स्वरूप ९६ हजार ग्रथपरिमाणको लिये हुए गधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है और जो 'देवागम'के कवीश्वर तथा स्याद्वादविद्याके अधीश्वर (अधिपति) थे ।

यहाँ समन्तभद्रके जो तीन विशेषण दिये गये है उनमेंसे पहले दो विशेपण प्रायः वे ही हैं जो 'विक्रान्तकौरव' नाटक और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' के उक्त पद्यमें–खासकर उसकी पाठान्तरित शकलमें—पाये जाते है । विशेषता सिर्फ इतनी है कि इसमें 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान' की जगह 'तत्त्वार्थव्याख्यान' और 'गधहस्ति' की जगह 'गधहस्तिमहाभाष्य' ऐसा स्पष्टोल्लेख किया है । साथ ही, गंधहस्तिमहाभाष्यका परिमाण भी ९६ हजार दिया है, जो उसके प्रचलित परिमाण (८४ हजार) से १२ हजार अधिक है ।

---

१ लक्ष्मीसेनाचार्यके एक शिष्य मल्लिपेणदेवकी निपद्याका उल्लेख श्रवणवेल्गोलके १६८ वें शिलालेखमें पाया जाता है और वह शि० लेख ई० स० १४०० के करीवका वतलाया गया है । समव है कि इन्हीं लक्ष्मीसेनके शिष्यकी निषद्याका वह लेख हो और इससे लक्ष्मीसेन १४ वीं शताब्दीके लगभगके विद्वान् हों । लक्ष्मीसेन नामके दो विद्वानोंका और भी पता चला है परंतु वे १६ वीं और १८ वीं शताब्दीके आचार्य है ।

इस उल्लेखसे भी 'देवागम' के एक स्वतंत्र तथा प्रधान ग्रंथ होनेका पता चलता है, और यह मालूम नहीं होता कि गन्धहस्तिमहाभाष्य जिस 'तत्त्वार्थ' ग्रंथका व्याख्यान है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थशास्त्र, और इसलिये, इस विषयमे जो कुछ कल्पना और विवेचना ऊपर की गई है उसे यथा-सभव यहाँ भी समझ लेना चाहिये। रही ग्रंथसंख्याकी बात, वह बेशक उसके प्रचलित परिमाणसे भिन्न है और कर्मप्राभृतटीकाके उस परिमाणसे भी भिन्न है जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दी तथा बिबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' नामक ग्रंथोंमे पाया जाता है। ऐसी हालतमें यह खोजनेकी जरूरत है कि कौनसी सख्या ठीक है। उपलब्ध जैनसाहित्यमे, किसी भी आचार्यके ग्रंथ अथवा प्राचीन शिलालेख परसे प्रचलित सख्याका कोई समर्थन नहीं होता—अर्थात्, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे गधहस्ति महाभाष्यकी श्लोकसख्या ८४ हजार पाई जाती हो,—बल्कि ऐसा भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिससे यह मालूम होता हो कि समन्तभद्रने ८४ हजार श्लोकसख्यावाला कोई ग्रथ निर्माण किया है, जिसका सबध गधहस्ति महाभाष्यके साथ मिला लिया जाता, और इसलिये महाभाष्यकी प्रचलित सख्याका मूल मालूम न होनेसे उस पर सदेह किया जा सकता है। श्रुतावतारमे 'चूडामणि' नामके कनडी भाष्यकी सख्या ८४ हजार दी है परन्तु कर्णाटक शब्दानुशासनमे भट्टाकलकदेव उसकी सख्या ९६ हजार लिखते है और यह सख्या स्वय ग्रथको देखकर लिखी हुई मालूम होती है, क्योंकि उन्होंने ग्रथको 'उपलभ्यमान' बतलाया है। इससे श्रुतावतारमें समतभद्रके सिद्धान्तागम-भाष्यकी जो संख्या ४८ हजार दी है उस पर भी सदेहको अवसर मिल सकता है, खासकर

ऐसी हालतमें जब कि विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार'मे उसकी सख्या ६८ हजार दी है। सभव है कि वह संख्या ८४ हजार हो—अकोंके आगे पीछे लिखे जानेसे कहीं पर ४८ हजार लिखी गई हो और उसीके आधारपर ४८ हजारका गलत उल्लेख कर दिया गया हो—या ९६ हजार हो अथवा ६८ हजार वगैरह कुछ और ही हो, और यह भी सभव है कि उक्त वाक्यमें जो सख्या दी गई है वही ठीक न हो—वह किसी गलतीसे ८४ हजार या ४८ हजार आदिकी जगह लिखी गई हो। परन्तु इन सब बातोंके लिये विशेष अनुसधान तथा खोजकी जरूरत है और तभी कोई निश्चित बात कही जा सकती है। हाँ, उक्त वाक्यमें दी हुई महाभाष्यकी सख्या और किसी एक श्रुतावतारमे दी हुई समन्तभद्रके सिद्धान्तागम भाष्यकी संख्या दोनो यदि सत्य साबित हों तो यह जरूर कहा जा सकता है कि समन्तभद्रका गंधहस्तिमहाभाष्य उनके सिद्धान्तागम-भाष्य (कर्मप्राभृत-टीका) से भिन्न है, और वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य हो सकता है।

(३) उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर '**राजवार्तिक**' और '**श्लोकवार्तिक**' नामके दो भाष्य उपलब्ध है जो क्रमशः अकलंकदेव तथा

---

१ अकोंका आगे पीछे लिखा जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है, वह कभी कभी जल्दीमे हो जाया करता है। उदाहरणके लिये डा० सतीशचंद्रकी 'हिस्टरी आफ इडियन लाजिक'को लीजिये, उसमे उमास्वातिकी आयुका उल्लेख करते हुए ८४ की जगह ४८ वर्ष, इसी अकोंके आगे पीछेके कारण, लिखे गये हैं। अन्यथा, डाक्टर साहबने उमास्वातिका समय ईसवी सन् १ से ८५ तक दिया है। वे यदि इसे न देते तो वहाँ आयुके विषयमे और भी ज्यादा भ्रम होना सभव था।

विद्यानंदाचार्यके बनाये हुए है । ये वार्तिकके ढंगसे लिखे गये है और 'वार्तिक' ही कहलाते हैं । वार्तिकोमे उक्त, अनुक्त और दुरुक्त—कहे हुए, विना कहे हुए और अन्यथा कहे हुए—तीनो प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता, विचारणा अथवा अभिव्यक्ति हुआ करती है । जैसा कि श्रीहेमचंद्राचार्य-प्रतिपादित ' वार्तिक'के निम्न लक्षणसे प्रकट है,—

'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम् ।'[1]

इससे वार्तिक भाष्योंका परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ बढ जाता है । जैसे सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवार्तिकसे श्लोकवार्तिकका परिमाण बढा हुआ है । ऐसी हालतमें उक्त तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रका ८४ या ९६ हजार श्लोक सख्यावाला भाष्य यदि पहलेसे मौजूद था तो अकलकदेव और विद्यानंदके वार्तिक भाष्यका अलग अलग परिमाण उससे जरूर कुछ बढ जाना चाहिये था, परतु बढना तो दूर रहा वह उलटा उससे कई गुणा कम है । इससे यह नतीजा निकलता है कि या तो समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर ऐसा कोई भाष्य नहीं लिखा—उन्होंने सिद्धान्तग्रथ पर जो भाष्य लिखा है वही ' गधहस्ति महाभाष्य ' कहलाता होगा—और या लिखा है तो वह अकलकदेव तथा विद्यानदसे पहले ही नष्ट हो चुका था, उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ ।

---

१ A rule which explains what is said or but imperfectly said and supplies omissions

—V S Apte's dictionary.

२ इन वार्तिकभाष्योंसे भिन्न दूसरे प्रकारके भाष्यों अथवा टीकाओंका परिमाण भी घट जाता है, ऐसा अभिप्राय नहीं है । वह चाहे जितना कम भी हो सकता है ।

(४) शाकटायन व्याकरणके 'उपज्ञाते'[1] सूत्रकी टीकामें टीकाकार श्रीअभयचन्द्रसूरि[2] लिखते है—

"तृतीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अणादयो भवन्ति ॥ अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनं । सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ॥"

---

१ यह तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १८२ वॉ सूत्र है और अभयचंद्रसूरिके मुद्रित 'प्रक्रियासग्रह'मे इसका क्रमिक नं० ७४६ दिया है। देखो, कोल्हापुरके 'जैनेन्द्रमुद्रणालय'में छपा हुआ सन् १९०७ का संस्करण ।

२ ये अभयचद्रसूरि वे ही अभयचद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णीके 'गुरु तथा 'गोम्मटसार'की 'मन्दप्रबोधिका' टीकाके कर्ता थे; और 'लघीयस्त्रय'के टीकाकार भी ये ही जान पड़ते है। 'लघीयस्त्रय'की टीकामें टीकाकारने अपनेको मुनिचंद्रका शिष्य प्रकट किया है और मंगलाचरणमें मुनिचंद्रको भी नमस्कार किया है, 'मंदप्रबोधिका' टीकामे भी 'मुनि'को नमस्कार किया गया है और शाकटायन व्याकरणकी इस 'प्रक्रियासग्रह' टीकामे भी 'मुनीन्द्र'को नमस्कार पाया जाता है और वह 'मुनीन्दु' (=मुनिचद्र) का पाठान्तर भी हो सकता है। साथ ही, इन तीनों टीकाओंके मंगलाचरणोंकी शैली भी एक पाई जाती है—प्रत्येकमें अपने गुरुके सिवाय, मूलग्रंथकर्ता तथा जिनेश्वर (जिनाधीश) को भी नमस्कार किया गया है और टीका करनेकी प्रतिज्ञाके साथ टीकाका नाम भी दिया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं और मुनिचंद्रके शिष्य जान पड़ते हैं। केशववर्णीने गोम्मटसारकी कनड़ी टीका शक स० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाकर समाप्त की है, और मुनिचंद्र विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके अस्तित्व समयका एक उल्लेख सौंदत्तिके शिलालेखमे शक स० ११५१ (वि०स० १२८६) का और दूसरा श्रवणबेलगोलके १३७ (३४७) नवरके शिलालेखमें शक स० १२०० (वि० स० १३३५) का पाया जाता है। इस लिये ये अभयचंद्रसूरि विक्रमकी प्राय १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। बहुत सभव है कि वे अभयसूरि सैद्धान्तिक भी ये ही अभयचद्र हों जो 'श्रुतमुनि'के शास्त्रगुरु थे

यहाँ तृतीयान्तसे उपज्ञात अर्थमें अणादि प्रत्ययोंके होनेसे जो रूप होते हैं उनके दो उदाहरण दिये गये हैं—एक ‘आर्हत-प्रवचन’ और दूसरा ‘सामन्तभद्र–महाभाष्य’। साथ ही, ‘उपज्ञात’का अर्थ ‘प्रथमतो ज्ञान’–विना उपदेशके प्रथम जाना हुआ—किया है। अमरकोशमें भी ‘आद्य ज्ञान’को ‘उपज्ञा’ लिखा है। इस अर्थकी दृष्टिसे अर्हन्तके द्वारा प्रथम जाने हुए प्रवचनको जिस प्रकार ‘आर्हत प्रवचन’ कहते हैं उसी प्रकार (समन्तभद्रेण प्रथमतो विनोपदेशेन–ज्ञात सामन्तभद्र) समन्तभद्रके द्वारा विना उपदेशके प्रथम जाने हुए महाभाष्यको ‘सामन्तभद्र महाभाष्य’ कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये, और इससे यह ध्वनि निकलती है कि समन्तभद्रका महाभाष्य उनका स्वोपज्ञ भाष्य है—उन्हींके किसी ग्रंथ पर रचा हुआ भाष्य है। अन्यथा, इसका उल्लेख ‘**टः प्रोक्ते**’ सूत्रकी टीकामें किया जाता, जहाँ ‘प्रोक्त’ तथा ‘व्याख्यात’ अर्थमें इन्हीं प्रत्ययोंसे बनेहुए रूपोंके उदाहरण दिये हैं और उनमें ‘सामन्तभद्र’ भी एक उदाहरण है परन्तु उसके साथमें ‘महाभाष्य’ पद

और इन्हें श्रुतमुनिने ‘भावसंग्रह’की प्रशस्तिमें शब्दागम, परमागम और तर्कागमके पूर्ण जानकार (विद्वान्)' लिखा है। उनका समय भी यही पाया जाता है क्योंकि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु और गुरुभाई बालचंद्र मुनिने शक सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में ‘द्रव्यसंग्रह’सूत्र पर एक टीका लिखी है (देखो ‘कर्णाटककविचरिते’)। परन्तु श्रुतमुनिके दीक्षागुरु अभयचंद्र सैद्धान्तिक इन अभयचन्द्रसूरिसे भिन्न जान पड़ते हैं, क्योंकि श्रवणबेलगोलके शि० लेख नं० ४१ और १०८ में इन्हें माघनन्दीका शिष्य लिखा है। लेकिन समय उनका भी विक्रमकी [illegible] वीं १४ वीं शताब्दी है। अभयचंद्र नामके दूसरे कुछ विद्वानोंका अस्तित्व विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंमें पाया जाता है। परन्तु वे इस प्रक्रियासंग्रहके कर्ता मालूम नहीं होते।

* [illegible] अध्यायके प्रथम पादका १६९ वाँ सूत्र है, और प्रक्रियासंग्रहमें इसका नम्बर [illegible] दिया है।

नहीं है। क्योंकि दूसरेके ग्रंथ पर रचे हुए भाष्यका अथवा यो कहिये कि उस ग्रथके अर्थका प्रथम ज्ञान भाष्यकारको नहीं होता बल्कि मूल ग्रंथकारको होता है। परन्तु यहाँ पर हमें इस चर्चामें अधिक जानेकी जरूरत नहीं है। हम इस उल्लेख परसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते है कि इसमे समन्तभद्रके महाभाष्यका उल्लेख है और उसे 'गन्धहस्ति' नाम न देकर 'सामन्तभद्र महाभाष्य'के नामसे ही उल्लेखित किया गया है। परन्तु इस उल्लेखसे यह माळूम नहीं होता कि वह भाष्य कौनसे ग्रंथ-पर लिखा गया है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी तरह वह कर्मप्राभृत सिद्धान्तपर या अपने ही किसी ग्रथपर लिखा हुआ भाष्य भी हो सकता है। ऐसी हालतमें, महाभाष्यके निर्माणका कुछ पता चलनेके सिवाय, इस उल्लेखसे और किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

(५) स्याद्वादमंजरी नामके श्वेताम्बर ग्रथमें एक स्थानपर 'गध-हस्ति' आदि ग्रथोंके हवालेसे अवयव और प्रदेशके भेदका निम्न प्रकार-से उल्लेख किया है—

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या।"

इस उल्लेखसे सिर्फ 'गधहस्ति' नामके एक ग्रंथका पता चलता है परन्तु यह माळूम नहीं होता कि वह मूल ग्रथ है या टीका, दिगम्बर है या श्वेताम्बर और उसके कर्त्ताका क्या नाम है। हो सकता है कि, इसमें 'गधहस्ति' से समन्तभद्रके गधहस्तिमहाभाष्यका ही अभिप्र जैसा कि प० जवाहरलाल शास्त्रीने ग्रथकी भाषाटीकामें सूचित

१ यह हेमचन्द्राचार्य-विरचित अन्य[illegible] च्छेद-द्वात्रिंशिका'की जिसे मल्लिषेणसूरिने शक स० १२१८ ( ) १३४९ मे किया है।

दात्मक ग्रंथ माना जाय तो उक्त पदसे यह भी माळूम नहीं होता कि वह आप्तमीमासा ग्रन्थ उस भाष्यका मंगलाचरण है, बल्कि वह उसका एक प्रकरण जान पड़ता है। प्रस्तावनाप्रकरण होना और बात है और मंगलाचरण होना दूसरी बात। एक प्रकरण मंगलात्मक होते हुए भी टीकाकारोंके मंगलाचरणकी भाषामे मगलाचरण नहीं कहलाता। टीकाकारोंका मंगलाचरण, अपने इष्टदेवादिककी स्तुतिको लिये हुए, या तो नमस्कारात्मक होता है या आशीर्वादात्मक, और कभी कभी उसमें टीका करनेकी प्रतिज्ञा भी शामिल रहती है; अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको ही लिये हुए होता है, परन्तु वह एक ग्रथके रूपमे अनेक परिच्छेदोंमे बँटा हुआ नहीं देखा जाता। आप्तमीमासामे ऐसा एक भी पद्य नहीं है जो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक हो अथवा इष्टकी स्तुतिध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए हो, उसके अन्तिम पद्यसे भी यह माळूम नहीं होता कि वह किसी ग्रंथका मगलाचरण है, और यह बात पहले जाहिर की जा चुकी है कि उसमें दशपरिच्छेदोंका जो विभाग है वह स्वयसमन्तभद्राचार्यका किया हुआ है। ऐसी हालतमें यह प्रतीत नहीं होता कि, आप्तमीमासा गंधहस्तिमहाभाष्यका आदिम मगलाचरण है—अर्थात्, वह भाष्य **'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान् ॥'** इस पद्यसे ही आरंभ होता है और इससे पहले उसमें कोई दूसरा मंगल पद्य अथवा वाक्य नहीं है। हो सकता है कि समन्तभद्रने महाभाष्यकी आदिमें आप्तके गुणोंका कोई खास स्तवन किया हो और फिर उन गुणोंकी परीक्षा करने अथवा उनके विषयमें अपनी श्रद्धा और गुणज्ञताको समुचित करने आदिके लिये 'आप्तमीमासा' नामके प्रकरणकी रचना की हो अथवा पहलेसे रचे

" इह[1] हि खलु पुरा स्वकीय–निरवद्य–विद्या–संयम–संपदा गणधर–प्रत्येकबुद्ध–श्रुतकेवलि–दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नंतः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र किल मंगलपुरस्सर[2]–स्तव–विषय–परमाप्त–गुणातिशय–परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयांचक्रिरे। "

इस वाक्य द्वारा, आचार्योंके विशेषणोंको छोड़कर, यह खास तौर पर सूचित किया गया है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके ' तत्त्वार्थाधिगम–मोक्षशास्त्र' पर 'गंधहस्ति' नामका एक महाभाष्य लिखा है, और उसकी रचना करते हुए उन्होंने उसमें परम आप्तके गुणातिशयकी परीक्षाके अवसरपर 'देवागम' नामके प्रवचनतीर्थकी सृष्टि की है ।

यद्यपि इस उल्लेखसे गंधहस्तिमहाभाष्यकी श्लोकसंख्याका कोई हाल मालूम नहीं होता और न यही पाया जाता है कि देवागम (आप्तमीमांसा) उसका मगलाचरण है, परतु यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम होती है कि समन्तभद्रका गधहस्ति महाभाष्य उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर लिखा गया है और 'देवागम' भी उसका एक प्रकरण है। जहाँ तक हम समझते है यही इस विपयका पहला स्पष्टोल्लेख है जो अभीतक उपलब्ध हुआ है । परतु यह उल्लेख किस

---

१ यह प्रस्तावनावाक्य मुनिजिनविजयजीने पूनाके 'भण्डारकर इन्स्टिटयूट'की उस ग्रंथ प्रतिपरसे उद्धृत करके भेजा था जिसका नवर ९२० है।

२ "मंगलपुरस्सरस्तवोहि शास्त्रावतार-रचित-स्तुतिरुच्यते। मगलं पुरस्सरमस्येति मगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात् ।" —अष्टसहस्री ।

टीका भी की है। इस ग्रथमें परीक्षाद्वारा अर्हन्तदेवका ही इन विशेषणोंसे विशिष्ट और वंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नवरके पद्यमें, **'इति संक्षेपतोन्वयः'** यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामे लिखा है—

"इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुंगवैर्विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः प्रपंचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमंतभद्रदेवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात् ।"

इस सब कथनसे इतना तो प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आप्तमीमासा ग्रथ **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** नामके पद्यमें कहे हुए आप्तके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परतु यह पद्य कौनसे निःश्रेयस (मोक्ष) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई। विद्यानदाचार्य, आप्तपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विपयमें लिखते है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै १२३

इस पद्यसे सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, जिसकी स्वामी समतभद्रने मीमासा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढानेका—आरंभ करते समय शास्त्रकारद्वारा रचा गया है। परन्तु वे शास्त्रकार महोदय कौन हैं, यह कुछ स्पष्ट मालूम नहीं होता। विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी टीकामे शास्त्रकारको सूत्रकार सूचित किया है और उन्हीं 'मुनिपुगव'का बनाया हुआ उक्त गुणस्तोत्र लिखा है परन्तु उनका

टीका भी की है । इस ग्रथमें परीक्षाद्वारा अर्हन्तदेवका ही इन विशेषणोंसे विशिष्ट और वंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नवरके पद्यमें, 'इति संक्षेपतोन्वयः' यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामे लिखा है—

"इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुंगवैर्विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः प्रपंचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमंतभद्रदेवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात् ।"

इस सब कथनसे इतना तो प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आप्तमीमासा ग्रथ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' नामके पद्यमे कहे हुए आप्तके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परंतु यह पद्य कौनसे निःश्रेयस (मोक्ष) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई । विद्यानदाचार्य, आप्तपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विषयमें लिखते है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै १२३

इस पद्यसे सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, जिसकी स्वामी समतभद्रने मीमासा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत समुद्रके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढानेका—आरभ करते समय शास्त्रकारद्वारा रचा गया है । परन्तु वे शास्त्रकार महोदय कौन है, यह कुछ स्पष्ट मालूम नहीं होता । विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी टीकामें शास्त्रकारको सूत्रकार सूचित किया है और उन्हीं 'मुनिपुगव'का वनाया हुआ उक्त गुणस्तोत्र लिखा है परन्तु उनका

नाम नहीं दिया। हो सकता है कि आपका अभिप्राय 'सूत्रकार'से '**उमास्वाति**' महाराजका ही हो, क्योंकि कई स्थानोपर आपने उमास्वातिके वचनोंको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया है परतु केवल सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दोंपरसे ही–जो दोनो एक ही अर्थके वाचक है—उमास्वातिका नाम नहीं निकलता, क्योकि दूसरे भी कितने ही आचार्य सूत्रकार अथवा शास्त्रकार हो गए हैं; समन्तभद्र भी शास्त्रकार थे, और उनके देवागमादि ग्रथ सूत्रग्रथ[1] कहलाते है। इसके सिवाय, यह बात अभी विवादग्रस्त चल रही है कि उक्त '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' नामका स्तुतिपद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण है। कितने ही विद्वान् इसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण मानते है, और बालचंद्र, योगदेव तथा श्रुतसागर नामके पिछले टीकाकारोने भी अपनी अपनी टीकामें ऐसा ही प्रतिपादन किया है। परन्तु दूसरे कितने ही विद्वान् ऐसा नहीं मानते, वे इसे तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' का मगलाचरण स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादन करते है कि यदि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण होता तो सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य इसकी जरूर व्याख्या करते, लेकिन उन्होंने इसकी कोई व्याख्या न करके इसे अपनी टीकाके मंगलाचरणके तौर पर दिया है और इस लिये यह पूज्यपादकृत ही मालूम होता है। सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें, प० कलाप्पा भरमाप्पा निटवे भी, श्रुतसागरके कथनका विरोध करते हुए अपना ऐसा ही मत प्रकट करते है, और साथ ही, एक हेतु यह भी देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना द्वैपायकके[1]

---

१ "देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वित "—विक्रान्तकौरव।

१ श्रुतसागरी टीकाकी एक प्रतिमें 'द्वैयाक' नाम दिया है, और बालचद्र मुनिकी टीकामें 'सिद्धप्प' ऐसा नाम पाया जाता है। देखो, जनवरी सन् १९२१ का जैनहितैषी, पृ० ८०, ८१।

प्रश्नपर हुई है और प्रश्नका उत्तर देते हुए बीचमें मंगलाचरणका करना अप्रस्तुत जान पड़ता है; दूसरे वस्तुनिर्देशको भी मंगल माना गया है जिसका उत्तरद्वारा स्वतः विधान हो जाता है और इस लिये ऐसी परिस्थितिमें पृथक् रूपसे मंगलाचरणका किया जाना कुछ संगत मालूम नहीं होता। भूमिकाके वे वाक्य इस प्रकार है—

"सर्वार्थसिद्धिग्रंथारंभे 'मोक्षमार्गस्यनेतारमिति" श्लोको वर्तते स तु सूत्रकृता भगवदुमास्वातिनैव विरचित इति श्रुतसागराचार्यस्याभिमतमिति तत्प्रणीतश्रुतसागर्याख्यवृत्तितः स्पष्टमवगम्यते। तथापि श्रीमत्पूज्यपादाचार्येणाव्याख्यातत्वादिदं श्लोकनिर्माणं न सूत्रकृतः किंतु सर्वार्थसिद्धिकृत एवेति निर्विवादम्। तथा एतेषां सूत्राणां द्वैपायक प्रश्नोपर्युत्तरत्वेन विरचनं तैरेवाङ्गीक्रियते तथा च उत्तरे वक्तव्ये मध्ये मंगलस्याप्रस्तुतत्वाद्वस्तुनिर्देशस्यापि मंगलत्वेनाङ्गीकृतत्वाच्चोपरितनः सिद्धान्त एव दार्ढ्यमाप्नोतीत्यूह्यं सुधीभिः॥"

प० वंशीधरजी, अष्टसहस्रीके स्वसंपादित संस्करणमें, ग्रंथकर्ताओंका परिचय देते हुए, लिखते है कि समन्तभद्रने गंधहस्तिमहाभाष्यकी रचना करते हुए उसकी आदिमें इस पद्यके द्वारा आप्तका स्तवन किया है और फिर उसकी परीक्षाके लिये 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है। यथा—

"भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वार्थोपरि टीकाग्रन्थं चतुरशीतिसहस्रानुष्टुभ्मात्रं विरचयता। तदादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिनैकेन पद्येनाप्तः स्तुतः। तत्परीक्षणार्थं च ततोग्रे पंचदशाधिकशतपद्यैराप्तमीमांसाग्रन्थोभ्यधायि।"

कुछ विद्वानोंका कहना है कि ‘ राजवार्तिक ’ टीकामें अकलंकदेवने इस पद्यको नहीं दिया—इसमें दिये हुए आप्तके विशेषणोंको चर्चा तक भी नहीं की—और न विद्यानंदने ही अपनी ‘ श्लोकवार्तिक ’ टीकामें इसे उद्धृत किया है, ये ही सर्वार्थसिद्धिके बादकी दो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध है जिनमें यह पद्य नहीं पाया जाता, और इससे यह मालूम होता है कि इन प्राचीन टीकाकारोंने इस पद्यको मूलग्रथ (तत्त्वार्थसूत्र) का अंग नहीं माना। अन्यथा, ऐसे महत्त्वशाली पद्यको छोडकर खण्डरूपमें ग्रथके उपस्थित करनेकी कोई वजह नहीं थी जिस पर ‘ आप्तमीमासा ’ जैसे महान् ग्रथोंकी रचना हुई हो ।

सनातनजैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें भी, जो कि एक प्राचीन गुटके परसे प्रकाशित हुआ है, कोई मगलाचरण नहीं है, और भी बम्बई–बनारस आदिमें प्रकाशित हुए मूल तत्त्वार्थसूत्रके कितने ही सस्करणोंमें वह नहीं पाया जाता, अधिकाश हस्तलिखित प्रतियोंमें भी वह नहीं देखा जाता और कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें वह पद्य ‘ त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं,’ ‘उज्जोवणमुज्जवणं ’ इन दोनो अथवा इनमेंसे किसी एक पद्यके साथ उपलब्ध होता है और इससे यह मालूम नहीं होता कि वह मूल ग्रंथकारका पद्य है बल्कि दूसरे पद्योंकी तरह ग्रथके शुरूमे मगलाचरणके तौरपर सग्रह किया हुआ जान पड़ता है । साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मूल तत्त्वार्थसूत्र प्रचलित है उसमें भी यह अथवा दूसरा कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता ।

ऐसी हालतमें लघुसमन्तभद्रके उक्त कथनका अष्टसहस्री ग्रंथ भी कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता । और यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यानंदने सूत्रकार या शास्त्रकारसे ‘उमास्वाति’का आर

तत्त्वार्थशास्त्रसे उनके 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र'का उल्लेख किया है औ इस लिये उक्त पद्यको तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मंगलाचरण माना है तं इससे अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त कथनोंका सिर्फ इतना ह नतीजा निकलता है कि समन्तभद्रने उमास्वातिके उक्त पद्यको लेक उसपर उसी तरहसे 'आप्तमीमासा' ग्रंथकी रचना की है जिस तरहसे कि विद्यानदने उसपर 'आप्तपरीक्षा' लिखी है—अथव यो कहिये कि जिस प्रकार 'आप्तपरीक्षा'की सृष्टि श्लोकवार्तिव भाष्यको लिखते हुए नहीं की गई और न वह श्लोकवार्तिकक कोई अग है उसी प्रकारकी स्थिति गंधहस्ति महाभाष्यके सम्बंधमें 'आप्त मीमासा' की भी हो सकती है, उसमें अष्टसहस्री या आप्तपरीक्षावे उक्त वचनोंसे कोई बाधा नहीं आती, * और न उनसे यह लाजिमं आता है कि समूचे तत्त्वार्थसूत्रपर महाभाष्यकी रचना करते हुए 'आप्त-मीमासा' की सृष्टि की गई है और इस लिये वह उसीका एक अग है हॉ, यदि किसी तरह पर यह माना जा सके कि 'आप्तपरीक्षा' वे उक्त १२३ वें पद्यमे 'शास्त्रकार'से समन्तभद्रका अभिप्राय है और इस लिये मगलाचरणका वह स्तुति पद्य (स्तोत्र) उन्हींका रचा हुआ है तो 'तत्त्वार्थशास्त्र'का अर्थ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र करते हुए भी उक्त पद्यके '**प्रोत्थान**' शब्द परसे महाभाष्यका आशय निकाला जा सकता है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रका प्रोत्थान—उसे ऊँचा उठाना या बढाना—महाभाष्य जैसे ग्रथोंके द्वारा ही होता है । और 'प्रोत्थान' का आशय

* 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र'के निम्न वाक्यसे भी कोई बाधा नहीं आती, जिसमे साकेतिक रूपसे समन्तभद्रकी भारती (आप्तमीमासा) को 'गृध्रपिच्छाचार्यके कहे हुए प्रकृष्ट मगलके आशयको लिये हुए' बतलाया है—

"गृध्रपिच्छ-भाषित-प्रकृष्ट-मगलार्थिकाम् ।"

यदि ग्रथकी उस ‘उत्थानिका’ से लिया जाय जो कभी कभी ग्रथकी रचनाका सम्बन्धादिक बतलानेके लिये शुरूमें लिखी जाती है, तो उससे भी उक्त आशयमें कोई बाधा नहीं आती, बल्कि ‘भाष्यकार’को ‘शास्त्रकार’ कहा गया है यह और स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि मूल तत्त्वार्थ-सूत्रमें वैसी कोई उत्थानिका नहीं है, वह या तो मगलाचरणके बाद ‘सर्वार्थसिद्धि’ में पाई जाती है और या महाभाष्यमें होगी। सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता भी कथंचित् उस ‘शास्त्रकार’ शब्दके वाच्य हो सकते हैं। रही भाष्यकारको शास्त्रकार कहनेकी बात, सो इसमें कोई विरोध माल्म नहीं होता–तत्त्वार्थशास्त्रका अर्थ होनेसे जब उसके वार्तिक भाष्य या व्याख्यानको भी ‘शास्त्र’ कहा जाता * है तब उन वार्तिक-भाष्यादिके रचयिता स्वय ‘शास्त्रकार’ सिद्ध होते हैं, उसमे कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

और यदि उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रद्वारा तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका प्रोत्थान होनेसे ‘प्रोत्थान’ शब्दका वाच्य वहाँ उक्त तत्त्वार्थसूत्र ही माना जाय तो फिर उससे पहले **‘तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधि’** का वह वाच्य नहीं रहेगा, उसका वाच्य कोई ग्रथ विशेष न होकर सामान्य रूपसे तत्त्वार्थमहोदधि, द्वादशागश्रुत या कोई अग-पूर्व ठहरेगा, और तब अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कथनोंका वही नतीजा निकलेगा जो ऊपर निकाला गया है—गंधहस्ति महाभाष्यकी रचनाका लाजिमी न-तीजा उनसे नहीं निकल सकेगा।

---

* जैसा कि ‘श्लोकवार्तिक’में विद्यानदाचार्यके निम्न वाक्योंसे भी प्रकट है—
“प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात्।
... ...तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्॥”

इसके सिवाय, आप्तमीमांसाके साहित्य अथवा सदर्भपरसे जिस प्रकार उक्त पद्यके अनुसरणकी या उसे अपना विचाराश्रय बनानेकी कोई खास ध्वनि नहीं निकलती उसी प्रकार 'वसुनन्दि-वृत्ति' की प्रस्तावना या उत्थानिकासे भी यह माल्रूम नहीं होता कि आप्तमीमांसा उक्त मंगल पद्य (मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि) को लेकर लिखी गई है, वह इस विषयमे अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे कुछ भिन्न पाई जाती है और उससे यह स्पष्ट माल्रूम होता है कि समन्तभद्र स्वयं सर्वज्ञ भगवानकी स्तुति करनेके लिये बैठे हैं—किसीकी स्तुतिका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये नहीं—उन्होंने अपने मानसप्रत्यक्षद्वारा सर्वज्ञको साक्षात् करके उनसे यह निवेदन किया है कि ' हे भगवन्, माहात्म्यके आधिक्य-कथनको स्तवन कहते है और आपका माहात्म्य अतीन्द्रिय होनेसे मेरे प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस लिये मै किस तरहसे आपकी स्तुति करूँ ?' उत्तरमें भगवान्की ओरसे यह कहे जानेपर कि ' हे वत्स, जिस प्रकार दूसरे विद्वान् देवोंके आगमन और आकाशमे गमनादिक हेतुसे मेरे माहात्म्यको समझकर स्तुति करते है उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते ?' समन्तभद्रने फिर कहा कि ' भगवन्, इस हेतुप्रयोगसे आप मेरे प्रति महान् नहीं ठहरते—मै देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिकके कारण आपको पूज्य नहीं मानता—क्यों कि यह हेतु व्यभिचारी है, ' और यह कह कर उन्होंने

१ अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनाके जो शब्द पीछे फुटनोटमे उद्धृत किये गये है उनसे यह पाया जाता है कि नि श्रेयसशास्त्रकी आदिमे दिये हुए मंगल पद्यमे आप्तका स्तवन निरतिशय गुणोंके द्वारा किया गया है, इसपर मानो आप्त भगवानने समन्तभद्रसे यह पूछा है कि मै देवागमादिविभूतिके कारण महान् हूँ, इस लिये इस प्रकारके गुणातिशयको दिखलाते हुए नि श्रेयस शास्त्रके कर्ता मुनिने मेरी स्तुति क्यो नहीं की ? उत्तरमें समन्तभद्रने आप्तमीमांसाका प्रथम पद्य कहा है ।

आप्तमीमांसाके प्रथम पद्य द्वारा उसके व्यभिचारको दिखलाया है, आगे भी इसी प्रकारके अनेक हेतुप्रयोगों तथा विकल्पोंको उठाकर आपने अपने ग्रंथकी क्रमशः रचना की है और उसके द्वारा सभी आप्तोंकी परीक्षा कर डाली है। वसुनन्दि-वृत्तिकी प्रस्तावनाके वे वाक्य इस प्रकार है—

" . स्वभक्तिसंभारप्रेक्षापूर्वकारित्वलक्षणप्रयोजनवद्गुणस्तवं कर्तुकामः श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः सर्वज्ञं प्रत्यक्षीकृत्यैवमाचष्टे—हे भट्टारक संस्तवो नाम माहात्म्यस्याधिक्यकथनं। त्वदीयं च माहात्म्यमतीन्द्रियं मम प्रत्यक्षागोचरं। अतः कथं मया स्तूयसे ॥ अत आह भगवान् ननु भो वत्स यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तवं कुर्वन्ति तथा त्वं किमिति न कुरुषे ॥ अत आह—अस्माद्धेतोर्न महान् भवान् मां प्रति। व्यभिचारित्वादस्य हेतोः। इति व्यभिचारं दर्शयति—"

इस तरह पर, लघुसमन्तभद्रके उक्त स्पष्ट कथनका प्राचीन साहित्यपरसे कोई समर्थन होता हुआ मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि उन्होंने अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंपरसे ही परम्परा कथनके सहारेसे वह नतीजा निकाला हो, और यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रंथके स्पष्टोल्लेखके आधारपर, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, वे गंधहस्ति महाभाष्यके विषयमें वैसा उल्लेख करने अथवा नतीजा निकालनेके लिये समर्थ हुए हों। दोनों ही हालतोंमें प्राचीन साहित्यपरसे उक्त कथनके समर्थन और यथेष्ट निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत बाकी रहती है, इसके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए।

ये ही सब उल्लेख है जो अभीतक इस ग्रथके विषयमे हमें उपलब्ध हुए है । और प्रत्येक उल्लेख परसे जो बात जितने अशोंमे पाई जाती है उसपर यथाशक्ति ऊपर विचार किया जा चुका है । हमारी रायमें, इन सब उल्लेखोंपरसे इतना जरूर माल्म होता है कि 'गधहस्ति-महाभाष्य' नामका कोई ग्रथ जरूर लिखा गया है, उसे 'सामन्तभद्र-महाभाष्य' भी कहते थे और खालिस 'गधहस्ति' नामसे भी उसका उल्लेखित होना संभव है । परन्तु वह किस ग्रथपर लिखा गया—कर्मप्राभृत[1]के भाष्यसे भिन्न है या अभिन्न—यह अभी सुनिश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता । हॉ, उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र'पर उसके लिखे जानेकी अधिक सभावना जरूर है परन्तु ऐसी हालतमें, वह अष्टशती और राजवार्तिकके कर्त्ता अकलकदेवसे पहले ही नष्ट हो गया जान पडता है । पिछले लेखकोंके ग्रथोमें महाभाष्यके जो कुछ स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख मिलते है वे स्वय महाभाष्यको देखकर किये हुए उल्लेख माल्म नहीं होते—बल्कि परंपरा कथनोंके आधारपर या उन दूसरे प्राचीन ग्रथोके उल्लेखोंपरसे किये हुए जान पडते है जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए । उनमें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिसमें, 'देवागम' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थके पद्योंको छोडकर, महाभाष्यके नामके साथ उसके किसी वाक्यको उद्धृत किया हो । इसके सिवाय, 'देवागम' उक्त महाभाष्यका आदिम मगलाचरण है यह बात इन उल्लेखोंसे नहीं पाई जाती । हॉ, वह उसका एक प्रकरण जरूर हो सकता है, परन्तु उसकी रचना 'गधहस्ति'की रचनाके अवसरपर हुई

---

१ समन्तभद्रका 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर लिखा हुआ भाष्य भी उपलब्ध नहीं है । यदि वह सामने होता तो गधहस्ति महाभाष्यके विशेष निर्णयमे उससे वहुत कुछ सहायता मिल सकती थी ।

या वह पहले ही रचा जा चुका था और बादको महाभाष्यमें शामिल किया गया इसका अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट है और इस कहनेमे कोई आपत्ति माद्धम नहीं होती कि 'देवागम (आप्तमीमांसा)' एक बिलकुल ही स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि महाभाष्यको समंतभद्रकी कृति प्रकट करते हुए भी उसके साथमें कभी कभी देवागमका भी नाम एक पृथक् कृतिके रूपमें देना जरूरी समझा गया है और इस तरह पर 'देवागम' की प्रधानता और स्वतंत्रताको उद्घोषित करनेके साथ साथ यह सूचित किया गया है कि देवागमके परिचयके लिये गंधहस्ति महाभाष्यका नामोल्लेख पर्याप्त नहीं है—उसके नाम परसे ही देवागमका बोध नहीं होता। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'देवागम' गंधहस्ति महाभाष्यका एक प्रकरण है तो 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ भी उसके अनन्तरका एक प्रकरण होना चाहिये; क्योंकि युक्त्यनुशासन-टीकाके प्रथम[1] प्रस्तावनावाक्यद्वारा श्रीविद्यानंद आचार्य ऐसा सूचित करते हैं कि आप्तमीमांसा-द्वारा आप्तकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर यह ग्रंथ रचा गया है, और ग्रंथके प्रथम[2] पद्यमें आये हुए 'अद्य[3]' शब्द

१ टीकाका प्रथम प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्त इति ते पृष्टा इव प्राहुः— ।"

२ युक्त्यनुशासनका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

"कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्व ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥"

३ अद्य अस्मिन्काले परीक्षावसानसमये (—इति विद्यानंदः)

अर्थात्—इस समय—परीक्षाकी समाप्तिके अवसरपर—हम आपको—वीर-वर्द्धमानको—अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं-आपकी स्तुति करना चाहते हैं।

परसे भी यह ध्वनि निकलती है कि उससे पहले किसी दूसरे ग्रन्थ अथवा प्रकरणकी रचना हुई है। ऐसी हालतमें, उस ग्रन्थराजको 'गंधहस्ति' कहना कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता जिसके 'देवागम' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे महामहिमासम्पन्न मौलिक ग्रन्थरत्न भी प्रकरण हों। नहीं माळूम तव, उस महाभाष्यमें ऐसे कितने ग्रंथरत्नोका समावेश होगा। उसका लुप्त हो जाना निःसन्देह जैन-समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

रही महाभाष्यके मंगलाचरणकी वात, इस विपयमें, यद्यपि, अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती, फिर भी **'मोक्षमार्गस्य नेतारं'** नामक पद्यके मंगलाचरण होनेकी संभावना जरूर पाई जाती है और साथ ही इस बातकी भी अधिक संभावना है कि वह समन्तभद्रप्रणीत है। परंतु यह भी हो सकता है—यद्यपि उसकी सभावना कम है—कि उक्त पद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण हो और समन्तभद्रने उसे ही महाभाष्यका आदिम मगलाचरण स्वीकार किया हो। ऐसी हालतमें उन सब आक्षेपोंके योग्य समाधानकी जरूरत रहती है जो इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानने पर किये जाते है और जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया चुका है। हमारी रायमे, इन सब बातोको लेकर और सबका अच्छा निर्णय प्राप्त करनेके लिये, महाभाष्यके सम्बधमें प्राचीन जैनसाहित्यको टटोलनेकी अभी और जरूरत जान पड़ती है, और वह जरूरत और भी बढ जाती है जब हम यह देखते है कि ऊपर जितने भी उल्लेख मिले है वे सब विक्रमकी प्रायः १३ वीं, १४ वीं और १५ वीं शताब्दियोंके उल्लेख[1] है, उनसे पहले

[1] देखो उन उल्लेखोंके वे फुटनोट जिनमे उनके कर्ताओंका समय दिया हुआ है।

हजार वर्षके भीतरका एक भी उल्लेख नहीं है और यह समय इतना तुच्छ नहीं हो सकता जिसकी कुछ पर्वाह न की जाय, बल्कि महाभाष्यके अस्तित्व, प्रचार और उल्लेखकी इस समयमे ही अधिक संभावना पाई जाती है और यही उनके लिये ज्यादा उपयुक्त जान पडता है । अतः पहले उल्लेखोंके साथ पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और सगति ठीक बिठलानेके लिये इस बातकी खास जरूरत है कि १२ वीं शताब्दीसे ३ री शताब्दी तकके प्राचीन जैनसाहित्यको खूब टटोला जाय—उस समयका कोई भी ग्रथ अथवा शिलालेख देखनेसे बाकी न रक्खा जाय,—ऐसा होनेपर इन पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक बैठ सकेगी और तब वे और भी ज्यादा वजनदार हो जायँगे । साथ ही, इस ढूँढ-खोजसे समन्तभद्रके दूसरे भी कुछ ऐसे ग्रंथों तथा जीवनवृत्तान्तोंका पता चलनेकी आशा की जाती है जो इस इतिहासमें निबद्ध नहीं हो सके और जिनके माळूम होनेपर समन्तभद्रके इतिहासका और भी ज्यादा उद्धार होना संभव है । आशा है पुरातत्त्वके प्रेमी और समन्तभद्रके इतिहासका उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् जरूर इस ढूँढखोजके लिये अच्छा यत्न करेंगे और इस तरहपर शीघ्र ही कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंको हल करनेमें समर्थ हो सकेंगे । जो विद्वान् अपने इस विषयके परिश्रम तथा अनुभवसे हमें कोई नई बात सुझाएँगे अथवा इतिहासमें निबद्ध किसी बातपर युक्तिपूर्वक कोई खास प्रकाश डालनेका कष्ट उठाएँगे वे हमारे विशेष धन्यवादके पात्र होंगे और उनकी उस बातको अगले सस्करणमें योग्य स्थान दिये जानेका प्रयत्न किया जायगा ।

इति भद्रम् ।

सरसावा, जि० सहारनपुर
वैशाख शुक्ला २, स० १९८२ } जुगलकिशोर, मुख्तार ।

परिशिष्ट ।

— ० —

इतिहासके ' समय-निर्णय ' नामक प्रकरणमें चर्चित कई विषयोंके सम्बंधमें हमें बादको कुछ नई बातें माळूम हुई हैं, जिन्हे पाठकोकी अनुभववृद्धि और उनके तद्विपयक विचारोंमे सहायता पहुँचानेके लिये यहाँपर दे देना उचित और आवश्यक जान पड़ता है। इसी लिये, इस परिशिष्टकी योजना-द्वारा, नीचे उसका प्रयत्न किया जाता है:—

(१) विबुध श्रीधरके ' श्रुतावतार ' * से माळूम होता है कि कुन्दकुन्दाचार्यने ' षट्खण्डागम ' के प्रथम तीन खण्डो पर कोई टीका नहीं लिखी, उनके नामसे इन्द्रनन्दीने, अपने ' श्रुतावतार'में, १२ हजार श्लोकपरिमाणवाली जिस टीका अथवा ' परिकर्म ' नामक भाष्यका उल्लेख किया है (इतिहास पृ० १६०, १६१, १६३ फु० नो० १८१) वह उनके शिष्य **'कुन्दकीर्ति'** की रचना है। यथा—

"इति सूरिपरंपरया द्विविधसिद्धान्तो व्रजन् मुनीन्द्रकुन्दकुन्दाचार्यसमीपे सिद्धान्तं ज्ञात्वा कुन्दकीर्तिनामा षट्खंडानां मध्ये प्रथमत्रिखंडानां द्वादशसहस्रप्रमितं परिकर्म नाम शास्त्रं करिष्यति ।"

परन्तु इस उल्लेखसे इतना जरूर पाया जाता है कि 'षट्खंडागम' की रचना कुन्दकुन्दसे पहले हो गई थी। वे आचार्यपरम्परासे दोनों

---

* यह 'श्रुतावतार' विबुध श्रीधरके 'पचाधिकार' नामक शास्त्रका एक प्रकरण (चौथा परिच्छेद) है और माणिकचद्र-ग्रंथमालाके २१ वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धान्तोंके—कर्मप्राभृत नामक षट्खंडागम और कषायप्राभृतके—ज्ञाता हुए थे और इसलिये उन सिद्धान्तोकी रचनामें कारणीभूत ऐसे धरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि तथा गुणधरादि[1] आचार्योंको उनसे पहलेके विद्वान् समझना चाहिये।

(२) विबुध श्रीधरने तुम्बुलूराचार्यको षट्खण्डागमादि सिद्धान्त-ग्रंथोंका टीकाकार नहीं माना। उन्होंने, अपने श्रुतावतारमें 'कुन्दकीर्ति' के वाद 'श्यामकुण्ड'को, श्यामकुण्डके वाद 'समन्तभद्र'को और समन्त-भद्रके वाद 'वप्पदेव'को टीकाकार प्रतिपादन किया है। यथा—

पष्ठखंडेन विना तेषां खंडानां सकलभाषाभिः पद्धतिनामग्रंथं द्वादशसहस्रप्रमितं श्यामकुण्डनामा भट्टारकः करिष्यति तथा च पष्ठखण्डस्य सप्तसहस्रप्रमितां पंजिकां च। द्विविध सिद्धान्तस्य व्रजतः समुद्धरणे समन्तभद्रनामा मुनीन्द्रो भविष्यति सोपि पुनः पट्खण्डपंचखण्डानां संस्कृतभाषयाष्टषष्ठिसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति द्वितीयसिद्धान्तटीकां शास्त्रे लिखापयन् सुधर्म्मनामा मुनिर्वारयिष्यति द्रव्यादिशुद्धेरभावात्। इति द्विविधं सिद्धान्तं व्रजंतं शुभनन्दिभट्टारकपार्श्वे श्रुत्वा ज्ञात्वा च वप्पदेवनामा मुनीन्द्रः प्राकृतभाषया अष्टसहस्रप्रमितां टीकां करिष्यति"।

इतिहासके पृष्ट १९२ पर दूसरे विद्वानोंके कथनानुसार तुम्बुलूरा-चार्य और श्रीवर्द्धदेवको एक व्यक्ति मानकर जो यह प्रतिपादन किया

---

१ 'आदि' शब्दसे 'नागहस्ति' आदि जिन चार आचार्योंका यहाँ अभिप्राय है उनमेंसे 'आर्यमक्षु'का नाम इस 'श्रुतावतार'में नहीं दिया, तीसरे 'यतिवृषभ' का नाम 'यतिनायक' और चौथे उच्चारणाचार्यका नाम 'समुद्धरण' मुनि वतलाया है।

गया था कि इन्द्रनन्दिका तव अपने 'श्रुतावतार'में 'समन्तभद्रको तुम्बुलूराचार्यके बादका विद्वान् बतलाना ठीक नहीं है' उसको इस उल्लेखसे कितना ही पोषण मिलता है और इन्द्रनन्दिके उक्त उल्लेख (इ० पृ० १९०) की स्थिति बहुत कुछ सदिग्ध हो जाती है। परंतु तुम्बुलूराचार्यको श्रीवर्द्धदेवसे पृथक् व्यक्ति मान लेनेपर, जिसके मान लेनेमे अभी तक कोई बाधा माळूम नहीं होती, इन्द्रनन्दीका वह उल्लेख एक मतविशेषके तौरपर स्थिर रहता है, और इस लिये इस बातके खोज किये जानेकी खास जरूरत है कि वास्तवमें तुम्बुलूराचार्य और श्रीवर्द्धदेव दोनों एक व्यक्ति थे या अलग अलग ।

विबुध श्रीधरने समन्तभद्रकी सिद्धान्तटीकाको इन्द्रनन्दीके कथन (४८ हजार) से भिन्न, ६८ हजार श्लोकपरिमाण बतलाया है, यह ऊपरके उल्लेखसे—'अष्टषष्ठिसहस्त्रप्रमिता' पदसे—बिलकुल स्पष्ट ही है, इस विषयमें कुछ कहनेकी जरूरत नहीं ।

(३) विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' से एक खास बात यह भी माळूम होती है कि भूतबलि नामा मुनि पहले '**नरवाहन**' नामके राजा और पुष्पदन्त मुनि उनकी वसुधरा नगरीके '**सुबुद्धि**' नामक सेठ थे। मगधदेशके स्वामी अपने मित्रको मुनि हुआ देखकर नरवाहनने सेठ सुबुद्धिसहित जिन दीक्षा ली थी । ये ही दोनों धरसेनाचार्यके पास शास्त्रकी व्याख्या सुननेके लिये गये थे, और उसे सुन लेनेके बादसे ही इनकी 'भूतबलि' और 'पुष्पदन्त' नामसे प्रसिद्धि[1] हुई । भूतबलिने 'षट्खण्डागम' की रचना की और पुष्पदन्त मुनि 'विंशति प्ररूपणा'के कर्ता हुए । यथा—

१ इस प्रसिद्धिसे पहले इन दोनों आचार्योंके दीक्षासमयके क्या नाम थे, इस बातकी अभी तक कहींसे भी कोई उपलब्धि नहीं हुई ।

' अत्र भरतक्षेत्रे वांमिदेशे वसुंधरा नगरी भविष्यति। तत्र नरवाहनो राजा, तस्य सुरूपा राज्ञी......। निजमित्रं मगधस्वामिनं मुनीन्द्रं दृष्ट्वा वैराग्यभावनाभावितो नरवाहनोपि श्रेष्ठिना सुबुद्धिनाम्ना सह जैनीं दीक्षां धरिष्यति। ...धरसेनभट्टारकः कतिपयदिनैर्नरवाहनसुबुद्धिनाम्नोः पठनाकर्णनचिंतनक्रियां कुर्वतोराषाढश्वेतैकादशीदिने शास्त्रं परिसमाप्तिं यास्यति। एकस्य भूता रात्रौ बलिविधिं करिष्यंति, अन्यस्य दन्तचतुष्क सुन्दरं। भूतबलिप्रभावाद्भूतबलिनामा नरवाहनो मुनिर्भविष्यति समदन्तचतुष्टयप्रभावात् सद्बुद्धिः पुष्पदन्त नामा मुनिर्भविष्यति। यथा षट्खण्डागमरचनाकारको भूतबलिभट्टारकस्तथा पुष्पदन्तोपि विंशतिप्ररूपणानां कर्ता।"

इस सब कथनपर कोई विशेष विचार न करके हम यहाँपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहते हैं कि, यद्यपि, भारतीय प्राचीन इतिहासके प्रधान ग्रथों–' अर्ली हिस्टरी ऑफ इडिया ' आदिमें ' नरवाहन ' नामके राजाका कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके दो प्राचीन ग्रथों–' त्रिलोकप्रज्ञप्ति ' (तिलोय–पण्णत्ति) और 'हरिवंशपुराण' (जिनसेनकृत) में उसका उल्लेख जरूर पाया जाता है। साथ ही भापा हरिवंशपुराणकी श्रीनगेन्द्रनाथ वसु-लिखित प्रस्तावनासे यह भी मालूम होता है कि श्वेताम्बर सप्रदायके ' तित्थुगुलिय–पयण्ण' और ' तीर्थोद्धारप्रकीर्ण' नामक ग्रथोंमें भी ' नरवाहन नामके राजाका

१ देखो 'गाधी हरिभाई देवकरण जैनग्रथमाला ' में प्रकाशित भाषा हरिवंशपुराणका सन् १९१६ का सस्करण।

उल्लेख मिलता है और उसे 'नरसेन' भी लिखा है। दोनों सप्रदायके ग्रंथोंमें नरवाहनका राज्यकाल ४० वर्षका बतलाया है परन्तु उसके आरंभ तथा समाप्तिके समयोंमें परस्पर कुछ मतभेद है। दिगम्बर ग्रंथोंके अनुसार नरवाहनका राज्यकाल वीरनिर्वाणसे ४४५ (६०+१५५+४०+३० +६०+१००) वर्षके बाद प्रारंभ होकर वीर नि० सं० ४८५ पर समाप्त होता है, और श्वेताम्बर ग्रथोंके कथनसे (नगेन्द्रनाथ वसुके उल्लेखानुसार) वह वीरनिर्वाणसे ४१३ (६०+१५५+१०८+३०+ ६०) वर्षके बाद प्रारभ और वीर नि० स० ४५३ पर समाप्त होता है। इस तरह पर दोनोंमें ३२ वर्षका कुल अन्तर है। परन्तु इस अन्तरको रहने दीजिये और यह देखिये कि, यदि सचमुच ही इसी राजा नरवाहनने भूतबलि मुनि होकर 'षट्खण्डागम' नामक सिद्धान्त-ग्रंथकी रचना की है और उसका यह समय (दोनोंमेंसे कोई एक) ठीक है तो हमें कहना होगा कि उक्त सिद्धान्त ग्रथकी रचना उस वक्त हुई है जब कि एकादशागश्रुतके—ग्यारह अगोंके—पाठी महामुनि मौजूद थे* और जिनकी उपस्थितिमें 'कर्मप्राभृत'श्रुतके व्युच्छेदकी कोई आशंका नहीं थी। ऐसी हालतमें, उक्त आशंकाको लेकर, 'पट्खण्डागम' श्रुतके अवतारकी जो कथा इन्द्रनन्दी आचार्यने अपने 'श्रुतावतार'में लिखी है वह बहुत कुछ कल्पित ठहरती है। उनके कथनानुसार भूतबलि आचार्य वीरनिर्वाण स० ६८३ से भी कितने ही वर्ष वाद हुए हैं और इन दोनों समयोंमें प्राय· २०० वर्षका भारी अन्तर है। अतः विबुध श्रीधरके उक्त कथनकी खास तौरपर जॉच होनेकी जरूरत है और विद्वानोंको इस नरवा-

---

* इन एकादशागपाठी महामुनियोंका अस्तित्व, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसार, वीरनिर्वाणसे ५६५ वर्षपर्य्यंत रहा है।

हन राजाके अस्तित्वादि विषयक विशेष बातोंका पता चलाना चाहिये । विबुधश्रीधरके इस श्रुतावतारमें और भी कई बातें ऐसी हैं जो इन्द्रनन्दीके श्रुतावतारसे भिन्न है ।

यहाँपर हम इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझते है कि, 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' पर लिखे हुए अपने लेखमें[1], श्रीयुत प० नाथूरामजी प्रेमीने नरवाहनको **'नहपान'** राजा सूचित किया है । परतु उनका यह सूचित करना किस आधारपर अवलम्बित है उसे जाननेका प्रयत्न करनेपर भी हम अभी तक कुछ माल्रम नहीं कर सके और न स्वय ही दोनोंकी एकताका हमें कोई यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध हो सका है। अस्तु। इसमें सदेह नहीं कि नहपान एक इतिहासप्रसिद्ध क्षत्रप राजा हो गया है और उसके बहुतसे सिक्के भी पाये जाते हैं । विन्सेंट स्मिथ साहबने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी ऑफ इडिया'में नहपानको करीब करीब ईसवी सन् ६० और ९० के मध्यवर्ती समयका राजा बतलाया है और प० विश्वेश्वरनाथजी, 'भारतके प्राचीन राजवश' में उसे शककी प्रथम शताब्दीके पूर्वार्धका राजा प्रकट करते है । नहपानके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) का भी एक लेख शक स० ४२ का मिला है और उससे नहपानके समयपर अच्छा प्रकाश पड़ता है । हो सकता है कि नहपान और नरवाहन दोनों एक ही व्यक्ति हों परन्तु ऐसा माने जानेपर त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें नरवाहनका जो समय दिया है उसे या तो कुछ गलत कहना होगा और या यह स्वीकार करना पडेगा कि 'त्रिलोक-

---

१ देखो जैनहितैषी, भाग १३, अक १२, पृष्ठ ५३४ ।

२ देखो तृतीय सस्करणका पृ० २०९ ।

प्रज्ञप्ति ' मे शकराजाका वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद होनेका जो प्रधान उल्लेख मिलता है वह प्रायः ठीक है और उसे सभवतः शक राजाके राज्यकालकी समाप्तिका समय समझना चाहिये । अस्तु, इन सब बातोकी जॉच पड़ताल और यथार्थ निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत है, जिसकी ओर विद्वानोंका प्रयत्न होना चाहिये ।

(४) डा० हर्मन जैकोबीने अपने हालके एक लेखमें, * लिखा है कि ' **सिद्धसेन दिवाकर** ' ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे अथवा उनका यही समय होना चाहिये—क्योकि वे बौद्धतत्त्ववेत्ता[1] ' **धर्मकीर्ति** ' के न्यायशास्त्रसे परिचित थे:—

" The first Svetambara author of Sanskrit works which have come down to us was Siddhasen Divakara who must be assigned to the 7th century A D since he was acquainted with the logics of the Buddhist philosopher Dharmakirti."

डाक्टरसाहबने, यद्यपि,अपने प्रकृत कथनका कोई स्पष्टीकरण नहीं किया परन्तु उनके इस हेतुप्रयोगसे इतना जरूर माळ्म होता है कि उन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके ' न्यायावतार ' ग्रंथकी खास तौरसे जॉच की है और धर्मकीर्तिके ग्रंथोंके साथ उसके साहित्यकी भीतरी जॉच परसे ही वे इस नतीजे को पहुँचे है । यदि सचमुच ही उनका यह नतीजा

---

* यह लेख भा० दि० जैन परिषदके पाक्षिकपत्र ' वीर'के गत ' महावीर जयन्ती अक ' (नं० ११–१२) में प्रकाशित हुआ है ।

१ बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ईसाकी ७ वीं शताब्दीके विद्वान् थे, यह बात पहले (पृ० १२३) जाहिर की जा चुकी है ।

सही है × तो इस कहनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि सिद्ध-सेन दिवाकरको, विक्रमादित्यकी सभाके नव रत्नोंमेंसे 'क्षपणक' नामके विद्वान् मानकर और वराहमिहिरके समकालीन ठहराकर, जो ईसाकी छठी और पॉचवीं शताब्दीके विद्वान् बतलाया गया है, अथवा

× धर्मकीर्तिके 'न्यायविन्दु' आदि ग्रंथोंके सामने मौजूद न होनेसे हम इस विषयकी कोई जॉच नहीं कर सके। हो सकता है कि 'न्यायावतार'में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंके जो लक्षण दिये गये हैं वे धर्मकीर्तिके लक्षणोंको भी लक्ष्य करके लिखे गये हों। '**प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं**' यह 'प्रत्यक्ष' का लक्षण धर्मकीर्तिका प्रसिद्ध है। न्यायावतारके चौथे पद्यमें प्रत्यक्षका लक्षण, अकलङ्कदेवकी तरह '**प्रत्यक्ष विशदं ज्ञानं**' न देकर, जो '**अपरोक्ष-तयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्ष**' दिया है, और अगले पद्यमें, अनु-मानका लक्षण देते हुए, '**तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात्समक्षवत्**' वाक्यके द्वारा उसे (प्रत्यक्षको) 'अभ्रान्त' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे ऐसी ध्वनि जरूर निकलती है अथवा इस बातकी सभावना पाई जाती है कि सिद्धसेनके सामने—उनके लक्ष्यमें—धर्मकीर्तिका उक्त लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें, '**ग्राहकं**' पदके प्रयोगद्वारा प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर, धर्मकीर्तिके '**कल्पनापोढं**' विशेषणका निरसन अथवा वेधन किया है और, साथ ही, उनके '**अभ्रान्त**' विशेषणको प्रकारान्तरसे स्वीकार किया है। न्यायावतारके टीकाकार भी 'ग्राहक' पदके द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति) के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

"ग्राहकमिति च निर्णायक द्रष्टव्य, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन यत् ताथागतै प्रत्यपादि 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तमिति' तदपास्त भवति, तस्य युक्तिरिक्तत्वात्।"

इसी तरहपर '**त्रिरूपाल्लिंगतो लिंगिज्ञानमनुमान**' यह धर्मकीर्तिके अनुमानका लक्षण है। इसमें 'त्रिरूपात्' पदके द्वारा लिंगको त्रिरूपात्मक बतलाकर अनुमानके साधारण लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। हो सकता है कि इस पर लक्ष्य रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके '**साध्याविना-**

विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् कहा जाता है वह सब ठीक नहीं है। साथ ही यह भी कहना होगा कि वराहमिहिर अथवा कालिदासके समकालीन 'क्षपणक' नामके यदि कोई विद्वान् हुए है तो वे इन सिद्ध-सेन दिवाकरसे भिन्न दूसरे ही विद्वान् हुए हैं। और इसमे तो तब, कोई सदेह ही नहीं हो सकता कि ईसाकी पॉचवीं शताब्दीके विद्वान् श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें, जिन 'सिद्धसेन'का उल्लेख किया है वे अवश्य ही दूसरे सिद्धसेन थे—

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥ ५–१–७ ॥

आश्चर्य नहीं जो ये दूसरे सिद्धसेन हों जिनका दिगम्बर ग्रथोंमें उल्लेख पाया जाता है और जिनका कुछ परिचय पृष्ठ १३८–१३९ पर दिया जा चुका है—दिगम्बर ग्रथोंमें सिद्धसेनका 'सिद्धसेन दिवाकर' नामसे उल्लेख भी नहीं मिलता;—ऐसी हालतमें इस वातकी भी खोज लगानेकी खास जरूरत होगी कि सिद्धसेनके नामसे जितने ग्रंथ इस समय उपलब्ध है उनमेंसे कौन ग्रंथ किस सिद्धसेनका बनाया हुआ है। आशा है डाक्टर महोदय अपने हेतुको स्पष्ट करनेकी कृपा करेंगे और दूसरे विद्वान् भी इस जरूरी विपयके अनुसन्धानकी ओर अपना ध्यान देंगे।

भुनोर्लिंगात्साध्यनिश्चायकमनुमानं' इस लक्षणका विधान किया हो और इसमे लिंगका 'साध्याविनाभावी' ऐसा एक रूप देकर धर्मकीर्तिके त्रिरूपका कदर्थन करना ही उन्हें इष्ट रहा हो। कुछ भी हो, इस विपयमे अच्छी जॉचके विना अभी हम निश्चितरूपसे कुछ कहना नहीं चाहते।



श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामि-विरचितो

रत्नकरण्डकश्रावकाचारः ।

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यनिर्मितटीकालंकृतः ।



समन्तभद्रं निखिलात्मबोधन
जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।
निबन्धनं रत्नकरण्डके[1] परं
करोमि भव्य[2]प्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नाना रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नाना पालनोपायभूत रत्नकरण्डकाख्य शास्त्रं कर्तुकामो

१ रत्नकरण्डक ग पुस्तके । २ भक्त्या ख पुस्तके ।

निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष नमस्कुर्वन्नाह;—

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥

'नमो' नमस्कारोऽस्तु । कस्मै ? 'श्रीवर्धमानाय' आन्तिमतीर्थङ्कराय तीर्थकरसमुदायाय वा । कथ ? अव–समन्तादृद्ध परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्धमानः। 'अवाप्योरल्लोपः' इत्यवशब्दाकारलोपः। श्रिया बहिरंगयाऽन्तरंगया च समवशरणानन्तचतुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्धमानः श्रीवर्धमान इति व्युत्पत्तेः, तस्मै कथभूताय ? 'निर्धूतकलिलात्मने' निर्धूत स्फोटित कलिल ज्ञानावरणादिरूपं पापमात्मन आत्मना वा भव्यजीवाना येनासौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै । यस्य विद्या केवलज्ञानलक्षणा कि करोति ? ' दर्पणायते ' दर्पण इवात्मानमाचरति । केषा ? ' त्रिलोकाना ' त्रिभुवनाना । कथंभूताना ? ' सालोकाना ' अलोकाकाशसहिताना । अयमर्थः—यथा दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखादेः प्रकाशकस्तथा सालोकत्रिलोकाना तथाविधाना तद्विद्या प्रकाशिकेति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवतः सर्वज्ञतोपायः[1], उत्तरार्धेन च सर्वज्ञतोक्ता ॥ १ ॥

अथ तन्नमस्कारकरणानन्तरं किं कर्तुं लग्नो भवानित्याह,—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

' देशयामि ' कथयामि[2]। कं ? 'धर्मं'। कथभूत ? 'समीचीन' अबाधित तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारक । कथ तं तथा निश्चितवन्तो भवन्त इत्याह ' कर्मनिबर्हण ' यतो धर्मः ससारदुःखसम्पादककर्मणा

१ उपायकर्म ग । २ प्रतिपादयामि ख ।

निर्बर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्टः । अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः ससारेत्याद्याह संसारे चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानसादीनि तेभ्यः 'सत्वान्' प्राणिन उद्धृत्य 'यो धरति' स्थापयति । क्व ? 'उत्तमे सुखे' स्वर्गापवर्गादिप्रभवे सुखे स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अथैवंविधधर्मस्वरूपतां कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह;-

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षण । सन्ति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि च । 'धर्मं' उक्तस्वरूप। 'विदुः'वदन्ति प्रतिपादयन्ते। के ते ? 'धर्मेश्वरा' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य ईश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाथा । कुतस्तान्येव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि । येषा सद्दृष्ट्यादीना सम्बन्धीनि यदीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकूलानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते । का ? 'भवपद्धतिः' संसारमार्गः। अयमर्थः—यतः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि ससारमार्गभूतानि । अत. सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गापवर्गसुखसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ॥ ३ ॥

तत्र सम्यग्दर्शनस्वरूपं व्याख्यातुमाह,-

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

सम्यग्दर्शन भवति । किं ? 'श्रद्धान' रुचिः । केषा ? 'आप्तागमतपोभृता' वक्ष्यमाणस्वरूपाणा । न चैव षड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवपदार्थाना श्रद्धानमनगृहीतमित्याशङ्कनीय आगमश्रद्धानादेव तच्छ्रद्धानसग्रहप्रसिद्धेः ।

१ प्रस्तौ प्रनिद्धान्यत कारणात् ख । २ आप्तागमश्रद्धानादेव ख ।

अबाधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचन ह्यागमः । तच्छ्रद्धाने तेषा श्रद्धान सिद्ध-मेव । किं विशिष्टाना तेपा ? 'परमार्थाना' परमार्थभूताना न पुनर्बौद्धमत इव कल्पिताना। कथंभूतं श्रद्धानं ? 'अस्मयं' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञान-दर्पाद्यष्टप्रकारः स्मयो गर्वो यस्य तत् [१]। पुनरपि किंविशिष्ट ? [२] 'त्रिमूढापोढं' त्रिभिर्मूढैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरपोढं रहितं यत् । 'अष्टाग' अष्टौ वक्ष्यमाणानि निःशंकित्वादीन्यगानि स्वरूपाणि यस्य ॥ ४ ॥

तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह;–

आप्तेनोत्सन्न[३]दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

'आप्तेन' भवितव्यं, 'नियोगेन' निश्चयेन नियमेन वा । किंविशिष्टेन ? 'उत्सन्नदोपेण' नष्टदोषेण । तथा 'सर्वज्ञेन' सर्वत्र विपयेऽशेपविशेपतः परिस्फुटपरिज्ञानवता नियोगेन भावितव्यं। तथा 'आगमेशिना' भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन [४] भवितव्यं । कुत एतदित्याह–'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' 'हि' यस्मात् अन्यथा उक्तविपरी-तप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह,—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेपमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥ ६ ॥

क्षुच्च बुभुक्षा । पिपासा च तृपा । जरा च वृद्धत्वं । आतङ्कश्च व्याधिः । जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिषूत्पत्तिः । अन्तकश्च मृत्युः । भयं चेहपरलोकात्राणागुप्तिमरणवेदनाऽऽकस्मिकलक्षण । स्मयश्च जातिकुला-

---

१ न विद्यते स्मया वक्ष्यमाणा यत्र इत्यादि पाठ ख-पुस्तके । २ कथंभूत ख । ३ 'च्छि' पाठान्तर । ४ नियोगेन, ख, ग।

दिदर्पः । रागद्वेषमोहाः प्रसिद्धाः । चशब्दाच्चिन्तारतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा गृह्यन्ते । एतेऽष्टादशदोषा यस्य न सन्ति स आप्तः 'प्रकीर्त्यते' प्रतिपाद्यते। ननु चाप्तस्य भवेत् क्षुत्, क्षुदभावे आहारादौ प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्नस्यात् । अस्ति चासौ, तस्मादाहारसिद्धिः । तथा हि । भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत्। जैनेनोच्यते—अत्र किमाहारमात्र साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः । देवाना सर्वदा कवलाहाराभावेऽप्यस्याः सभवात्। अथ मानसाहारास्तेषा तत्रस्थितिस्तर्हि केवलिना कर्मनोकर्माहारात् सास्तु । अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिवत्सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्वदेव तद्देहे सर्वदा निःस्वेदत्वाद्यभावःस्यात् । अस्मदादावनुपलब्धस्यापि तदतिशयस्य तत्र सभवे भुक्त्यभावलक्षणोऽप्यतिशयःकिं न स्यात् । किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्येन्द्रियजनितत्वप्रसग. (स्यात्) तथा हि-भगवतो ज्ञानमिन्द्रियज ज्ञानत्वात् अस्मदादिज्ञानवत् । अतो भगवत केवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानासभवात् सर्वज्ञायाय दत्तो जलाञ्जलिः । ज्ञानत्वाविशेषेऽपि तज्ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाविशेषेऽपि तद्देहस्थितेरकवलाहारपूर्वकत्व किं न स्यात् । वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तेर्भोजनादौ प्रवृत्तिरित्युक्तिरनुपपन्ना

मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने सामर्थ्यात्। भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयकर्मकार्यत्वात् कथं प्रक्षीणमोहे भगवति स्यात्? अन्यथा रिरंसाया अपि तत्र प्रसंगात् कमनीयकामिन्यादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याविशेषाद्वीतरागता न स्यात्। विपक्षभावनावशाद्रागादीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासंभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि तत्र किं न स्यात् तद्भावनातो भोजनादावपि हान्यतिशयदर्शनाविशेषात्। तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेकवारान् भुक्ते, कदाचित् विपक्षभावनावशात् स एव पुनरेकवारं भुक्ते। कश्चित् पुनरेकदिनाद्यन्तरितभोजनः, अन्यः पुनः पक्षमाससंवत्सराद्यन्तरितभोजन इति। किं च—बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनरसास्वादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात् केवलज्ञानाभावः स्यात्। केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन? दूरस्थस्यापि त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात्। कथं चास्य केवलज्ञानसंभवो भुंजानस्य श्रेणीतः पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात्। अप्रमत्तो[1] हि साधुराहारकथामात्रेणापि प्रमत्तो भवति नार्हन्भुंजानोऽपीति महच्चित्रं। अस्तु तावज्ज्ञानसंभवः तथाप्यसौ केवलज्ञानेन पिशिताद्यशुद्धद्रव्याणि पश्यन् कथं भुंजीत अन्तरायप्रसंगात्। गृहस्था अप्यल्पसत्वास्तानि[2] पश्यन्तोऽन्तरायं कुर्वन्ति किं पुनर्भगवाननन्तवीर्यस्तन्न कुर्यात्। तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि हीनसत्त्वप्रसंगात्[3]। क्षुत्पीडासंभवे चास्य कथमनन्तसौख्यं स्यात् यतोऽनन्तचतुष्टयस्वामितास्य। न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानवत्। न च बुभुक्षा पीडैव न भवतीत्यभिधातव्यं "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना" इत्यभिधानात्। तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्॥ ६॥

अथोक्तदोषैर्विवर्जितस्याप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह,—

१ अप्रमत्तोऽपि ख। २ सत्त्वानि ख ग। ३ हीनत्व ख।

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥ ७ ॥

परमे इन्द्रादीना वन्द्ये पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' । परं निरावरणं परमातिशयप्राप्त ज्योतिर्ज्ञानं यस्यासौ । 'विरागो' विगतो रागो भावकर्म यस्य । 'विमलो' विनष्टोमलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्मप्रकृतिप्रपंचो यस्य । 'कृती' निःशेषहेयोपादेयतत्त्वे विवेकसम्पन्नः । 'सर्वज्ञो' यथावन्निखिलार्थसाक्षात्कारी । ' अनादिमध्यान्तः ' उक्तस्वरूपाप्तप्रवाहापेक्षया आदिमध्यान्तशून्य· । 'सार्वः' इहपरलोकोपकारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वेभ्यो हितः । ' शास्ता ' पूर्वापरविरोधादिदोषपरिहारेणाखिलार्थाना यथावत्स्वरूपोपदेशक· । एतैः शब्दैरुक्तस्वरूप आप्त 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यते ॥७॥

सम्यग्दर्शनविषयभूताप्तस्वरूपमभिधायेदानीं तद्विषयभूतागमस्वरूपमभिधातुमाह,–

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ॥ ८ ॥

'शास्ता' आप्त । 'शास्ति' शिक्षयति । कान् ? 'सत·' अविपर्यस्तादित्वेन समीचीनान् भव्यान् । किं शास्ति ? 'हित' स्वर्गादितत्साधनं च सम्यग्दर्शनादिक । किमात्मन. किंचित् फलमभिलषन्नसौ शास्तीत्याह—'अनात्मार्थं' न विद्यते आत्मनोऽर्थः प्रयोजन यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारार्थमेवासौ तान् शास्ति । " परोपकाराय सता हि चेष्टितं " इत्यभिधानात् । स तथा शास्तीत्येतत् कुतोवगतामित्याह—'विना रागैः' यतो लाभपूजाख्यात्यभिलाषलक्षणपरै रागैर्विना शास्ति ततो नात्मार्थं शास्तीत्यवसीयते । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमाह—ध्वनन्नित्यादि । शिल्पिकरस्पर्शाद्वादककराभिघातान्मुरजो मर्दलो ध्वनन् किमा-

त्मार्थं किंचिदपेक्षते नैवापेक्षते । अयमर्थः—यथा मुरजः परोपकारार्थमेव विचित्रान् शब्दान् करोति तथा सर्वज्ञः शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

कीदृशं तच्छास्त्रं यत्तेन प्रणीतमित्याह,—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्[1] ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥

'आप्तोपज्ञ' सर्वज्ञस्य प्रथमोक्ति । अनुल्लंघ्य यस्मात्तदाप्तोपज्ञं तस्मादिन्द्रादीनामनुल्लंघ्यमादेय । कस्मात् ? तदुपज्ञत्वेन तेषामनुल्लंघ्य यतः । 'अदृष्टेष्टविरोधक'—दृष्टं प्रत्यक्ष, इष्टमनुमानादि, न विद्यते दृष्टेष्टाभ्या विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—'तत्त्वोपदेशकृत्' यतस्तस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथावस्थितस्वरूपस्य वा उपदेशकृत् यथावत्प्रतिदेशक[3] ततो दृष्टेष्टाविरोधक । एवविधमपि कस्मादवगत ? यतः 'सार्व' सर्वेभ्यो हित सार्वमुच्यते तत्कथ यथावत्तत्स्वरूपप्ररूपणमन्तरेण घटेत । एतदप्यस्य कुतो निश्चितमित्याह—'कापथघट्टन' यतः कापथस्य कुत्सितमार्गस्य मिथ्यादर्शनादेर्घट्टन निराकारक[4] ' सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्र ततस्तत्सार्वमिति ॥ ९ ॥

अथेदानी श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूपं प्ररूपयन्नाह,—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी[5] स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु स्रग्वनितादिष्वाशा आकाक्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकाक्षारहितः । 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापारः । 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित । 'ज्ञानध्यानतपोरत्नः' ज्ञानध्यान-

१ सिद्धसेन—दिवाकरस्य न्यायावतारेपि नवम एवायं श्लोक । २ तस्मादितरवादिना ख । ३ प्रतिपादकं ख । ४ राकरणकारण ख । ५ 'ज्ञानध्यानतपोरक्त' इत्यपि प्रसिद्ध ।

तपांस्येव रत्नानि यस्य एतद्‌गुणविशिष्टो यः स तपस्वी गुरुः 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

इदानीमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य निःशंकितत्वगुणस्वरूपं प्ररूपयन्नाह,--

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ११ ॥

'रुचिः' सम्यग्दर्शन। 'असशया' निःशकितत्वधर्मोपेता। किंविशिष्टा सती ? 'अकम्पा' निश्चला। किंवत् ? 'आयसाम्भोवत्' अयसि भवमायस तच्च तदम्भश्च पानीय तदिव तद्वत् खङ्गादिगतपानीयवदित्यर्थः। क्व साकम्पेत्याह—'सन्मार्गे' ससारसमुद्रोत्तरणार्थं सद्भिर्मृग्यते अन्वेष्यत इति सन्मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन्। केनोल्लेखेनेत्याह- 'इदमेवेत्यादि' इदमेवाप्तागमतपस्विलक्षणं तत्त्व। 'ईदृशमेव' उक्त प्रकारेणैव लक्षणेन लक्षित। 'नान्यत्' एतस्माद्भिन्न न। 'न चान्यथा' उक्ततल्लक्षणादन्यथा परपरिकल्पितलक्षणेन लक्षित, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुल्लेखेन ॥ ११ ॥

इदानीं निष्कांक्षितत्वगुणं सम्यग्दर्शने दर्शयन्नाह,—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ १२ ॥

'अनाकाक्षणा स्मृता' निष्काक्षितत्व निश्चित। कासौ ? 'श्रद्धा'। कथभूता ? 'अनास्था' न विद्यते आस्था शाश्वतबुद्धिर्यस्या। न आस्था अनास्था। तस्या तया वा श्रद्धा अनास्थाश्रद्धा सा चाप्यनाकाक्षणेति स्मृता। क्व अनास्थाऽरुचि ? 'सुखे' वैषयिके। कथभूते ? 'कर्मपरवशे' कर्मायत्ते। तथा 'सान्ते' अन्तेन विनाशेन सह वर्तमाने। तथा 'दुःखैरन्तरितोदये' दुःखैर्मानसशारीरैरन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य। तथा 'पापबीजे' पापोत्पत्तिकारणे ॥ १२ ॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सागुणं सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह;—

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥ १३ ॥

'निर्विचिकित्सता मता' अभ्युपगता। कासौ? 'निर्जुगुप्सा' विचिकित्साभावः। क्व? काये। किंविशिष्टे? 'स्वभावतोऽशुचौ' स्वरूपेणापवित्रिते। इत्थंभूतेऽपि काये 'रत्नत्रयपवित्रिते' रत्नत्रयेण पवित्रिते पूज्यता नीते। कुतस्तथाभूते निर्जुगुप्सा भवतीत्याह—'गुण-प्रीतिः' यतो गुणेन रत्नत्रयाधारभूतमुक्तिसाधकलक्षणेन प्रीतिर्मनुष्यश-रीरमेवेदं मोक्षसाधकं नान्यद्देवादिशरीरमित्यनुरागः। ततस्तत्र निर्जुगु-प्सेति ॥ १३ ॥

अधुना सद्दर्शनस्यामूढदृष्टित्वगुणं प्रकाशयन्नाह;—

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्टं सम्यग्दर्शन। का? 'असम्मतिः' न विद्यते मनसा सम्मतिः श्रेयः साधनतया सम्मननं यत्र दृष्टौ। क्व? 'कापथे' कुत्सितमार्गे मिथ्यादर्शनादौ। कथंभूते? 'पथि' मार्गे। केषा? 'दुःखाना'। न केवलं तत्रैवासम्मतिरपि तु 'कापथस्थेऽपि' मिथ्यादर्शना-द्याधारेऽपि जीवे। तथा 'असंपृक्ति' न विद्यते सम्पृक्तिः कायेन नख-च्छोटिकादिना प्रशंसा यत्र। 'अनुत्कीर्ति.' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तन वाचा सस्तवन यत्र। मनोवाक्कायैर्मिथ्यादर्शनादीना तद्वता चाप्रशसा-करणममूढ सम्यग्दर्शनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथोपगूहनगुणं तस्य प्रतिपादयन्नाह,-

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

तदुपगूहनं वदन्ति यत्प्रमार्जन्ति निराकुर्वन्ति प्रच्छादयन्तीत्यर्थः । का ? 'वाच्यता' दोष । कस्य ? 'मार्गस्य' रत्नत्रयलक्षणस्य । किंविशिष्टस्य ? 'स्वयं शुद्धस्य' स्वभावतो निर्मलस्य । कथंभूता ? 'बालाशक्तजनाश्रया' बालोऽज्ञः, अशक्तो व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थः स चासौ जनश्च स आश्रयो यस्याः । अयमर्थः—हिताहितविवेकाविकल व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत् प्रच्छादन तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

अथ स्थितीकरणगुणं सम्यग्दर्शनस्य दर्शयन्नाह,—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

'स्थितीकरण' अस्थितस्य दर्शनादेश्चलितस्य स्थित करण स्थितीकरणमुच्यते । कै ? प्राज्ञैस्तद्विचक्षणै । किं तत् ? 'प्रत्यवस्थापन' दर्शनादौ पूर्ववत् पुनरप्यवस्थापन । केषा ? 'चलता' । कस्मात् ? दर्शनाच्चरणाद्वापि । कैस्तेषा प्रत्यवस्थापन ? 'धर्मवत्सलै' धर्मवात्सल्ययुक्तै ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूपं दर्शने प्रकटयन्नाह,—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाहः—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

'प्रभावना' स्यात् । कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः' । * जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु * तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरण । कथं ? ' यथायथ ' स्नपनदानपूजाविधानतपोमन्त्रतन्त्रादिविषये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? ' अपाकृत्य ' निराकृत्य । का ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं '* जिनमतात्परेषा यत्स्नपनदानादिविषयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं * प्रसरम् ॥ १८ ॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टांगानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह;-

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशंकितत्वादीन्यष्टांगान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशंकितत्वेऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यता दृष्टान्तता गतोऽञ्जनचोर स्मृतो निश्चितः । द्वितीयेऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यता गता मता । तृतीयेऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यता गतो मत. । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता । ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मतः । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिषेण· स्थितीकरणे लक्ष्यता गतो मतः ।

१ सम्यग्दर्शनादिलक्षणा स्व । २ पुष्पमध्यगत· पाठ क.–पुस्तके नास्ति ।

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाहः—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

'प्रभावना' स्यात् । कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः' । * जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु * तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरण । कथं ? 'यथायथ' स्नपनदानपूजाविधानतपोमत्रतन्त्रादिविपये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? 'अपाकृत्य' निराकृत्य । का ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं' * जिनमतात्परेपा यत्स्नपनदानादिविपयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं * प्रसरम् ॥ १८ ॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टांगानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह,-

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिपेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेपयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशकितत्वादीन्यष्टागान्युक्तानि तेपु मध्ये प्रथमे निःशकितत्वेऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यता दृष्टान्तता गतोऽञ्जनचोर स्मृतो निश्चितः । द्वितीयेऽगे निष्कांक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यता गता मता । तृतीयेऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यता गतो मत. । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता । ततस्तेभ्यश्चतुर्भ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मतः । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिपेण स्थितीकरणे लक्ष्यता गतो मतः ।

---

१ सम्पादनादिलक्षणा ग्व । २ पुष्पमध्यगत पाठ क-पुस्तके नास्ति ।

विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमार स्तेपदयोर्वात्सल्यप्रभावनयो र्लक्ष्यता गतौ मतौ । गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्ति-बहुत्वापेक्षया ।

अथ प्रभावनागुणस्वरूपं दर्शनस्य निरूपयन्नाहः—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १८ ॥

'प्रभावना' स्यात् । कासौ ? 'जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः'। * जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु * तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरण । कथं ? ' यथायथ ' स्नपनदानपूजाविधानतपोमत्रतत्रादिविपये आत्मशक्त्यनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? ' अपाकृत्य ' निराकृत्य । का ? 'अज्ञानतिमिरव्याप्तिं '* जिनमतात्परेषा यत्स्नपनदानादिविपयेऽज्ञानमेव तिमिरमन्धकारं तस्य व्याप्तिं * प्रसरम् ॥ १८ ॥

इदानीमुक्तनिःशंकितत्वाद्यष्टांगानां मध्ये कः केन गुणेन प्रधानतया प्रकटित इति प्रदर्शयन् श्लोकद्वयमाह,-

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमतिः स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥ १९ ॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गताः ॥ २० ॥

तावच्छब्दः क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि निःशकितत्वादीन्यष्टागान्युक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे निःशकितत्वेऽगस्वरूपे तावल्लक्ष्यता दृष्टान्तता गतोऽञ्जनचोरः स्मृतो निश्चितः । द्वितीयेंऽगे निष्काक्षितत्वे ततोऽञ्जनचोरादन्यानन्तमतिर्लक्ष्यता गता मता। तृतीयेऽगे निर्विचिकित्सत्वे उद्दायनो लक्ष्यता गतो मतः । तुरीये चतुर्थेऽङ्गे अमूढदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता । ततस्तेभ्यश्चतुर्थेभ्योऽन्यो जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मतः । ततो जिनेन्द्रभक्तात् परो वारिपेणः स्थितीकरणे लक्ष्यता गतो मतः ।

१ सम्पादनादिलक्षणा ख । २ पुष्पमध्यगतः पाठ क–पुस्तके नास्ति ।

विष्णुश्च विष्णुकुमारो वज्रनामा च वज्रकुमार ऽप्ययोर्वात्सल्यप्रभावनयो र्लक्ष्यता गतौ मतौ । गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्टान्तभूतोक्तात्मव्यक्ति- बहुत्वापेक्षया ।

तत्र निःशंकितत्वेऽजनचोरो दृष्टान्ततां गतोऽस्य कथा ।

यथा धन्वतरिविश्वलोमौ सुकृतकर्मवशादमितप्रभविद्युत्प्रभदेवौ सजातौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ । ततो यमदग्निस्ताभ्या तपसश्चा- लितः । मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठी कृतोपवास' कृष्णचतुर्द- श्या रात्रौ स्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः । ततोऽमितप्रभदेवेनोक्त दूरे तिष्ठतु मदीया मुनयोऽमुं गृहस्थ ध्यानाच्चालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवे- नानेकधा कृतोपसर्गोपि न चलितो ध्यानात् । ततः प्रभाते मायामुपस- हृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनी विद्या दत्ता । तस्मै कथित च तवेय सिद्धाऽ न्यस्य च पचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति । सोमदत्तपुष्पबटु- केन चैकदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्टः क भवान् प्रातरेवोत्थाय व्रजतीति । तेनोक्तमकृत्रिमचैत्यालयवदनाभक्ति कर्तु व्रजामि । ममेत्थ विद्यालाभ सजात इति कथिते तेनोक्तं मम विद्या देहि येन त्वया सह पुष्पादिक गृहीत्वा वदनाभक्तिं करोमीति । ततः श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्तः । तेन च कृष्णचतुर्दश्या श्मशाने वटवृक्षपूर्वशाखायामष्टोत्तरशतपाद दर्भशिक्य- बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्राण्यूर्ध्वमुखानि धृत्वा गधपुष्पा- दिक दत्त्वा शिक्यमध्ये प्रविश्य षष्ठोपवासेन पचनमस्कारानुच्चार्य छुरिक- यैकैक पाद छिंदताऽधो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भीतेन तेन सचिंतित यदि श्रेष्ठिनो वचनमसत्य भवति तदा मरण भवतीति शकि-

---

१कथेयमस्मत्सुहृद्वर्यश्रीवासुदेवपंडितै स्वहस्तेनोल्लिखिते पुस्तके सुमहद्रूपेण वर्तते । २ अङ्गदेशे इति ग ।

तमना वारंवारं चटनोत्तरणं करोति। एतस्मिन् प्रस्तावे प्रजापालराज्ञः कनकराज्ञीहार दृष्ट्वांजनसुंदर्या विलासिन्या रात्रावागतोजनचोरो भणितः। यदि मे कनकराज्ञ्या हारं ददासि तदा भर्त्ता त्व नान्यथेति। ततो गत्वा रात्रौ हारं चोरयित्वाऽजनचोर आगच्छन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽगरक्षैः कोट्टपालैश्च ध्रियमाणो[1] हारं त्यक्त्वा प्रणश्य गतः, वटतले वटुकं दृष्ट्वा तस्मान्मंत्रं गृहीत्वा निःशंकितेन तेन विधिनैकवारेण सर्वशिक्य छिन्न शस्त्रोपरि पतितः सिद्धया विद्यया भणित ममादेश देहीति। तेनोक्त जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे मा नयेति। ततः सुदर्शनमेरुचैत्यालये जिनदत्तस्याग्रे नीत्वा स्थितः[2]। पूर्ववृत्तात कथयित्वा तेन भणित यथेय सिद्धा भवदुपदेशेन तथा परलोकसिद्धावप्युपदेहीति। ततश्चारणमुनिसान्निधौ तपो गृहीत्वा कैलाशे केवलमुत्पाद्य मोक्ष गतः॥ १॥

निःकांक्षितत्त्वेऽनंतमतीदृष्टांतोऽस्याः कथा।

अंगदेशे चंपानगर्य्यां राजा वसुवर्धनो राज्ञी लक्ष्मीमती। श्रेष्टी प्रियदत्तस्तद्भार्या अगवती पुत्र्यनतमती। नंदीश्वराष्टम्या श्रेष्ठिना धर्मकीर्त्याचार्यपादमूलेऽष्टदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतं। क्रीडयाऽनंतमती च ग्राहिता। अन्यदा संप्रदानकालेऽनतमत्योक्त तात! मम त्वया ब्रह्मचर्य दापितमतः किं विवाहेन? श्रेष्ठिनोक्त क्रीडया मया ते ब्रह्मचर्यं दापित। ननु तात! धर्मे व्रते का क्रीडा। ननु पुत्रि! नंदीश्वराष्टदिनान्येव व्रत तव न सर्वदा दत्तं। सोवाच ननु तथा भट्टारकैरविवक्षितत्वादिति। इह जन्मनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा सकलकलाविज्ञानशिक्षा कुर्वती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोद्याने आदोलयती विजयार्धदक्षिणश्रेणिकिन्नरपुरविद्याधरराजेन कुडलमडितनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा। किमनया विना जीवितेनेति

१ गृहीष्यमाण इति पाठान्तरम्। २ धृत इत्यन्यत्र।

सचित्य भार्यां गृहे धृत्वा शीघ्रमागत्य विलपती तेन सा नीता । आकाशे गच्छता भार्यां दृष्ट्वा भीतेन पर्णलघुविद्या समर्प्य महाटव्यां मुक्ता । तत्र च तां रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना भिल्लराजेन निजपल्लिकायां नीत्वा प्रधानराज्ञीपदं तव ददामिमामिच्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छन्तीं भोक्तुमारब्धा । व्रतमाहात्म्येन वनदेवतया तस्य ताडनादुपसर्गः कृतः । देवता काचिदियमिति भीतेन तेनानीता सार्थं पुष्पकनाम सार्थवाहस्य समर्पिता । सार्थवाहो लोभं दर्शयित्वा परिणेतुकामो न तया वाञ्छितः । तेन चानीयायोध्यायां कामसेनाकुट्टिन्याः समर्पिता, कथमपि वेश्या न जाता । ततस्तया सिंहराजस्य राज्ञो अर्पिता तेन च रात्रौ हठात् सेवितुमारब्धा । नगरदेवतया तन्माहात्म्येन तस्योपसर्गः कृतः । तेन च भीतेन गृहान्निःसारिता । रुदती मार्गे सा कमलश्रीक्षातिकया श्राविकेति मत्वाऽतिगौरवेण धृता । अथानन्तमतीशोकविस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी बहुसहायो वंदनाभक्तिं कुर्वन्नयोध्यायां गतो निजस्यालकजिनदत्तश्रेष्ठिनो गृहे सध्यासमये प्रविष्टो गतो पुत्रीहरणवार्तां कथितवान् । प्रभाते तस्मिन् वंदनाभक्तिं कर्तुं गते अतिगौरवितप्राघूर्णकनिमित्तं रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्कं दातुं कुशला कमलश्रीक्षान्तिका श्राविका जिनदत्तभार्यया आकारिता । सा च सर्वं कृत्वा वसतिकां गता । वंदनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्यानन्तमतीं स्मृत्वा गह्वरितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता भणितं । यया गृहमंडनं कृतं तां मे दर्शयेति । ततः सा आनीता तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सवः कृतः । अनंतमत्या चोक्तं तात! इदानीं मे तपो दापय दृष्टमेकस्मिन्नेव भवे संसारवैचित्र्यमिति । ततः कमलश्रीक्षान्तिकापार्श्वे तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे देवो जातः ॥ २ ॥

निर्विचिकित्सिते उद्दायनो दृष्टांतोऽस्य कथा ।

एकदा सौधर्मेन्द्रेण निजसभाया सम्यक्त्वगुण व्यावर्णयता भरते वत्सदेशे रौरकपुरे उद्दायनमहाराजस्य निर्विचिकित्सितगुणः प्रशंसितस्त परीक्षितुं वासवदेव उदुंवरकुष्ठकुथित मुनिरूप विकृत्य तस्यैव हस्तेन विधिना स्थित्वा सर्वमाहारं जल च मायया भक्षयित्वातिदुर्गंध वहुवमन कृतवान् । दुर्गंधभयान्नष्टे परिजने प्रतीच्छतो राज्ञस्तद्देव्याश्च प्रभावत्या उपरि छर्दितं, हाहा ! विरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं निंदयतस्तं च प्रक्षालयतो माया परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथयित्वा प्रशस्य च तं, स्वर्ग गतः । उद्दायनमहाराजो वर्धमानस्वामिपादमूले तपोगृहीत्वा मुक्ति गतः । प्रभावती च तपसा ब्रह्मस्वर्गे देवो बभूव ।

अमूढदृष्टित्वेरेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा ।

विजयार्धदक्षिणश्रेण्या मेघकूटे नगरे राजा चन्द्रप्रभः । चन्द्रशेखरपुत्राय राज्यं दत्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्विद्या दधानो दक्षिणमथूराया गत्वा गुप्ताचार्यसमीपे क्षुल्लको जातः । तेनैकदा वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथूराया चालितेन गुप्ताचार्यः पृष्टः कि कस्य कथ्यते [१] भगवतोक्त सुव्रतमुनेर्वन्दना वरुणराजमहाराज्ञीरेवत्या आशीर्वादश्च कथनीय. त्रिपृष्टेनापि तेन एतावदेवोक्त । ततः क्षुल्लकेनोक्त । भव्यसेनाचार्यस्यैकादशागधारिणोऽन्येषा नामापि भगवन् न गृह्णाति तत्र किंचित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा सुव्रतमुनेर्भट्टारकीया वन्दना कथयित्वा तदीय च विशिष्टं वात्सल्य दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिका गतः । तत्र गतस्य च भव्यसेनेन सभाषणमपि न कृत कुण्डिका गृहीत्वा, भव्यसेनेन सह वहिर्भूमिं गत्वा विकुर्वणया हरितकोमलतृणाकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दर्शितः । त दृष्ट्वा “ आगमे किलैते

१ कथ्यते इति क, ग. २ 'कथते ख ।

उपगूहने जिनेन्द्रभक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्रः सुवीरः सप्तव्यसनाभिभूतस्तथाभूततस्करपुरुषसेवितः। पूर्वदेशे गौडविषये ताम्रलिप्तनगर्यां जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिनः सप्ततलप्रासादोपरि बहुरक्षकोपयुक्तपार्श्वनाथप्रतिमाछत्रत्रयोपरि विशिष्टतरानर्घ्यवैडूर्यमणिं पारम्पर्येणाकर्ण्य लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषाः पृष्टाः तं मणिं किं कोऽप्यानेतुं शक्तोऽस्तीति। इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्जितं कृत्वा सूर्यनामा चौरः कपटेन क्षुल्लको भूत्वा अतिकायक्लेशेन ग्रामनगरक्षोभं कुर्वाणः क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गतः। तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वन्दित्वा संभाष्य प्रशस्य क्षुभितेन जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठिना नीत्वा पार्श्वनाथदेवं दर्शयित्वा मायया अनिच्छन्नपि स तत्र मणिरक्षको धृतः। एकदा क्षुल्लकं पृष्ट्वा श्रेष्ठी समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थितः। स चौरक्षुल्लको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे तं मणिं गृहीत्वा चलितः। मणितेजसा मार्गे कोट्टपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्धः। तेभ्यः पलायितुमसमर्थः श्रेष्ठिन एव शरणं प्रविष्टो मां रक्ष रक्षेति चोक्तवान् कोट्टपालानां कलकलमाकर्ण्य पर्यालोच्य तं चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहासप्रच्छादनार्थं भणितं श्रेष्ठिना मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपकं भवद्भिः कृतं यदस्य महातपस्विनश्चौरोद्घोषणा कृता। ततस्ते तस्य प्रमाणं कृत्वा गताः। स च श्रेष्ठिना रात्रौ निर्घाटितः। एवमन्येनापि सम्यग्दृष्टिना असमर्थाज्ञानपुरुषादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यं।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको राज्ञी चेलिनी पुत्रो वारिषेणः उत्तमश्रावकः चतुर्दश्यां रात्रौ कृतोपवासः श्मशाने कायोत्सर्गेण स्थितः। तस्मिन्नेव दिने उद्यानिकायां गतया मगधसुन्दरीविलासिन्या श्रीकीर्तिश्रेष्ठिन्याः परिहितो दिव्यो हारो दृष्टः। ततस्तं दृष्ट्वा किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति संचिन्त्य शय्यायां पतित्वा सा स्थिता। रात्रौ समागतेन तदासक्तेन विद्यु-

चारित्राच्चलितः आगच्छतीति संचिन्त्य परीक्षणार्थं सरागवीतरागे द्वे आसने दत्ते । वीतरागासने वारिषेणेनोपविश्योक्तं मदीयमन्तःपुरमानीयतां ततश्चेलिन्या महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्याः सालङ्कारा आनीताः । ततः पुष्पडालो वारिषेणेन भणितः स्त्रियो मदीयं युवराजपदं च त्वं गृहाण । तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीवलज्जितः परं वैराग्यं गतः । परमार्थेन तपः कर्तुं लग्न इति ।

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अवन्तिदेशे उज्जयिन्यां श्रीवर्मा राजा तस्य बलिर्बृहस्पतिः प्रल्हादो नमुचिश्चेति चत्वारो मंत्रिणः तत्रैकदा समस्तश्रुताधारो दिव्यज्ञानी सप्तशतमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थितः । समस्तसंघश्च वारितः राजादिकेऽप्यायते केनापि जल्पनं न कर्तव्यमन्यथा समस्तसंघस्य नाशो भविष्यतीति । राज्ञा च धवलगृहास्थितेन पूजाहस्तं नगरीजनं गच्छन्तं दृष्ट्वा मंत्रिणः पृष्टाः क्वायं लोकोऽकालयात्रायां गच्छतीति । तैरुक्तं क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्रायं जनो याति वयमपि तान् द्रष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मंत्रिसमन्वितो गतः । प्रत्येकं सर्वे वन्दिताः । न च केनापि आशीर्वादो दत्तः । दिव्यानुष्ठानेनातिनिस्पृहास्तिष्ठन्तीति संचिन्त्य व्याघुटिते राज्ञि मंत्रिभिर्दुष्टाभिप्रायैरुपहासः कृतः बलीवर्दा एते न किंचिदपि जानन्ति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिताः । एवं ब्रुवाणैर्गच्छद्भिरग्रे चर्यां कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्तं "अयं तरुणबलीवर्दः पूर्णकुक्षिरागच्छति । एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेकान्तवादेन जिताः । अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता । तेनोक्तं सर्वसंघस्त्वया मारितः । यदि वादस्थाने गत्वा रात्रौ त्वमेकाकी तिष्ठसि तदा संघस्य जीवितव्यं तव शुद्धिश्च भवति । ततोऽसौ तत्र गत्वा कायोत्सर्गेण स्थितः । मंत्रिभिश्चातिलज्जितैः क्रुद्धै रात्रौ संघं मारयितुं गच्छद्भिस्तमेकं मुनिमालोक्य येन परिभवः कृतः स एव हंतव्यः इति

यतीना । उपसर्गः कथं नश्यति [2]धरणिभूषणागिरौ विष्णुकुमारमुनिर्वि-
क्रियार्द्धिसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति । एतदाकर्ण्य तत्समीपे गत्वा क्षुल्ल-
केन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिर-
स्तीति संचिन्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः प्रसारितः । स गिरिं भित्त्वा दूरे गतः ।
ततस्ता निर्णीय तत्र गत्वा पद्मराजो भणितः । किं त्वया मुनीनामुप-
सर्गः कारितः । भवत्कुले केनापीदृशं न कृतं । तेनोक्त किं करोमि
मया पूर्वमस्य वरो दत्त इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मण
कृत्वा दिव्यध्वनिना प्राध्ययनं कृत । बलिनोक्त।किं तुभ्य दीयते। तेनोक्त
भूमेः पादत्रयं देहि । ग्रहिलब्राह्मण बहुतरमन्यत् प्रार्थयेति वार वार
लोकैर्भण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमि-
पादत्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपा-
देन देवविमानादीना क्षोभ कृत्वा बलिपृष्ठे त पादं दत्वा बलिं बद्ध्वा
मुनीनामुपसर्गो निवारितः। ततस्ते चत्वारोऽपि मंत्रिणः पद्मस्य भयादागत्य
विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचार्यादीना च पादेषु लग्नाः। ते मन्त्रिणः श्रावकाश्च
जाता इति ।

प्रभावनायां वज्रकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

हस्तिनापुरे बलराजस्य पुरोहितो गरुडस्तत्पुत्रः सोमदत्तः तेन सकलशा-
स्त्राणि पठित्वा अहिच्छत्रपुरे निजमामसुभूतिपार्श्वे गत्वा भणित। माम ! मा
दुर्मुखराजस्य दर्शयेत्[1] । न च गर्वितेन तेन[2] दर्शितः । ततो ग्रहिलो भूत्वा
सभाया स्वयमेव त दृष्ट्वा आशीर्वाद दत्वा सर्वशास्त्रकुशलत्व प्रकाश्य
मन्त्रिपद लब्धवान् । त तथाभूतमालोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्ता पुत्री परिणेतुं
दत्तवान् । एकदा तस्या ' गर्भिण्या[3] वर्षाकाले आम्रफलभक्षणे

१ दर्शयते ख, ग, २ न ख, ग, ३ गुर्विण्या मूलपाठ ।

श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा । मृते सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे निक्षिप्तसिक्थानि भक्षयन्ती चर्यां प्रविष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा ततो लघुमुनिनोक्तं हा ! वराकी महता कष्टेन जीवतीति । तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्तं अत्रैवास्य राज्ञः पट्टराज्ञी वल्लभा भविष्यतीति । भिक्षां भ्रमता धर्मश्रीवदकेन तद्वचनमाकर्ण्य नान्यथा मुनिभाषितमिति संचिन्त्य स्वविहारे तां नीत्वा मृष्टाहारैः पोषिता । एकदा यौवनभरे चैत्रमासे अन्दोलयन्ती तां राजा दृष्ट्वा अतीव विरहावस्थां गतः । ततो मन्त्रिभिस्तां तदर्थं वदको याचित. । तेनोक्तं यदि मदीयं धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति । तत्सर्वं कृत्वा परिणीता । पट्टमहादेवी तस्य सातिवल्लभा जाता । फाल्गुननन्दीश्वरयात्रायामुर्विला रथयात्रामहारोपं दृष्ट्वा तया भणितो देव ! मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथमं भ्रमतु । राज्ञा चोक्तमेव भवत्विति । तत उर्विला वदति मदीयो रथो यदि प्रथमं भ्रमति तदाहारे मम प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपार्श्वे गता । तस्मिन् प्रस्तावे वज्रकुमारमुनेर्वन्दनाभक्त्यर्थमायाता दिवाकरदेवादयो विद्याधरास्तदीयवृत्तान्तं च श्रुत्वा वज्रकुमारमुनिना ते भणिताः । उर्विलायाः प्रतिज्ञारूढाया रथयात्रा कारिता तमतिशयं दृष्ट्वा पूतिमुखा बुद्धदासी अन्ये च जना जिनधर्मरता जाता इति ॥ २० ॥

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनं ? तद्विकलस्याप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवादित्याशङ्क्याह:—

नांगहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनां ॥ २१ ॥

‘ दर्शनं कर्तृ । जन्मसन्ततिं ’ संसारप्रबन्धं । ‘ छेत्तुं ’ उच्छेदयितुं ‘ नालं ’ न समर्थं । कथंभूतं सत्, ‘ अंगहीनं ’ अंगैर्नि

शंकितत्वादिस्वरूपैर्हीनं विकलं । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—'नही' त्यादि सर्पादिदष्टस्य प्रसृतसर्वांगविषवेदनस्य तदपहरणार्थं प्रयुक्तो मन्त्रोऽक्षरेणापि न्यूनो हीनो 'नहि' नैव 'निहन्ति' स्फोटयति विषवेदनां । ततः सम्यग्दर्शनस्य संसारोच्छेदसाधनेऽष्टाङ्गोपेतत्वम् ।

तस्य संसारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते लोकदेवतापाखंडिमूढभेदात् त्रीणि भवन्ति । तत्र लोकमूढं तावद्दर्शयन्नाह:—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

'लोकमूढं' लोकमूढत्वं । किं ? 'आपगासागरस्नानं' आपगा नदी सागरः समुद्रः तत्र श्रेयःसाधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न वपुःशरीरप्रक्षालनाभिप्रायेण । तथा 'उच्चयः' स्तूपविधानं । केषां ? 'सिकताश्मनां' सिकता वालुका, अश्मानः पाषाणास्तेषां । तथा 'गिरिपातो' भृगुपातादिः । 'अग्निपातश्च' अग्निप्रवेशः । एवमादिसर्वं लोकमूढं 'निगद्यते' प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

देवतामूढं व्याख्यातुमाह —

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'देवतामूढं' 'उच्यते' 'यदुपासीत' आराधयेत् । काः 'देवताः' । कथंभूताः, 'रागद्वेषमलीमसाः' रागद्वेषाभ्यां मलीमसा मलिनाः । किंविशिष्टः ? 'आशावान्' ऐहिकफलाभिलाषी । कया ? 'वरोपलिप्सया' वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया । नन्वेवं श्रावकादीनां शासनदेवतापूजाविधानादिकं सम्यग्दर्शनम्लानताहेतुः प्राप्नोतीति चेत् एवमेतत् यदि वरोपलिप्सया कुर्यात् । यदा तु सक्तदेवता-

त्वेन तासां तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतुः । तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्ष पाताद्वरमयाचितमपि ताः प्रयच्छन्त्येव । तदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो झटिति न सिद्ध्यति । न हि चक्रवर्तिपरिवारा-पूजने सेवकानां चक्रवर्तिनः सकाशात् तथा फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

इदानीं सद्दर्शनस्वरूपे पाषण्डिमूढस्वरूपं दर्शयन्नाह:—

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ २४ ॥

पाषण्डिमोहनं ज्ञेयं ज्ञातव्य । कोऽसौ ? 'पुरस्कारः' प्रशंसा । केषां ? 'पाषाण्डिनां' मिथ्यादृष्टिलिंगिनां । किं विशिष्टानां ? 'सग्रन्थारं-भहिंसानां' ग्रन्थाश्च दासीदासादयः, आरंभाश्च कृष्यादयः हिंसाश्च अनेकविधाः प्राणिवधाः सह ताभिर्वर्तन्त इत्येवं ये तेषां । तथा 'संसारा-वर्तवर्तिनां' संसारे आवर्तो भ्रमणं येभ्यो विवाहादिकर्मभ्यस्तेषु वर्तते इत्येवं शीलास्तेषां । एतैस्त्रिभिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नं सम्यग्दर्शनं संसारो-च्छित्तिकारणं अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

कः पुनरयं स्मयः कतिप्रकारश्चेत्याह:—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥

'आहु'र्ब्रुवन्ति । कं ? 'स्मयं'। के ते ? 'गतस्मयाः' नष्टमदाः जिनाः । किं तत् ? 'मानित्वं'। किं कृत्वा ? 'अष्टावाश्रित्य'। तथा हि । ज्ञानमा-श्रित्य ज्ञानमदो भवति । ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसक्तेरष्टाविति सङ्ख्यानुपपन्ना इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञान एवान्तर्भावात्

अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोषं दर्शयन्नाह :—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥ २६ ॥

'स्मयेन' उक्तप्रकारेण 'गर्विताशयो' दर्पितचित्तः यो जीवः । 'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतानन्यान् । 'अत्येति' अवधीरयति अवज्ञयातिक्रामतीत्यर्थः । 'सोऽत्येति' अवधीरयति । कं ? 'धर्मं' रत्नत्रयं। कथंभूतं ? 'आत्मीयं' जिनपतिप्रणीतं। यतो धर्मो 'धार्मिकैः' रत्नत्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥ २६ ॥

ननु कुलैश्वर्यादिसम्पन्नैः स्मयः कथं निषेद्धुं शक्य इत्याहः—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ २७ ॥

पापं ज्ञानावरणाद्यशुभं कर्म निरुद्ध्यते येनासौ 'पापनिरोधो' रत्नत्रयसद्भावः स यद्यस्ति तदा 'अन्यसम्पदा' अन्यस्य कुलैश्वर्यादेः सम्पदा सम्पत्त्या किमपि प्रयोजनं, तन्निरोधेऽतोऽप्यधिकाया विशिष्टतरादेतत्सम्पदः सद्भावमवबुद्ध्यमानस्य तन्निबन्धनस्मयस्यानुत्पत्तेः । 'अथ पापास्रवोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मणः आस्रवो मिथ्यात्वाविरत्यादिरस्ति किं प्रयोजनं अग्रे दुर्गतिगमनादिकं अवबुद्ध्यमानस्य तत्सम्पदा प्रयोजनाभावस्तत्स्मयस्य कर्तुमनुचितत्वात् ॥ २७ ॥

अमुमेवार्थं प्रदर्शयन्नाहः—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

'देवं' आराध्यं। 'विदु'र्मन्यन्ते। के ते ? 'देवा' "देवा वि तस्स णमंति जस्स धम्मे सया मणो" इत्यभिधानात् । कमपि ? 'मातंगदेहजमपि' चांडालमपि। कथंभूतं ? 'सम्यग्दर्शनसम्पन्नं' सम्यग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तं । अतएव 'भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं' भस्मना गूढः प्रच्छादितः स चासावङ्गारश्च तस्य अन्तरं मध्यं तत्रैव ओजः प्रकाशो निर्मलता यस्य ॥ २८ ॥

एकस्य धर्मस्य विविधं फलं प्रकाश्येदानीमुभयोर्धर्माधर्मयोर्यथाक्रमं फलं दर्शयन्नाहः—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥ २९ ॥

'श्वापि' कुक्करोऽपि 'देवो' जायते। 'देवोऽपि' देवः 'श्वा' जायते। कस्मात् ? 'धर्मकिल्विपात्' धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति। किल्विपात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति। एवं ततः 'कापि' वाचामगोचरा 'नाम' स्फुटं 'अन्या' न पूर्वा द्वितीया वा 'सम्पद्विभूतिविशेषो भवेत्'। कस्मात् ? धर्मात्। केपा ? 'शरीरिणा' संसारिणा। यत एवं ततो धर्मएव प्रेक्षावतानुष्ठातव्यः॥ २९ ॥

ते चानुष्ठिता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याहः—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ ३० ॥

'शुद्धदृष्टयो' निर्मलसम्यक्त्वाः न कुर्यु.। क ? 'प्रमाणं' उत्तमाङ्गेनोपनतिं। 'विनयं चैव' करमुकुलप्रशसादिलक्षण। केषा ? कुदेवागमालिगिना। कस्मादापि ? 'भयाशास्नेहलोभाच्च' भय राजादिजनित, आशा च भाविनोऽर्थस्य प्रत्याकाक्षा, स्नेहश्च मित्रानुरागः, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धिः, भयाशास्नेहलोभं तस्मादपि। चशब्दोऽप्यर्थः॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वात् कस्माद्दर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपाभिधानंकृतमित्याहः—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥

'दर्शनं' कर्तृ 'उपाश्नुते' प्राप्नोति। क ? 'साधिमानं' साधुत्वमुत्कृष्टत्वं वा। कस्मात् ? ज्ञानचारित्रात्। यतश्च साधिमान तस्माद्दर्शनमुपा-

श्नुते। 'तत्' तस्मात्। 'मोक्षमार्गे' रत्नत्रयात्मके ' दर्शनं कर्णधारं ' प्रधान प्रचक्ष्यते । तथैव हि कर्णधारस्य नौखेवटकैवर्तकस्याधीना समुद्रपरतीरगमने नावः प्रवृत्तिः तथा ससारसमुद्रपरयतगमने सम्यग्दर्शन-कर्णधाराधीना मोक्षमार्गनावः प्रवृत्तिः ॥ ३१ ॥

ननु चास्योत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्व सिद्ध्यति तस्य च कुतः सिद्ध-मित्याह —

विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥

'सम्यक्त्वेऽसति' अविद्यमाने। 'न सन्ति'। के ते ? संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः । कस्य ? विद्यावृत्तस्य । अयमर्थः—विद्याया मतिज्ञानादिरूपायाः वृत्तस्यच सामायिकादिचारित्रस्य या सभूतिः प्रादुर्भावः, स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन चात्रस्थान, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कर्पः फलोदयो देवादिपूजायाः स्वर्गापवर्गादेश्च फलस्योत्पत्तिः । कस्याभावे कस्येव ते न स्युरित्याह—**बीजाभावे तरोरिव** बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरोस्ते न सन्ति तथा सम्यक्त्वास्यपि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्तस्यापि ते न सन्तीति ॥ ३२ ॥

यश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्नान्मुनेरुत्कृष्टस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह:—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥ ३३ ॥

'निर्मोहो' दर्शनप्रतिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सद्दर्शनपरिणत इत्यर्थः । इत्थ भूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवति ' अनगारो ' यतिः पुनः

---

१ नौषेटककैवर्तकस्य क ।

'नैव' मोक्षमार्गस्थो भवति। किं विशिष्टः ? 'मोहवान्' दर्शनमोहोपेतः मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थः। यत एवं ततो गृहस्थोऽपि निर्मोहः स 'श्रेयान् उत्कृष्टः। कस्मात् ? मुनेः। कथम्भूतात् ? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात्। ॥ ३४ ॥

यत एव ततः;—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥

'तनूभृतां' संसारिणां। 'सम्यक्त्वसमं' सम्यक्त्वेन समं तुल्यं। 'श्रेयः' श्रेष्ठमुत्तमोपकारकं। 'किंचित्' अन्यवस्तु नास्ति। यतस्तस्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते। कदा तन्नास्ति ? 'त्रैकाल्ये' अतीतानागतवर्तमानकालत्रये। तस्मिन् क्व तन्नास्ति ? 'त्रिजगत्यपि' आस्तां तावन्नियतक्षेत्रादौ तन्नास्ति अपितु त्रिजगत्यपि त्रिभुवनेऽपि तथा 'अश्रेयो' अनुपकारकं। मिथ्यात्वसमं किंचिदन्यन्नास्ति। यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसंयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्विपरीततां तदपकृष्टतां व्रजतीति ॥ ३४ ॥

इत्य (तोऽ) पि सद्दर्शनमेव ज्ञानचारित्राभ्यामुत्कृष्टमित्याहः—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥३५॥

'सम्यग्दर्शनशुद्धा' सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्मलं येषां ते। सम्यग्दर्शनलाभात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अन्ये 'न व्रजन्ति' न प्राप्नुवन्ति। कानि। नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि त्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नारकत्वं तिर्यक्त्वं नपुंसकत्वस्त्रीत्वमिति। न केवलमेतान्येव न व्रजन्ति किन्तु 'दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रताच' अत्रापि ताशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वाः ते न भवान्तरे दुष्कुले उत्पत्तिं विकृततां काणकुं-

ठादिरूपविकारं अल्पायुष्कतामन्तर्मुहूर्ताद्यायुष्कोत्पत्तिं, दरिद्रता दारिद्र्योपेतकुलोत्पत्तिं। कथंभूता अपि एतत्सर्वं व्रजन्ति 'अव्रातिका अपि' अणुव्रतरहिता अपि,

यद्यतेत्सर्वं न व्रजन्ति तर्हि भवान्तरे कीदृशास्ते भवन्तीत्याहः—

ओजस्तेजोविद्यावीर्य्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः॥३६॥

'दर्शनपूता' दर्शनेन पूता पवित्रिताः दर्शनं वा पूतं पवित्रं येषां ते भवन्ति 'मानवतिलकाः' मानवाना मनुष्याणा तिलका मण्डनीभूता मनुष्यप्रधानाइत्यर्थः। पुनरपि कथंभूता इत्याह 'ओज' इत्यादि ओज उत्साहः तेजः प्रतापः कान्तिर्वा, विद्या सहजा अहार्या च बुद्धिः, वीर्यं विशिष्टं सामर्थ्य, यशो विशिष्टा ख्यातिः वृद्धिः कलत्रपौत्रादिसम्पत्तिः, विजयः परविभवेनात्मनो गुणोत्कर्षः, विभवो धनधान्यद्रव्यादिसम्पत्तिः, एतैः सनाथा सहिताः। तथा 'महाकुला' महच्च कुलं च तत्र भवाः। 'महार्था' महन्तोऽर्था धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम्॥ ३६॥

तथा इन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याहः—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे॥ ३७॥

देवदेवीना सभाया। 'चिरं' बहुतरं कालं। 'रमन्ते' क्रीडन्ति। कथंभूताः? 'अष्टगुणपुष्टितुष्टाः' अष्टगुणा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व कामरूपित्वमित्येतल्लक्षणास्ते च पुष्टिः स्वशरीरावयवाना सर्वदोपचितत्वं तेषां वा पुष्टि. परिपूर्णत्वं तया तुष्टाः सर्वदा प्रमुदिताः। तथा 'प्रकृष्टशोभाजुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तया जुष्टा सेविता. सेवाजुष्टा सेविताः इन्द्रा सन्त इत्यर्थः॥ ३७॥

तथा चक्रवर्तित्वमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याहः—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः॥३८॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्त्वाः त एव 'चक्र' चक्रस्य रत्नं 'वर्तयितुं' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्तयितुं 'प्रभवन्ति' ते समर्था भवन्ति। कथंभूताः ? सर्वभूमिपतयः सर्वा चासौ भूमिश्च षट्खण्ड पृथ्वी तस्याः पतयः चक्रवर्तिनः। पुनरपि कथभूताः ? 'नवनिधिसप्तद्वय रत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयरत्नानि सप्ताना द्वयं तेन सख्याता चतुर्दश तेपामधीशाः स्वामिनः। क्षत्रमौलिशिखरचरणाः क्षत्रादोपात् त्रायन्ते रक्षन्ति प्राणिनो ये ते क्षत्रा राजानस्तेषा मौलयो मस्तकानि तेषु शिखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषा ॥ ३८ ॥

तथा धर्मचाक्रिणोऽपि सद्दर्शनमाहात्म्याद्भवन्तीत्याह:—

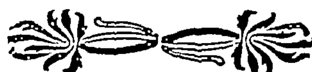
अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः॥३९॥

'दृष्ट्या' सम्यग्दर्शनमाहात्म्येन। 'वृषचक्रधरा भवन्ति' वृषो धर्मः तस्य चक्रं वृषचक्रं तद्धरन्ति ये ते वृषचक्रधरास्तीर्थकराः। किं विशिष्टाः ? 'नूतपादाम्भोजाः' पादावेवाम्भोजे, नूते स्तुते पादाम्भोजे येषा। कैः ? 'अमरासुरनरपतिभिः' अमरपतयः ऊर्ध्वलोकस्वामिनः सौधर्मादयः, असुरपतयोऽधोलोकस्वामिनो धरणेन्द्रादयः, नरपतयः तिर्यग्लोकस्वामिनश्चक्रवर्तिनः। न केवलमेतैरेव, नूतपादाम्भोजाः किन्तु 'यमधरपतिभिश्च' यमं व्रत धरन्ति ये ते यमधरा मुनयस्तेषा पतयो गणधरास्तैश्च। पुनरपि कथभूतास्ते ? सुनिश्चितार्था शोभनो निश्चितः परिसमाप्ति गतोऽर्थो धर्मादिलक्षणो येषा। तथा 'लोकशरण्याः' अनेकविधदुःखदायिभिः कर्मारातिभिरुपद्रुताना लोकाना शरणे साधवः॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिरपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह;—

र्चनीयं' अवन्या निजनिजपृथिव्या इन्द्रा मुकुटबद्धा राजानस्तेषां शिरोभिरर्चनीय। तथा धर्मेन्द्रचक्रं लब्ध्वा धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य वा इन्द्रा अनुष्ठातारः प्रणेतारो वा तीर्थकरादयस्तेषां चक्रं संघातो धर्मिणा वा तीर्थकृता सूचकं चक्रं धर्मचक्रं। कथभूतं? 'अधरीकृतसर्वलोकं' अधरीकृतः भृत्यतां नीतः सर्वलोकस्त्रिभुवनं येन। एतत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्छिवं चोपैति भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥



ज्ञानाधिकारो द्वितीयः ।



अथ दर्शनरूपं धर्मं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाहः—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

'वेद' वेत्ति । 'यत्तदाहुर्ब्रुवते । 'ज्ञानं' 'भावश्रुतरूपं' । के ते ? 'आगमिनः' आगमज्ञाः । कथं वेद ? 'निःसन्देहं' निःशंसयं यथा भवति तथा । 'विना च विपरीतात्' विपरीताद्विपर्ययाद्विनैव विपर्ययव्यवच्छेदेनेत्यर्थः । तथा 'अन्यूनं' परिपूर्णं सकलं वस्तुस्वरूपं यद्वेद 'तद्ज्ञानं' न न्यूनं विकलं तत्स्वरूपं यद्वेद, तर्हि जीवादिवस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि सर्वथा नित्यत्वक्षणिकत्वाद्वैतादिरूपं कल्पयित्वा यद्वेत्ति तदधिकार्थं विदित्वा[1] ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—'अनतिरिक्तं' वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनाधिकं यद्वेद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्वत्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिल्पिकल्पितं यद्वेद । एवं चैतद्विशेषणचतुष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य संभवति तद्दर्शयति—याथातथ्यं यथावस्थितवस्तुस्वरूपं यद्वेद तद्ज्ञानं भावश्रुतं । यद्रूपस्यैव ज्ञानस्य जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् साकल्येन स्वरूपप्रकाशनसामर्थ्यसम्भवात् । तदुक्तः—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

अतस्तदेवानुधर्मत्वेनाभिप्रेय । भेदात्तस्यैव मुख्यतो मूलकारणभूततया स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसंभवात् ॥ १ ॥

---

१ विदितत्वात् ग ।

तस्य विषयभेदाद्भेदप्ररूपयन्नाह:—

प्रथानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ २ ॥

'बोधः समीचीनः' सत्यं श्रुतज्ञान । 'बोधति' जानाति । कं [?] प्रथमानुयोगं । किं पुनः प्रथमानुयोगशब्देनाभिधीयते इत्याह—'चरितं पुराणमपि' एकपुरुषाश्रिता कथा चरित त्रिषष्टिशलाकापुरुषाश्रिता कथा पुराण तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयं । तत्प्रकल्पितत्वव्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषण, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यानं यत्र येन वा तं । तथा पुण्यं प्रथमानुयोगं हि शृण्वता पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्य तदनुयोग । तथा 'बोधिसमाधिनिधान' अप्राप्ताना हि सम्यग्दर्शनादीना प्राप्तिर्बोधिः प्राप्ताना तु पर्यन्तप्रापण समाधिः ध्यानं वा धर्म्मशुक्ल च समाधिः तयोर्निधान तदनुयोगं हि शृण्वता दर्शनादेः प्राप्त्यादिकं धर्म्मध्यानादिकं च भवति ।

तथा:—

अंह उड्ढतिरियलोए दिसि विदिसं जं पमाणियं भणियं ।
करणाणि तु सिद्धं दीवसमुद्दा जिणगेहा ॥ १ ॥

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ३ ॥

'तथा' तेन प्रथमानुयोगप्रकरेण । 'मतिर्मनन श्रुतज्ञान' [2] । अवैति जानाति । क ? 'करणानुयोग' लोकालोकविभाग पचसग्रहादिलक्षणं । कथ भूतमिव ? 'आदर्शमिव' यथा आदर्शो दर्पणो मुखादर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वविषयस्याय प्रकाशकः । 'लोकालोक-

---

१ इयं गाथापि ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।

२ मतिज्ञानं नश्रुतज्ञानम् इति ग पुस्तके ।

विभक्तेः' लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यत्रासौ लोकस्त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणः,——तद्विपरितोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः तयोर्विभक्तिर्विभागो भेदस्तस्याः आदर्शमिव तथा 'युगपरिवृत्तेः' युगस्य कालस्योत्सर्पिण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव तथा 'चतुर्गतीना च' नरकातिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ॥३॥

तथाः—

तवचारित्तमुणीणं किरियाणं रिद्धिसाहियाणं ।
उवसग्गं सण्णासं संचरणाणिउपं पसंसंति ॥ १ ॥

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४ ॥

'सम्यग्ज्ञानं' भावश्रुतरूप । विशेषेण जानाति । क ? चरणानुयोगसमयं चारित्रप्रतिपादकं शास्त्रामाचारादि । कथंभूत ? चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्ग चारित्रस्योत्पत्तिश्चवृद्धिश्च तासामङ्गकारण अंगानि वा । कारणानि प्ररूप्यन्ते यत्र । केषा तदङ्ग ? 'गृहमेध्यनगाराणा' गृहमेधिनः श्रावकाः अनगारा मुनयस्तेषा ॥ ४ ॥

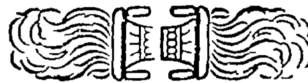
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ५ ॥

'द्रव्यानुयोगदीपो' द्रव्यानुयोगासिद्धान्तसूत्रं तत्वार्थसूत्रादिस्वरूपो द्रव्यागमः स एव दीपः स 'आतनुते' विस्तारयति अशेषविशेषतः प्ररूपयति । के ? 'जीवाजीवसुतत्त्वे' उपयोगलक्षणो जीवः तद्विपरीतोऽजीवः तावेव शोभने अबाधिते तत्वे वस्तुस्वरूपे आतनुते । तथा 'पुण्यापुण्ये' सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि हि पुण्य ततोऽन्यत्कर्मापुण्यमुच्यते ते च मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनाशेषविशेषतो द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । तथा 'बन्धमोक्षौ च'

१ गाथेय क एव । २ द्रव्यानुयोग सिद्धान्तः ख ।

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणहेतुवशादुपार्जितेन कर्मणा सहात्मनः सश्लेषो बन्धः बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षलक्षणोमोक्षस्तावप्यशेषतः द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । कथं [१]श्रुतविद्यालोकं श्रुतविद्या भावश्रुतं सैवालोकः प्रकाशो यत्र तत् । न कर्माणि तद्यथा भवत्येव जीवादीनि स प्रकाशयतीति ॥ ५ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययनटीकाया द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥



१ तेन कर्मणि ग २ प्रशस्तिकेय ख-पुस्तके नास्ति ।

गुणव्रताधिकारस्तृतीयः ॥ ३ ॥



अथ चरित्ररूप धर्मं व्याख्यासुराह,—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ १ ॥

'चरण' हिंसादिनिवृत्तिलक्षण चारित्र । 'प्रतिपद्यते' स्वीकरोति । कोऽसौ ? 'साधु'र्भव्यः । कथभूतः ? अवाप्तसंज्ञानः । कस्मात् ? दर्शनलाभात् । तल्लाभोऽपि तस्य कस्मिन् सति सजातः ? 'मोहतिमिरापहरणे' मोहोदर्शनमोहः स एव तिमिर तस्यापहरणे यथासम्भवमुमशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शनचारित्रमोहस्तिमिरं ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अयमर्थः—दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभः । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः भवत्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमानं सद्दर्शनप्रसादात् सम्यग्व्यपदेशं लभते, तथाभूतश्चात्मा चारित्रमोहापगमे चरण प्रतिपद्यते । किमर्थं ? 'रागद्वेषनिवृत्त्यै रागद्वेषनिवृत्तिनिमित्त ॥ १ ॥

तस्मिन्निवृत्तावेव हिंसादिनिवृत्तेः सभवादित्याहः—

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्त्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

हिंसादे' निवर्तना व्यावृत्तिःकृता भवति । कुतः ? रागद्वेषनिवृत्तेः । अयमत्र तात्पर्यार्थ'—प्रवृत्तरागादिक्षयोपशमादेः हिंसादिनिवृत्तिलक्षणं चरित्र भवति ततो भाविरागादनिवृत्तेरेव प्रकृष्टतरप्रकृष्टतमादि निवर्तते देशसयतादिगुणस्थाने रागादिर्हिसादिनिवृत्तिस्तावद्वर्तते यावन्निःशे-

षरागादिप्रक्षयः तस्माच्च नि.शेपहिंसादिनिवृत्तिलक्षण परमोदासीनतास्व-रूपं परमोत्कृष्टचारित्रं भवतीति । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थमर्थान्तरन्यास-माह—अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् अनपेक्षिताऽनभि-लषिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फलस्य वृत्तिः प्राप्तिर्येन स तथाविधः पुरुषः को नकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी सेवते नृपतीन् ॥ २ ॥

अत्रापरः प्राह—चरण प्रतिपद्यत इत्युक्त तस्य तु लक्षण नोक्तं तदु-च्यता ? इत्याशंक्याह—

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ३ ॥

चारित्र भवति । कासौ ? विरतिर्व्यावृत्तिः । केभ्यः ? हिंसानृतचौ-र्येभ्यः हिंसादीना स्वरूपकथनं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति । न केवलमेतेभ्य एव विरतिः—अपि तु मैथुनसेवापरिग्रहाभ्या । एतेभ्यः कथभूतेभ्यः ? पापप्रणालिकाभ्यः पापस्य प्रणालिका इव पापप्रणालिका आश्रवणद्वाराणि ताभ्यः । कस्य तेभ्यो विरतिः ? संज्ञस्य ससम्यजाना तीति सज्ञः तस्य हेयोपादेयतत्वपरिज्ञानवता ॥ ३ ॥

तच्चेत्थ भूतं चारित्र द्विधा भिद्यत इत्याह,—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥ ४ ॥

हिंसादिविरतिलक्षण यच्चरणं प्राक्प्ररूपित तत् सकल विकल च भवति। तत्र सकल परिपूर्ण महाव्रतरूपं । केपा तद्भवति ? अनगाराणा मुनीना किंविशिष्टाना सर्वसगविरताना बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहिताना । विकलमपरिपूर्णं अणुव्रतरूप । केपा तद्भवति सागाराणा गृहस्थाना कथंभूताना ? ससगाना सग्रन्थानाम् ॥ ४ ॥

तत्र[1] विकलमेव तावद्व्रत व्याचष्टेः—

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥ ५ ॥

गृहिणा सम्बन्धि यत् विकल चरणं तत्त्रेधा त्रिप्रकार तिष्ठति भवति। किंविशिष्ट सत् ? अणुगुणशिक्षाव्रतात्मक सत् अणुव्रतरूप गुणव्रतरूप शिक्षाव्रतरूपं सत् । त्रयमेव तत्प्रत्येकं । यथासंख्य । पंचत्रिचतुर्भेदमाख्यात प्रतिपादित । तथा हि । अणुव्रत पचभेद गुणव्रतं त्रिभेद शिक्षाव्रतं चतुर्भेदमिति ॥ ५ ॥

तत्राणुव्रतस्य तावत्पचभेदान् प्रतिपादयन्नाहः—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥ ६ ॥

'अणुव्रत' विकलव्रत । किं तत् ? व्युपरमण व्यावर्तन यत् । केभ्यः इत्याह प्राणेत्यादि प्राणानामिन्द्रियादिकमतिपातश्चातिपतन वियोगकरणं विनाशन । 'वितथव्याहारश्च' वितथोऽसत्यः स चासौ व्याहारश्च शब्दः । स्तेय च चौर्यं। कामश्च मैथुन। मूर्च्छा च परिग्रहः मूर्च्छा च लोभावेशात् परिगृह्यते इति मूर्च्छा इति व्युत्पत्तेः । तेभ्यः कथभूतेभ्यः ? स्थूलेभ्यः अणुव्रतधारिणो हि सर्वसावद्यविरतेरसभवात् स्थूलेभ्य एव हिंसादिभ्यो व्युपरमण भवति । तर्हि त्रसप्राणातिपातान्निवृत्तो न स्थावरप्राणातिपातात् । तथा पापादिभयात् परपीडादिकारणमिति मत्वा स्थूलादसत्यवचनान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथान्यपीडाकरात् राजादिभयादिना परेण परित्यक्तादप्यदत्तार्थात् स्थूलान्निवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपात्तायाश्च पराङ्गनायाः पापभयादिना निवृत्तो नान्यथा इतिस्थूलरूपाऽब्रह्म-

१ तद इति ग-पुस्तके ।

निवृत्तिः । तथा धनधान्यक्षेत्रादेरिच्छावशात् कृतपरिच्छेदा इति स्थूलरूपात् परिग्रहान्निवृत्तिः । कथभूतेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः ? पापेभ्यः पापाश्रवणद्वारेभ्यः ॥ ६ ॥

तत्राद्यव्रत व्याख्यातुमाहः—

सङ्कल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥ ७ ॥

'चरसत्वान्' त्रसजीवान् 'यन्न हिनस्ति' तदाहुः स्थूलवधाद्विरमण । के ते ? निपुणाः हिंसादिविरतिव्रतविचारदक्षाः । कस्मान्नहिनस्ति ? सकल्पात्[1] सकल्प हिंसाभिसध्यमाश्रित्य । कथंभूतात् संकलपात् ? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमननरूपात् । कस्य सम्बन्धिनः ? योगत्रयस्य मनोवाक्कायत्रयस्य । अत्र कृतवचन कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारितानुविधान[2] परप्रयोगापेक्षमनुवचन । अनुमननवचनं[3] प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं । तथा हि मनसा चरसत्वहिंसा स्वयं न करोमि चरसत्वान् हिनस्ती (स्मी) ति मनः सकल्प न करोमीत्यर्थः मनसा चरसत्वहिंसामन्य न कारयामि चरसत्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामीत्यर्थः । तथा अन्यं चरसत्वहिंसा कुर्वन्त मनसा नानुमन्ये सुन्दरमन्येन कृतमिति मनःसंकल्प न करोमीत्यर्थः । एवं वचसा स्वयं चरसत्वहिंसा न करोमि चरसत्वान् हिनस्मीति स्वयं वचन नोच्चारयामीत्यर्थः । वचसा चरसत्वहिंसा न कारयामि चरसत्वान् हिंसय हिंसयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा वचसा चरसत्वहिंसा कुर्वन्त नानुमन्ये साधुकृतं त्वयेति वचनं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा कायेन चरसत्वहिंसा न करोमि चरसत्वहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने

---

१ सकल्पान्–हिंसामिमन्धिमाश्रित्य ग पुस्तके । २ कारितामिधान ग पुस्तके । ३ अनुवचनं ख–पुस्तके । अनुमनन वचनं ग–पुस्तके ।

स्वयं कायव्यापार न करोमीत्यर्थः। तथा कायेन चरसत्वहिंसा न कारयामि चरसत्वहिंसने कायमज्ञया परं नप्रेरयामीत्यर्थः। तथा चरसत्त्व-हिंसा कुर्वन्तमन्यं नखच्छोटिकादिना कायेन नानुमन्ये। इत्युक्तमहिं-साणुव्रतम् ॥ ७ ॥

तस्येदानीमतीचारानाहः—

छेदनबन्धनपीडनमतिभारा रोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥ ८ ॥

व्यातीचारा विविधा विरूपका वा अतीचारा दोषाः। कति ? पच। कस्य ? स्थूलवधाद्युपरतेः। कथमित्याह छेदनेत्यादि कर्णनासि-कादीनामवयवानामपनयनं. छेदन। अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बन्धनं पीडा दण्डकशाद्यभिवातः। अतिभारारोपणं। न्याय्यभारादधिकभारारो-पण। न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किन्तु आहारवारणापि च आहारस्यअन्न-पानलक्षणस्य वारणा निषेधो धारणा वा निरोधः ॥ ८ ॥

एवमहिंसाणुव्रत प्रतिपाद्येदानीमनृतविरत्यणुव्रतं प्रतिपादयन्नाह —

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ९ ॥

स्थूलश्चासौमृषावादश्च तस्माद्वैरमण विरमणमेववैरमण तद्वदन्ति। के ते ? सन्त· सत्पुरुषा·। गणधरदेवादय·। तत्किं सन्तो वदन्ति किं तत् अलीकमसत्य। कथभूत ? स्थूल यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वधबन्धादिक राजा-दिभ्यो भवति। तत्स्वय तावन्न वदति। तथा। परानन्यान् तथाविधम-लीक न वादयति। न केवलमलीकं किन्तु सत्यमपि चोरोऽयमित्यादि-रूपं न स्वय वदति न परान् वादयति। किं विशिष्टं यदुक्तं सत्यं परस्य विपदेऽपकाराय भवति ॥ ९ ॥

---

१ करोमीत्यर्थ इति क-ख-पाठ।

साम्प्रतं सत्याणुव्रतस्यातीचारानाह:—

परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥ १० ॥

परिवादो मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनि:श्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थ: । रहोऽभ्याख्या रहसि एकान्ते स्त्रीपुसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशन । पैशून्य अंगविकारभ्रूविक्षेपादिभि: पराभिप्राय ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारमन्त्रभेद इत्यर्थ: । कूटलेख करणं च अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वचनानिमित्तं कूटलेखकरण कूटलेखक्रियेत्यर्थ: । न्यासापाहारिता द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसख्यस्याल्पसख्य द्रव्यमाददानस्य एवमेवेत्यभ्युपगमवचनं । एवं परिवादयश्चत्वारो न्यासापहारिता पंचमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पंच व्यतिक्रमा: अतीचारा भवन्ति ॥ १० ॥

अधुना चोर्यविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह:—

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ११॥

अकृशचौर्यात् स्थूलचौर्यात् । उपारमण तत् । यत् किं यत् नहरति न गृण्हाति । किं तत् ? परस्वं परद्रव्य । कथंभूत ? निहितं वा धृत । तथा पतितं वा । तथा सुविस्मृत वा अतिशयेन विस्मृतं । वा शब्द: सर्वत्र परस्परसमुच्चये । इत्थभूत परस्व अविसृष्ट अदत्तं यत्स्वय न हरति न दत्तेऽन्यस्मै तदकृशचौर्यादुपारमण प्रतिपत्तव्यम् ॥ ११ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह:—

चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥ १२ ॥

अस्तेये चौर्यविरमणे। व्यतीपाता अतीचाराः पंच भवन्ति। तथा हि। चोरप्रयोगः चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरण प्रेरितस्य वा अन्येनानुमोदनं। चौरार्थादान च अप्रेरितेनाननुमतेन च चोरेणानीतस्यार्थस्यग्रहण। विलोपश्च उचितन्यायादनपेतप्रकारेणार्थस्यादान विरुद्धराज्यातिक्रम इत्यर्थः विरुद्धराज्ये ह्यालपमूल्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति। सदृशसन्मिश्रश्च प्रतिरूपकव्यवहार इत्यर्थः सदृशेन तैलादिना सन्मिश्र घृतादिकं करोति। कृत्रिमैश्च हिरण्यादिभिर्वंचनापूर्वक व्यवहारं करोति। हीनाधिकविनिमान विविधं नियमेन मानं विनिमान मानोन्मानमित्यर्थ मान हि प्रस्थादि, उन्मानं तुलादि तच्च हीनाधिक हीनेन अन्यस्मै ददाति अधिकेन स्वय गृण्हातीति ॥ १२ ॥

साम्प्रतमब्रह्मविरत्यणुव्रतस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह:—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च
पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारस-
न्तोषनामापि ॥ १३ ॥

'सा परादारनिवृत्तिः' यत् परदारान् परिगृहीतानपरिगृहीताश्च स्वयं 'न च' नैव गच्छति। तथा परान्[1]न्यान् परदारलम्पटान् न गमयति * परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च *। कुत[2] पापभीतेः पापोपार्जनभयात् न पुनः नृपत्यादिभयात्। न केवलं सा परदारनिवृत्तिरेवोच्यते किन्तु[2] स्वदारसन्तोषनामापि स्वदारेषु सन्तोषः स्वदारसन्तोपस्तन्नामयस्याः[3] ॥ १३ ॥

तस्यातीचारानाह[4]:—

---

१ परदारान् क-ख-पाठ। * पुष्पमध्यगतो पाठ ग-पुस्तके नास्ति। २ अपि तु ख ग-पाठ। ३ यस्य क-पाठ। ४ अस्य ग-पाठ।

अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृपः ।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥ ॥ १४

'अस्मरस्याब्रह्मनिवृत्त्यणुव्रतस्य' पच व्यतीचाराः । कथमित्याह— अन्येत्यादि कन्यादान विवाहोऽन्यस्य विवाहोऽन्यविवाहः तस्य आसमन्तात् करण तच्च अनङ्गक्रीडाच अगं लिंग योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रवेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा । विटत्व भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोगः विपुलतृपश्च कामतीव्राभिनिवेशः । इत्वरिकागमन च परपुरुषानेति गच्छतीत्येव शीला इत्वरी पुश्चली कुत्साया के कृते इत्वरिका भवति तत्र गमनं चेति ॥ १४ ॥

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुव्रतस्य स्वरूपं दर्शयन्नाहः—

धनधान्यादिग्रन्थंपरिमाय ततोऽधिकेपुनिःस्पृ-
हता । परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाण-
नामापि ॥ १५ ॥

'परिमितपरिग्रहो' देशतः परिग्रहविरतिरणुव्रत स्यात् । कासौ ? या 'ततोऽधिकेषु' 'निस्पृहता' ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिसख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छाव्यावृत्तिः । किं कृत्वा ? 'परिमाय' देवगुरुपादाग्रे परिमित कृत्वा । क ? धनधान्यादिग्रन्थं धन गवादि, धान्यं व्रीह्यादि । आदिशब्दाद्दासीदासभार्यागृहक्षेत्रद्रव्यसुवर्णरूप्याभरणवस्त्रा-दिसंग्रहः । स चासौ ग्रन्थश्च त परिमाय । स च परिमितपरिग्रहः इच्छा-परिमाणनामापि स्यात्, इच्छायाः परिमाण यस्य स इच्छापरिमाणस्त-न्नाम यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

तस्यातिचारानाहः—

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ १६ ॥

'विक्षेपा' अतीचारः। पच 'लक्ष्यन्ते' निश्चीयन्ते। कस्य ? परिमितपरिग्रहस्य न केवलमहिंसाद्यणुव्रतस्य पंचातीचारा निश्चीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि। चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे। के तस्यातीचारा इत्याह'—अतिवाहनेत्यादि लोभातिगृद्धिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते-पुनर्लोभावेशवशादतिवाहन करोति यावन्त हि मार्ग बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽप्यतिरेकेण वाहनमतिवाहनं। अतिशब्दः प्रत्येक लोभान्ताना सम्बध्यते। इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्ट लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत् संग्रह करोति। तत्प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसग्रहीते वाधिकेऽर्थे तत्क्रयाणकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मय विपाद करोति। विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकाक्षावशादतिलोभ करोति। लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवाहन। ते विक्षेपाः पच॥ १६॥

एव प्ररूपितानि पचाणुव्रतनि निरतिचाराणि किं कुर्वन्तीत्याहः—

पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥ १७॥

फलन्ति फलं प्रयच्छन्ति। के ते ? पचाणुव्रतनिधयः पचाणुव्रतान्येव निधयो निधानानि। कथभूतानि ? निरतिक्रमणा निरतिचाराः। किं फलन्ति ? सुरलोक। यत्र सुरलोके लभ्यन्ते। कानि ? अवधिरवधिज्ञान। अष्टगुणा अणिमामहिमेत्यादयः। दिव्यशरीर च सप्तधातुविवर्जित शरीर। एतानि सर्वाणि यत्र लभ्यन्ते॥ १७॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसाद्यणुव्रतानुष्टानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन परलोकार्थं तदनुष्ठीयते इत्याशक्याहः—

मातंगो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः।
नीली जयश्च संप्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम्॥ १८॥

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मातगेन चाडालेन उत्तमः पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा।

सुरम्यदेशे पोदनपुरे[1] राजा महाबलः । नन्दीश्वराष्टम्या राज्ञा अष्टदिनानि जीवामारणघोषणाया कृताया बलकुमारेण चात्यन्तमांसासक्तेन कंचिदपि पुरुषमपश्यता राजोद्याने[2] राजकीयमेण्ढकः प्रच्छन्नेन मारयित्वा सस्कार्य भक्षितः । राज्ञा च मेण्ढकमारणवार्तामाकर्ण्य रुष्टेन मेण्ढकमारको गवेषयितु प्रारब्धः । तदुद्यानमालाकारेण च वृक्षोपरिचटितेन स तन्मारण कुर्वाणो दृष्टः । रात्रौ च निजभार्यायाः कथितं ततः प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ण्य राज्ञः कथित । प्रभाते मालाकारोऽप्याकारितः । तेनैव पुनः कथित । मदीयामाज्ञा मम पुत्रः खण्डयतीति । रुष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो बलकुमार नवखण्ड कारयेति ततस्तं कुमार मारणस्थान नीत्वा मातङ्गमानेतु ये गताः पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्त प्रिये ! मातङ्गो ग्राम गत इति कथय त्वमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोणे प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तलारैश्चाकारिते मातङ्गे ! कथित मातग्या सोऽद्य ग्रामं गतः । भणितं च तलारैः स पापोऽपुण्यवानद्य ग्राम गतः कुमारमारणात्तस्य बहुसुवर्णरत्नादिलाभो भवेत् तेषा वचनमाकर्ण्य द्रव्यलुब्धया तया[3] हस्तसंज्ञया स दर्शितो ग्रामं गत इति पुनः पुनर्भणन्त्या । ततस्तैस्त गृहान्नि.सार्य तस्य मारणार्थं स कुमारः समर्पितः । तेनोक्तं नास्य (द्य) चतुर्दशीदिने जीवघात करोमि । ततस्तलारैः स नीत्वा राज्ञः कथितः देव ! अय राजकुमारं न मारयति । तेन च राज्ञः कथित सर्पदष्टो मृतः श्मशाने निक्षिप्तः सर्वौषधिमुनिशरीरस्य वायुना पुनर्जीवितोऽहं तत्पार्श्वे चतुर्दशीदिवसे मया जीवाहिंसाव्रत गृहीतमतोऽद्य

---

१ पोदनापुरे क-ग-पाठ । २ राजोद्याने ख-ग पाठ । ३ तया मातङ्गभार्यया ग-पाठ ।

न मारयामि देवो यज्जानति तत्करोतु । अस्पृश्यचाण्डालस्य व्रतमिति संचिन्त्य रुष्टेन राज्ञा द्वावपि गाढं बन्धयित्वा सुमारद्रहे[1] निक्षेपितौ । तत्र मातङ्गस्य प्राणात्ययेऽप्यहिंसाव्रतमपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनेमणिमण्डपिकादुन्दभिसाधुकारादिप्रतिहार्यादिकं[2] कृतं । महावलराजेन चैतदाकर्ण्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतलेस्नोपयित्वा[3] स स्पृश्यो विविष्टे[4] कृत इति प्रथमाणुव्रतस्य ।

अनृतविरत्यणुव्रताद्धनदेवश्रेष्ठिना पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा ।

जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविषये पुण्डरीकिण्या पुर्या वणिजौ जिनदेवधनदेवौ स्वल्पद्रव्यौ । तत्र धनदेवः सत्यवादी द्रव्यस्य लाभं द्वावप्यर्धमर्धं गुहीष्याव इति निःसाक्षिका व्यवस्था कृत्वा दूरदेश गतौ वहुद्रव्यमुपार्ज्य व्याघुव्य कुशलेन पुण्डरीकिण्यामायातौ । तत्र जिनदेवो लाभार्थ (र्धं) धनदेवाय न ददाति । स्तोकद्रव्यमौचित्येन ददाति ततो झकटके[5] न्याये च सति स्वजनमहाजनराजाग्रतो निःसाक्षिकव्यवहारवलाज्जिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्ध भणितमुचितमेव भणितं । धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव । ततो राजनियमात्तयोर्द्रव्यं दत्त धनदेवः शुद्धो नेतरः ततः सर्वं द्रव्य धनदेवस्य समर्पितं तथा सर्वैः पूजित· साधुकारितश्चेति द्वितीयाणुव्रतस्य ।

अचौर्यविरत्यणुव्रताद्वारिषेणेन पूजातिशयः प्राप्तः । अस्य कथा स्थितिकरणगुणव्याख्यानप्रगट्टके 'कथितेह[6] दृष्टव्येति तृतीयाणुव्रतस्य' ।

---

१ शिशुमारहृदे पाठ ग पुस्तके । २ सिंहासनमणिमण्डपिकादेवकादुंदुभिसाधुकारादिप्रातिहार्यंकृत पाठ । ३ स्थापयित्वा ग ४ सस्पृश्यो विशिष्ट कृतः इति पाठ । ५ कटकेति पाठ । ६ तत्र, इति सुष्टु ।

ततः परं नीली जयश्च। ततस्तेभ्यः परं यथा भवन्त्येवं पूजातिशयं प्राप्तौ। तत्राब्रह्मविरत्यणुव्रतान्नीली वणिक्पुत्री पूजातिशय प्राप्ता।

अस्याः कथा।

लोटदेशे[1] भृगुकच्छपत्तने राजा वसुपालः। वणिग्जिनदत्तो भार्या जिनदत्ता पुत्री नीली अतिशयेन रूपवती। तत्रैवापरः श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्रः सागरदत्तः। एकदा महापूजाया वसन्तौ कायोत्सर्गेण संस्थिता सर्वाभरणविभूपिता नीलीमालोक्य सागरदत्तेनोक्त किमेपापि देवता काचिदे तदाकर्ण्य तन्मित्रेण प्रियदत्तेन भणित—जिनदत्तश्रेष्ठिन इय पुत्री नीली। तद्रूपालोकनादतीवासक्तो भूत्वा कथमिय प्राप्यत इति तत्परिणयनचिन्तया दुर्बलो जातः। समुद्रदत्तेन चैतदाकर्ण्य भणितः—हे पुत्र! जैनं मुक्त्वा नान्यस्य जिनदत्तो ददातीमा पुत्रिका परिणेतुं। ततस्तौ कपटश्रावकौ जातौ परिणीता च सा ततः पुनस्तौ बुद्धभक्तौ जातौ, नील्याश्च पितृगृहे गमनमपि निपिद्ध, एवं वंचनेजाते भणितं जिनदत्तेन इयं मम न जाता कूपादौ वा पतिता यमेन वा नीता इति। नीली च श्वशुरगृहे भर्तुः वल्लभा भिन्नगृहे जिनधर्ममनुष्ठतीति दर्शनात् ससर्गाद्वचनधर्मदेवाकर्णनाद्वा कालेनेय बुद्धभक्ता भविष्यतीति पर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता नीली-पुत्रि! ज्ञानिना वन्दकानामस्मदर्थे भोजनं देहि। ततस्तया वन्दकानामामंत्र्याहूय च तेपामेकैका प्राणहितातिपिष्टा संस्कार्य तेषामेव भोक्तुं दत्ता। तैर्भोजनं भुक्त्वा गच्छाद्भिः प्रष्ट-क प्राणहिताः[2] तयोक्तभवन्त एव ज्ञानेन जानन्तु यत्र तास्तिष्ठान्ति यदि पुनर्ज्ञान नास्ति तदा वमनं कुर्वन्तु भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठन्तीति। एव वमन कृतं दृष्टानि प्राणहिताखण्डानि। ततो रुष्टश्च श्वशुरपक्षजनः। ततः सागरदत्तभगिन्या कोपात्तस्या असत्यपरपुरुपदोपोद्भावना कृता। तस्मिन् प्रसिद्धि

१ ललाटेदेशे ग। २ मृष्टा ग.

गते सा नीली देवाग्रे सगृहीत्वा कायोत्सर्गेण स्थिता दोषोत्तारे भोजनादौ प्रवृत्तिर्मम नान्यथेति । ततः क्षुभितनगरदेवतया आगत्य रात्रौ सा भणिता- हे महासति ! मा प्राणत्यागमेव कुरु अहं राज्ञः प्रधानाना पुरजनस्य स्वप्न ददामि । लग्ना यथा नगरप्रतोल्यः कीलिता महासती वामचरणेन संस्पृश्य उद्धरिष्यन्तीति ताश्च प्रभाते भवच्चरण स्पृष्ट्वा एव वा उद्धरिष्यन्तीति पादेन प्रतोली स्पर्शं कुर्यास्त्वमिति भणित्वा राजादीना तथा स्वप्न दर्शयित्वा पत्तनप्रतोलीः कीलित्वा स्थिता सा नगरदेवता प्रभाते कीलिताः प्रतोलीर्दृष्ट्वा राजादिभिस्त स्वप्नं स्मृत्वा नखरस्त्रीचरणताडन प्रतोलीना कारित । न चैकापि प्रतोली कयाचिदप्युद्धरिता । सर्वासा पश्चान्नीली तत्रोत्क्षिप्य नीता । तच्चरणस्पर्शात् सर्वा अप्युद्धरिताः प्रतोल्यः, निर्दोषा राजादिपूजिता नीली जाता चतुर्थाणुव्रतस्य ।

परिग्रहविरत्यणुव्रताज्जयः पूजातिशयं प्राप्तः ।

अस्य कथा

कुरुजागलदेशे हस्तिनागपुरे कुरुवंशे राजा सोमप्रभः पुत्रो जयः परिमितपरिग्रहो भार्यासुलोचनायामेव प्रवृत्तिः। एकदा पूर्वविद्याधरभवकथनानन्तरं समायातपूर्वजन्मविद्यो[1] हिरण्यधर्मप्रभावती विद्याधररूपमादाय च मेर्वादौ वन्दनाभक्तिं कृत्वा कैलासगिरौ भरतप्रतिष्ठापितचतुर्विंशतिजिनालयान् वन्दितुमायातौ सुलोचनाजयौ । तत्प्रस्तावे च सौधर्मेन्द्रेण जयस्य स्वर्गे परिग्रहपरिमाणव्रतप्रशसा कृता । ता परीक्षितु रतिप्रभदेवः समायातः । तत स्त्रीरूपमादाय चतसृभि र्विलासिनीभिः सह जयसमीप गत्वा भणितो जयः। सुलोचनास्वयंवरे येन त्वया सह सग्रामः कृतः तस्य नमिविद्याधरपते राज्ञीं सुरूपामभिनवयौवना सर्वविद्याधारिणीं

1 जन्माद्य. ग. घ. । 2 वर्म ग. घ. ।

तद्विरक्तचित्तामिच्छ यदि तस्य राज्यमात्मजीवितं च वाञ्छसीति । एतदाकर्ण्य जयेनोक्त हे सुन्दरि ! मैवं ब्रूहि परस्त्री मम जननीसमानेति । ततस्तया जयस्योपसर्गे महति कृतेऽपि चित्त न चालितं । ततो मायामुपसंहृत्य पूर्ववृत्तं कथयित्वा प्रशस्य वस्त्रादिभिः पूजयित्वा स्वर्गं गत इति पंचाणुव्रतस्य ॥ १८ ॥

एवं पंचानामहिंसादिव्रताना प्रत्येक गुण प्रतिपाद्येदानीं तद्विपक्षभूताना हिंसाद्युपेताना दोष दर्शयन्नाह;—

धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथक्रमम् ॥ १९ ॥

धनश्री श्रेष्ठिनी हिंसातो बहुप्रकार दुःखफलमनुभूत । सत्यघोषपुरोहितेनानृतात् । तापसेन चौर्यात् । आरक्षकेन कोट्टपालेन ब्रह्मणि वृत्त्यभावात् । ततोऽव्रतप्रभवदुःखानुभवने उपाख्येया दृष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्याः । के ते । धनश्रीसत्यघोषौ च । न केवल एता एव किन्तु तापसारक्षकावपि । तथा तेनैव प्रसिद्धप्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वणिक्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्यभावतो बहुतरदुःखमनुभूत । यथाक्रम उक्तक्रमानतिक्रमेण हिंसादिविरत्यभावे एते उपाख्येयाः प्रतिपाद्याः । तत्र धनश्री हिंसातो बहुदुःख प्राप्ता

अस्या कथा ।

लाटदेशे भृगुकच्छपत्तने राजा लोकपालः । वणिग्धनपालो भार्या धनश्री मनागपि जीववधेऽविरता । तत्पुत्री सुन्दरी पुत्रो गुणपालः । अत्र काले धनश्रिया यः पुत्रबुद्धया कुण्डलो नाम बालकः पोषितः, धनपाले मृते तेन सह धनश्री कुकर्मरता जाता । गुणपले च गुणदोषपरिज्ञानके जाते धनश्रिया तच्छकितया भणितः प्रसरे गोधनं चारयितुमटव्या गुणपाल प्रेषयामि लग्नस्त्वं

तत्र मारय येनावयोर्निरंकुशमवस्थानं भवतीति ब्रुवाणा मातरमाकर्ण्य सुन्दर्या गुणपालस्य कथितं—अद्य रात्रौ गोधनं गृहीत्वा प्रसरे त्वामटव्या प्रेषयित्वा कुण्डलहस्तेन माता मारयिष्यत्यतः सावधानो भवेस्त्वमिति । धनश्रिया च रात्रिपश्चिमप्रहरे गुणपालो भाणितो हे पुत्र कुंडलस्य शरीरं विरूपकं वर्तते अतः प्रसरे गोधनं गृहीत्वाद्य त्वं व्रजेति । स च गोधनमटव्या नीत्वा काष्ठं च वस्त्रेण पिधाय तिरोहितो भूत्वा स्थितः । कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति मत्वा वस्त्रप्रच्छादितकाष्ठे घातः कृतो गुणपालेन च स खड्गेण हत्वा मारितः। गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः क्व रे कुण्डलः तेनोक्तं कुण्डलवार्तामयं खड्गोऽभिजानाति । ततो रक्तलिप्त बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारितः । त च मारयन्तीं धनश्रियं दृष्ट्वा सुन्दर्या मुशलेन सा हता । कोलाहले जाते कोट्टपालै धनश्री धृत्वा राज्ञोऽग्रेनीता । राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासिकाछेदनादिनिग्रहे कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुव्रतस्य ।

सत्यघोषोऽनृताद्बहुदुःख प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा ।

जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिंहपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्तः, पुरोहितः श्रीभूतिः स ब्रह्मसूत्रे कर्तिका बध्वा भ्रमति । वदति च यद्यसत्य ब्रवीमि तदाऽनया कत्रिकया निजजिन्हाच्छेद करोति (मि) । एव कपटेन वर्तमानस्य तस्य सत्यघोष इति द्वितीय नाम सजात. । लोकाश्च विश्वस्तास्तत्पार्श्वे द्रव्य धरन्ति च । तद्रव्य किंचित्तेषा समर्प्य स्वयं गृह्णाति । पूत्कर्तुं च बिभेति लोकः । न च पूत्कृत राजा शृणोति । अथैकदा पद्मखण्डपुरादागत्य समुद्रदत्तो वणिपुत्रस्तत्र सत्यघोषपार्श्वेऽनर्घाणि पच माणिक्यानि धृत्वा परतीरे द्रव्यमुपार्जयितु गत. । तत्र च तदुपार्ज्य व्याघुटितः स्फुटितप्रवहण

एकफलेकेनोत्तीर्य समुद्रं धृतमाणिक्यवाञ्छया सिंहपुरे सत्यघोपसमीप मायात । तं च रकसमानमागच्छन्तमालोक्य तन्माणिक्यहरणार्थिना सत्यघोपेण प्रत्ययपूरणार्थं समीपोपविष्टपुरुषाणा कथित । अय पुरुषः स्फुटितप्रवहणः ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि याचिष्यतीति। तेनागत्य प्रणम्य चोक्त भो सत्यघोष पुरोहित ! ममार्थोपार्जनार्थं गतस्यो-पार्जनार्थस्य महानर्थोजात इति मत्वा यानि मया तव रत्नानि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसाद कृत्वा देहि । येनात्मान स्फुटितप्रवहणात् गतद्रव्य समुद्धरामि । तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन सत्यघोपेण समीपो-पविष्टा जना भणिता मया प्रथम यद् भणित तद् भवता सत्य जात । तैरुक्तं भवन्त एव जानन्त्यय ग्रहिलोऽस्मात् स्थानान्निः-सार्यतामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृहान्निःसारितः ग्रहिल इति भयणमानः। पत्तने पूत्कारं कुर्वन् ममानर्घ्यपचमाणिक्यानि सत्यघोषेण गृहीतानि तथा राजगृहसमीपे चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूत्कार कुर्वन् पणमसान् स्थित ता पूत्कृतिमाकर्ण्य रामदत्तया भणितः सिंहसेनः—देव ! नाय पुरुषः ग्रहिलः। राज्ञापि भणित किं सत्यघोषस्य चौर्यं संभाव्यते ? । पुनरुक्त राज्ञ्या देव ! संभाव्यते तस्य चौर्यं यतोऽ-यमेतादृशमेव सर्वदा वचनं ब्रवीति । एतदाकर्ण्य भणित राज्ञा यदि सत्यघोषस्यैतत् सभाव्यते तदा त्व परीक्षयेति । लब्धादेशाया रामदत्तया सत्यघोपो राजसेवार्थमागच्छन्नाकार्य पृष्टः—किं बृहद्वेलायामागतोऽसि ? तेनोक्त—मम ब्राह्मणीभ्राताद्य प्राघूर्णकः समायातस्ते भोजयतो बृहद्वेला लग्नेति । पुनरप्युक्त तया—क्षणमेकमत्रोपविश ममातिकौतुकं जातं । अक्षक्रीडा कुर्मः । राजापि तत्रैवागतस्तेनाप्येव कुर्वित्युक्त । ततोऽक्षद्यूते क्रीडया संजाते रामदत्तया निपुणमतिविलासिनी कर्णे लगित्वा भणिता सत्यघोषः पुरोहितो राज्ञीपार्श्वे तिष्ठति तेनाहं ग्रहिल-

माणिक्यानि याचितु प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यग्रे भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तया गत्वा याचितानि । तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषिद्धया न दत्तानि । तद्विलासिन्या चागत्य देविकर्णे कथितं सा न ददातीति । ततो जितमुद्रिका तस्य साभिज्ञानं दत्त्वा पुनः प्रेषिता तथापि तया न दत्तानि । ततस्तस्य कर्त्रिका यज्ञोपवीतं जितं साभिज्ञानं दत्तं दर्शितं च । तया ब्राह्मण्या तद्दर्शनाद्दुष्टया भीतया च तया समर्पितानि माणिक्यानि तद्विलासिन्याः । तया च रामदत्तायाः समर्पितानि । तया च राज्ञो दर्शितानि । तेन च बहुमाणिक्यमध्ये निक्षेप्याकार्य च ग्रहिलो भणितः रे निजमाणिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च तथैव गृहीतेषु तेषु राज्ञा रामदत्तया च पुत्रः प्रतिपन्नः । ततो राज्ञा सत्यघोषः पृष्टः—इदं कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्तं देव ! न करोमि किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते ? । ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य दण्डत्रयं कृतं । गोमयभृतं भाजनत्रयं भक्षय, मल्लमुष्टिघातं वा सहस्व, द्रव्यं वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमारब्धं । तदशक्तेन मुष्टिघातः सहितुमारब्धः । तदशक्तेन द्रव्यं दातुमारब्धं । तदशक्तेन गोमयभक्षणं पुनर्मुष्टिघात इति । एवं दण्डत्रयमनुभूय मृत्वातिलोभवशाद्राजकीयभाण्डागारे अगधनसर्पो जातः । तत्रापि मृत्वा दीर्घसंसारी जात इति द्वितीयव्रतस्य ।

तापसश्चौर्याद्बहुदुःखं प्राप्तः ।

इत्यस्य कथा ।

वत्सदेशे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहरथो राज्ञी विजया । तत्रैकश्चौरः कौटिल्येन तापसो भूत्वा परभूमिमस्पृशदवलम्बमानशिक्यस्थो दिवसे पञ्चाग्निसाधनं करोति । तत्र च कौशाम्बीं मुषित्वा तिष्ठति । एकदा महाजनान्मुष्टं नगरमाकर्ण्य राज्ञा कोट्टपालो भणितो रे

यात्रायां निर्गतः । अथ गच्छतस्य ममैकः कार्पटिको मिलितो न तस्य निर्वाणं गच्छाम्यहं यष्टिस्था गमनं करोमि । तेनाऽऽकलिता यष्टिः सगे बिभर्ति । एकदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रा कृत्वा दूरं गत्वा तेन निजमस्तके लग्न कुथिततृणमालोक्याति कूटकूटे ममाग्रतो, हा हा मया नोक्त परतृणमदत्त ग्राह्यमित्युक्त्वा व्याघुट्य तृण तत्रैव कुम्भकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममागत्य मिलितः । भिक्षार्थ गच्छतस्तस्याति शुचिरयमिति मत्वा विश्वसितेन मया यष्टि कुक्कुरादिवारणार्थं समर्पिता । ता गृहीत्वा स गत (२) । ततो मया महाटव्या गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽतिकुर्कुट दृष्ट यथा एकस्मिन् महति वृक्षे मिलिताः पक्षिगणो रात्रावेकेनातिवृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो रे रे पुत्राः [2] अह अतीव गन्तु न शक्नोमि बुभुक्षितमनाः कदाचिद्भवत्पुत्राणा भक्षण करोमि चित्तचापल्यादतो मम मुखं

१ शाम्वलार्थमिति ख, ग ।

प्रभाते बध्वा सर्वेऽपि गच्छन्तु । तदुक्त हा हा तात ! पितामहस्त्व किं तवैतत् संभाव्यते ? तेनोक्तं—" बुभुक्षितः किं न करोति पाप " इति । एव प्रभाते तस्य पुनर्वचनात् तन्मुख बद्ध्वा गताः । स च बद्धो गतेषु चरणाभ्या मुखाद्बन्धन दूरीकृत्वा तद्बालकान् भक्षयित्वा तेषामागमन-समये पुन· चरणाभ्या बन्धनं मुखे सयोज्यातिकुर्कुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थितः (३) । ततो नगरगतेन चतुर्थमतिकुर्कुट दृष्ट मया यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तपस्विरूपं धृत्वा बृहच्छिला च मस्तकस्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्व गृहीत्वा नगरमध्ये दिवा रात्रौ चातिकुर्कुटेनापसरपाद ददामीति भणन् भ्रमति । 'अपसरजीवेति' चासौ भक्तसर्वजनैर्भण्यते । स च गर्तादिविजनस्थाने दिगवलोकनं कृत्वा सुवर्णभूपितमेकाकिन प्रणमन्त तया शिलया मारयित्वा तद्रव्यं गृह्णाति (४) । इत्यातिकुर्कु-टचतुष्टयमालोक्य मया श्लोकोऽय कृतः—

अबालस्पर्शका नारी ब्राह्मणस्तृणहिंसकः ।
वने काष्ठमुखः पक्षी पुरेऽपसरजीवकः ॥ इति

इति कथयित्वा तलार धीरयित्वा सन्ध्याया ब्राह्मणः शिक्यतपास्विसमीपं गत्वा तपस्विप्रतिचारकैर्निर्धार्यमाणोऽपि रात्र्यन्धो भूत्वा तत्र पतित्वैकदेशे स्थित । ते च प्रतिचारकाः रात्र्यन्धपरीक्षणार्थं तृणकडुकाङ्गुल्यादिकं तस्याक्षिसमीप नयन्ति । स च पश्यन्नपि न पश्यति । बृहद्रात्रौ गुहा-यामन्धकूपे नगरद्रव्य ध्रियमाणमालोक्य तेषा खानपानादिकंचालोक्य प्रभाते राज्ञा मार्यमाणस्तलारोरक्षित· तेन रात्रिदृष्टमावेद्य संशिक्यतपस्वी चौरस्तेन तलारेण बहुकदर्थनादिभि कदर्थ्यमानो मृत्वा दुर्गतिं गतस्तृती-यव्रतस्य ।

आरक्षिणाऽब्रह्मनिवृत्त्यभावाद्दुःख प्राप्तम् ।

अस्य कथा ।

आहीरदेशे नासिक्यनगरे राजा कनकरथो राज्ञी कनकमाला, तलारो यमदण्डस्तस्य माता बहुसुन्दरी तरुणरण्डा पुंश्चली । सा एकदा वध्वा वस्तु समर्पितमाभरणं गृहीत्वा रात्रौ संकेतितजारपार्श्वे गच्छन्ती यमदण्डेन दृष्ट्वा सेविता चैकान्ते । तदाभरणं आनीय तेन निजभार्याया दत्तं । तया च दृष्ट्वा भणितं—मदीयमिदमाभरणं, मया श्वश्रूहस्ते धृतं । तद्वचनमाकर्ण्य तेन चिन्तितं या मया सेविता सा मे जननी भविष्यति । ततस्तस्या जारसंकेतगृहं गत्वा तां सेवित्वा तस्यामासक्तो गूढवृत्त्या तया सह कुकर्म सेवमानस्तिष्ठति । एकदा तद्भार्यया असहनादिति रुष्टया रजक्याः कथितं । मम भर्ता निजमात्रा सह तिष्ठति । रजक्या च मालाकारिण्याः कथितं । अतिविश्वस्ता मालाकारिणी च कनकमालाराज्ञीनिमित्तं पुष्पाणि गृहीत्वा गता । तया च पृष्टा सा कुतूहलेन, जानासि हे किमपूर्वा वार्ता । तया तत्कारभिष्ठतया कथितं राज्ञि देवि ! यमदण्डतलारो निजजनन्या सह तिष्ठति । कनकमालया च राज्ञः कथितं । राजा गूढपुरुषद्वारेण तस्य कुकर्म निश्चित्य तलारो गृहीतो दुर्गतिं गतः चतुर्थव्रतस्य ।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् श्मश्रुनवनीतेन बहुतरं दुःखं प्राप्तं ।

अस्य कथा ।

अस्त्ययोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो लुब्धदत्तः वाणिज्येन दूरं गतः । तत्र स्वमुपार्जितं तस्य चौरैर्नीतं । ततोऽतिनिर्धनेन तेन मार्गे आगच्छता तत्रैकदा गोदुहः तक्रं पातुं याचितं । तक्रे पीते स्तोकं नवनीतं कूर्चेलग्नमालोक्य गृहीत्वा चिन्तितं तेन वाणिज्यं भविष्यत्यनेन मे, एवं च तत्संचितं तत् स्वस्य श्मश्रुनवनीतं इति नाम जातं । एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजनं पादान्ते

---

१ अहीरदेशे ख, ग । २ गोकुले ख. ग घ ।

घृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादान्ते कृत्वा[1] रात्रौ सस्तरे पतितः संचिन्तयति अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुपार्ज्य सार्थवाहो भूत्वा सामन्तमहासामन्तराजाधिराजपद प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती भविष्यामि यदा तदा च मे सप्ततलप्रसादे शय्यागतस्य पादान्ते समुपविष्ट स्त्रीरत्नं पादौ मुष्ट्या ग्रहीष्यति न जानासि पादमर्दन कर्तुमिति स्नेहेन भाणित्वा स्त्रीरत्नमेवं पादेन ताडयिष्यामि एव चिन्तयित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातित तद्घृतभाजन तेन च घृतेन द्वारसंधुक्षितोऽग्निः सुतरा प्रज्वालित । ततो द्वारे ज्वलिते निसर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गतः। इच्छाप्रमाणरहितपचमव्रतस्य ॥ १८ ॥

यानि चेमानि पचाणुव्रतान्युक्तानि मद्यादित्रयत्यागसमन्वितान्यष्टौ मूलगुणा भवन्तीत्याह·—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौमूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ २० ॥

गृहिणामष्टौ मूलगुणानाहु । के ते ? श्रवणोत्तमा जिना । किं तत् ? अणुव्रतपचक । कैः सह ? 'मद्यमासमधुत्याग·' मद्य च मास च मधु च तेषा त्यागास्तैः ॥ २० ॥

एव पचप्रकारमणुव्रत प्रतिपाद्येदानीं त्रिःप्रकार गुणव्रत प्रतिपादयन्नाह·—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥ २१ ॥

"आख्यान्ति" प्रतिपादयन्ति । कानि ? 'गुणव्रतानि" । के ते ? "आर्या" गुणैर्गुणवद्भिर्वाअर्यन्ते प्राप्यन्त इत्यार्यास्तीर्थकरदेवादय । किं तद्गुणव्रत ? "दिग्व्रत" दिग्विरतिं । न केवलमेतदेव किन्तु 'अनर्थद-

[1] कृत्वा ग.।

ण्डव्रतं" चानर्थदण्डविरतिं । तथा "भोगोपभोगपरिमाण" सकृद्भुज्यत इति भोगोऽशनयानगन्धमाल्यादिः पुनः पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वस्त्राभरणयानजंपानादिस्तयोः परिमाणं कालनियमनं यावज्जीवनंवा । एतानि त्रीणि कस्माद्गुणव्रतान्युच्यन्ते "अनुबृंहणात" वृद्धिनयनात् । केषा "गुणानाम्, अष्टमूलगुणानाम्" ॥ २१ ॥

तत्र दिग्व्रतस्वरूप प्ररूपयन्नाह,—

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यमि ।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ २२ ॥

'दिग्व्रत' भवति । कोऽसौ ? 'सकल्पः' । कथंभूतः ? 'अहं वहिर्न यास्यामी'त्येव रूपः । किं कृत्वा ? 'दिग्वलयं परिगणित कृत्वा' समर्यादं कृत्वा । कथ ? 'आमृति' मरणपर्यन्तं यावत् । किमर्थं ? 'अणुपापविनिवृत्यै' सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्यर्थम् ॥ २२ ॥

तत्र दिग्वलयस्य परिगणितत्वे कानि मर्यादा इत्याहः—

मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥ २३ ॥

प्राहुर्मर्यादाः । कानीत्याह—'मकराकरे'त्यादि मकराकरश्च समुद्रः, सरितश्च नद्यो गंगाद्याः, अटवी दडकारण्यादिका, गिरिश्च पर्वतः सह्यविन्ध्यादिः, जनपदो देशो वराट वापीलटादिः, योजनानि विंशतिर्त्रिंशतादिसंख्यानि । किं विशिष्टान्येतानि ? प्रसिद्धानि दिग्विरतिमर्यादाना दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि । कासा मर्यादाः ? दिशा । कतिसख्यावच्छिन्नाना दशाना । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादाः ? प्रतिसहारे इतः परतो न यास्यामीति व्यावृतौ ॥ २३ ॥

एवं दिग्विरतिव्रतं धारयता मर्यादातः परतः किं भवतीत्याहः—

---

१ स्त्रीजनोपसेवनादि ख. । २ जम्पत्यादीति लक्ष्यते ।

अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ २४॥

अणुव्रतानि प्रपद्यन्ते । का ? पंचमहाव्रतपरिणतिं । केषा । धारयता । कानि ? दिग्व्रतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? अनुपाप प्रति विरतेः सूक्ष्ममतिपाप प्रति विरते· व्यावृत्ते· । क ? वहि· । कस्मात् ? अवधेः कृतमर्यादाया· ॥ २४ ॥

तथा तेषा तत्परिणतावपरमपि हेतुमाहः—

प्रत्याख्यानतनत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।

"त्यागस्तु" पुनर्महाव्रतं भवति। केषां त्यागः "हिंसादीनां" "पंचानां"। कथंभूतानां "पापानां" पापोपार्जनहेतुभूतानां। कैस्तेषां त्यागः "मनोवचःकायैः। तैरपि कैः कृत्वा त्यागः "कृतकारितानुमोदैः। अयमर्थः—हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदैस्त्यागः। तथा वचसा कायेन चेति। केषां तैस्त्यागो महाव्रतं "महतां" प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनां विशिष्टात्मनाम्॥ २६॥

इदानीं दिग्विरतिव्रतस्यातिचारानाह:—

उर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्चमन्यन्ते॥ २७॥

"दिग्विरतेरत्याशा" अतीचाराः "पंच मन्यन्तेऽभ्युपगम्यन्ते। तथा हि। अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्ताद्दिशास्तिर्यग्दिशश्च व्यतीपाता विशेषेणातिक्रमणानि त्रयः। तथाऽज्ञानात् प्रमादाद्वा 'क्षेत्रवृद्धिः' क्षेत्राधिक्यावधारणं। तथाऽ'वधीनां' दिग्विरतेः कृतमर्यादानां 'विस्मरण'मिति॥ २७॥

इदानीमनर्थदण्डद्वितीयं[1] विरतिलक्षणं गुणव्रतं व्याख्यातुमाह;—

अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥ २८॥

'अनर्थदण्डव्रतं विदु'र्जानन्ति। के ते? 'व्रतधराग्रण्यः' व्रतधराणां यतीनां मध्येऽग्रण्यः प्रधानभूतास्तीर्थंकरदेवादयः। 'विरमणं' व्यावृत्तिः। केभ्यः? 'सपापयोगेभ्यः' पापेन सह योगः सम्बन्धः पापयोगस्तेन सह वर्तमानेभ्यः पापोपदेशाद्यनर्थदण्डेभ्यः। किं विशिष्टेभ्यः? 'अपार्थिकेभ्यः' निष्प्रयोजनेभ्यः। कथं तेभ्यो विरमणं? 'अभ्यन्तरं दिगवधेः' दिगवधेरभ्यन्तरं यथा भवत्येव तेभ्यो विरमणं। अतएव दिग्विरतिव्रतादस्य

---

१ इदानीं द्वीतीयमनर्थदण्डव्रत इति ख

भेद । तद्व्रते हि मर्यादातो वहि पापोपदेशादिविरमण अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरेतद्विरमण अथ के ते अनर्थ दण्डा यतो विरमण स्यादित्याह

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीःपञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्य्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥ २९ ॥

दण्डा इव दण्डा अशुभमनोवाक्काया परपीडाकरत्वात्, तान्न धरन्तीत्यदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहु । कान्? अनर्थदण्डान् । कति? पञ्च । कथमित्याह पापेत्यादि । पापोपदेशश्च हिंसादान च अपध्यानं च दुःश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पञ्चमी ॥ २९ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वरूप प्ररूपयन्नाह:—

प्रलम्भन च वंचन तानि आदिर्येषा मनुष्यक्लेशादीना तानि तथोक्तानि तेषाम् ॥ ३० ॥

अथ हिंसादानं किमित्याह,—

परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानंब्रुवन्ति बुधाः ॥ ३१ ॥

'हिंसादान ब्रुवन्ति' । के ते ? 'बुधा' गणधरदेवादयः । किं तत् ? 'दानं' । यत्केषा ? 'वधहेतूना' हिंसाकारणाना । केषां तत्कारणानामित्याह—'परशि'त्यादि। परशुश्च कृपाणश्च खनित्रं च ज्वलनश्चाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनि शृंगि च विषं सामान्यं शृंखला च ता आदयो येषा ते तथोक्तास्तेषाम् ॥ ३१ ॥

इदानीमपध्यानस्वरूप व्याख्यातुमाह;—

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ ३२ ॥

'अपध्यानं शासति' प्रतिपादयन्ति । के ते ? 'विशदा' विचक्षणाः । क ? 'जिनशासने' । किं तत् ? 'आध्यानं' चिन्तन । कस्य ? 'वधबंधच्छेदादेः, । कस्मात् ? 'द्वेषात्' । न केवलं द्वेषादपि 'रागाद्वा'ध्यानं । कस्य ? 'परकलत्रादेः' ॥ ३२ ॥

साम्प्रतं दुःश्रुतिस्वरूप प्ररूपयन्नाह,—

आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिवरधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥ ३३ ॥

---

१ विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदान हिंसाप्रदानमित्युच्यते ॥ परेषा जयपराजयवधाऽङ्गच्छेदस्वहरणादि कथ स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानं ॥ हिंसारागादिप्रवर्धितदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यावृतिरशुभश्रुतिरित्याख्यायते ॥

'दुःश्रुतिर्भवति'। कासौ 'श्रुतिः श्रवणं। केषा 'अवधीनां' शास्त्राणां किं कुर्वता 'कलुषयता' मालिनयता। किं तत् 'चेतः' क्रोधमानमायालोभावाविष्ट चित्तं कुर्वतामित्यर्थः। कैः कृत्वेत्याह—'आरंभेत्यादि आरंभश्च कृष्यादिः सगश्च परिग्रहः तयोः प्रतिपादन वार्ता नीतौ विधीयते "कृषिः पशुपाल्यं वाणिज्यं च वार्ता" इत्यभिधानात्, साहसं चात्यद्भुतं कर्म वीरकथाया प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्वं चाद्वैतक्षणिकमित्यादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्रेण क्रियते, द्वेषश्च विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते-रागश्च वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदश्च वर्णाना ब्राह्मणो गुरुरित्यादिग्रन्थाज्ज्ञायते, मदनश्च रतिगुणविलासपताकादिशास्त्रादुत्कृष्टो भवति तैः एतैः कृत्वा चेतः कलुषयता शास्त्राणा श्रुतिर्दुश्रुति र्भवति॥ ३३॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूपं निरूपयन्नाह,—

क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां[1] प्रभाषन्ते॥ ३४॥

'प्रभाषन्ते' प्रतिपादयान्ति। का [2] 'प्रमादचर्या। किं तदित्याह 'क्षितीत्यादि। क्षितिश्च सलिलं च दहनश्च तेषामरंभं क्षितिखननसलिलप्रक्षेपण-दहनप्रज्वालन-पवनकरणलक्षण। किं विशिष्टं [2] 'विफल' निष्प्रयोजन। तथा 'वनस्पतिच्छेद' विफलं। न केवलमेतदेव किन्तु, 'सरणं' 'सारणमपिच' सरण स्वय निष्प्रयोजनं पर्यटनं सारणमन्य निष्प्रयोजन गमनप्रेरण॥ ३४॥

एवमनर्थदण्डविरतिव्रत प्रतिपाद्येदानीं तस्यातीचारानाह,—

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥ ३५॥

---

१ प्रयोजनमन्तरेणापि वृक्षादिच्छेदन—भूमिकुट्टन—सलिलसेचनवधकर्म प्रमादचरितमिति कथ्यते॥

व्यतीतयोऽतीचारा भवन्ति । कस्य ? अनर्थदण्डकृद्विरतेः अनर्थं निष्प्रयोजनं दण्डं दोषं कुर्वन्तीत्यनर्थदडकृतः पापोपदेशादयस्तेषांविरतिर्यस्य तस्य । कति ? पंच । कथमित्याह-कन्दर्पेत्यादि रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रो भण्डिमाप्रधानो वचनप्रयोगः कदर्पः, प्रहासो भंडिमावचनं भंडिमोपेतकायव्यापारप्रयुक्तं कौतुकुच्यं, धाष्टर्यप्रायं बहुप्रलापितत्वं मौखर्यं, यावतार्थेनोपभोगोपरिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनमेतानि चत्वारि, असमीक्ष्याधिकरणं पंचमं असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणं ॥ ३५॥

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणलक्षण गुणव्रतमाख्यातुमाह;—

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥ ३६ ॥

'भोगोपभोगपरिमाणं' भवति । किं तत् ? 'यत्परिसख्यान' परिगणनं । केषां ? 'अक्षार्थाना'मिन्द्रियविषयाणा । कथंभूतानामपि तेषा ? 'अर्थवतामपि' सुखादिलक्षणप्रयोजनसपादकानामपि अथवाऽर्थवता सग्रन्थानामपि श्रावकाणा । तेषा परिसख्यान किमर्थं ? 'तनूकृतये' कृशतरत्वकरणार्थं । कासा ? 'रागरतीना' रागेण विपयेषु रागोद्रेकेण रतयः आसक्तयस्तासा । कस्मिन् सति ? अवधौ विपयपरिमाणे ॥ ३६ ॥

अथ को भोगः कश्चोपभोगो यत्परिमाण क्रियते इत्याशक्याह;—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विपयः ॥३७॥

---

१ भोगसख्यान पचविध त्रसघातप्रमादवहुवधानिष्टानुपसेव्यविपयमेदात् । २ मधुमास सदा परिहर्तव्यं त्रसघात प्रति निवृत्तचेतसा । ३ मद्यमुपसेव्यमान कार्याकार्यविवेकसमोहकरमिति तद्वर्जन प्रमादविरहाय अनुष्ठेय ।

'पचेन्द्रियाणामयं' पंचेन्द्रिणा विषयः। 'भुक्त्वा' परिहातव्य,स्ताज्यः स भोगोऽशनपुष्पगंधविलेपनप्रभृतिः । यः पूर्वं भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः स उपभोगो वसनाभरणप्रभृति वसनं वस्त्रम् ॥ ३७ ॥

मद्यादिभोगरूपोऽपि त्रसजन्तुवधहेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याहः—

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ३८

वर्जनीय । किं तत् ? 'क्षौद्र' मधु । तथा 'पिशित' । किमर्थं ? 'त्रसहतिपरिहरणार्थं त्रसाना द्वीन्द्रियादीनां हतिर्वध'स्तत्परिहरणार्थं। तथा 'मद्यं च' वर्जनीयं । किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति विवेकाभावः प्रमादस्य परिहृतये परिहारार्थं । कैरेतद्वर्जनीयं ? शरणमुपयातैः शरणमुपगतैः । कौ ? जिनचरणौ श्रावकैस्तत्याज्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

तथैतदपि तैस्त्याज्यमित्याह,—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ ३९ ॥

'अवहेय' त्याज्य । किं तत् ? 'मूलकं'[1] । तथा 'शृंगवेराणि' आर्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? 'आर्द्राणि' अपक्वानि । तथा नवनीतनिम्बकुसुममित्युपलक्षण सकलकुसुमविशेषाणा तेषा कैतक केतक्या इद कैतक गुधरा इत्येव, इत्यादि सर्वमवहेयं कस्मात् ' अल्पफलबहुविघातात् ' अल्प फल यस्यासावल्पफलः बहूना त्रसजीवाना विघातो विनाशो बहुविघातः अल्पफलश्चासौ विघातश्च तस्मात् ॥ ३९ ॥

प्रासुकमपि यदेवंविध तत्त्याज्यमित्याह;—

१ केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि शृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादोन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् ।

यदनिष्टं[1] तदव्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि[2] जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥४०॥

'यदनिष्ट' उदरशूलादिहेतुतया प्रकृतिसात्म्यक यन्न भवति 'तदव्रतयेत व्रतं निर्वृत्ति कुर्यात् त्यजेदित्यर्थः । न केवलमेतदेव व्रतयेदपितु 'यच्चानु पसेव्यमेतदपि जह्यात्' यच्च यदपि गोमूत्र-करमदुग्ध-शखचूर्ण-ताम्बूलोद्गल लाला-मूत्र-पुरीष-श्लेष्मादिकमनुपसेव्य प्रासुकमपि शिष्टलोकान स्वादनायोग्यं एतदपि जह्यात् व्रत कुर्यात् । कुत एतदित्याह—अभिसन्ध त्यादि अनिष्टया अनुपसेव्यतया च व्यावृत्तेर्योग्याद्विषयादभिसन्धिकृता: भिप्रायपूर्विका या विरतिः सा यतो व्रत भवति ॥ ४० ॥

तच्च द्विधा भिद्यत इतिः—

नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ४१ ।

भोगोपभोगसंहारात् भोगोपभोगयोः संहारात् परिमाणात् तमाश्रित्य द्वेधा विहितौ द्वाभ्या प्रकाराभ्या द्वेधा व्यवस्थापितौ । कौ[2] नियमे यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियमः कश्च यम इत्याह—नियमः परिमितकाले वक्ष्यमाणः परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः । यमश्च यावज्जीव ध्रियते ।

तत्संहारलक्षणनियम दर्शयन्नाह:—

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥ ४२ ॥

---

१ यानवाहनाभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तन कर्तव्य

२ न ह्यसति अभिसन्धिनियमे व्रतमितीष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेशाभरण दीनामनुपसेव्याना परित्याग कार्य ।

अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्त्तुरयनं वा।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥ ४३॥

युगल। नियमो भवेत्। किंतत्? प्रत्याख्यान। कया? कालपरिच्छित्या। तामेव कालपरिच्छित्तिं दर्शयन्नाह—अद्येत्यादि अद्येति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं। तथा दिवेति। रजनि रात्रिरिति वा। पक्ष इति वा। मास इति वा। ऋतुरिति वा मासद्वय। अयनमिति वा षण्मासा। इत्येवं कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यान। केष्वित्याह—भोजनेत्यादि भोजन च, वाहनं च घोटकादि, शयनं च पल्यङ्कादि, स्नान च, पवित्राङ्गरागश्च पवित्रश्चासावङ्गरागश्च कुंकुमादिविलेपनं। उपलक्षणमेतदञ्जनतिलकादीना पवित्रविशेषणाद्दोपापनयनार्थमौपधाद्यङ्गरागो निरस्तः। कुसुमानि च तेषु विषयभूतेपु। तथा ताम्बूलं च वसन च वस्त्रं भूषणं च कटकादि मन्मथश्च कामसेवा सगीत च गीतनृत्यवादित्रत्रय गीतं च केवलं नृत्यवाद्यरहितं तेषु च विपयेपु अद्येत्यादिरूपं कालपरिच्छित्या यत्प्रत्याख्यानं स नियम इति व्याख्यातम्॥ ४२–४३॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचारानाह:—

विपयविपतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमति-
तृपाऽनुभवो। भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमा
पञ्च कथ्यन्ते॥ ४४॥

भोगोपभोगपरिमाण तस्य व्यतिक्रमा अतीचारा पच कथ्यन्ते। के ते इत्याह विषयेत्यादि विपय एव विप प्राणिना दाहसंतापादिविधायित्वात् तेषु ततोऽनुपेक्षा उपेक्षायास्त्यागस्याभावोऽनुपेक्षा आदर इत्यर्थः। विपयवेदना प्रतिकारार्थो हि विषयानुभवस्तस्मात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्यत्सभापणालिंगनाद्यादर सोऽत्यासक्तिजनकत्वादतीचारः। अनुस्मृ-

तिस्तदनुभवात्प्रतीकारे जातेऽपि पुनर्विपयाणा सौंद (क) र्यसुखसाध-
नत्वादनुकरणमत्यासक्तिहेतुत्वादतीचारः । अतिलौल्यमतिगृद्धिस्तत्प्रतीकार
जातेऽपि पुनः पुनस्तदनुभवाकाक्षेत्यर्थः । अतितृषा भाविभोगोपभोगादेर-
तिगृद्ध्या प्राप्त्याकाक्षा । अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगोऽ
नुभवति तदाऽत्यासक्त्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽ-
तीचारः ॥ ४४ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
तृतीयः परिच्छेद ॥ ३ ॥

शिक्षाव्रताधिकारश्चतुर्थः ।



साम्प्रतं शिक्षाव्रतस्वरूपप्ररूपणार्थमाह:—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥ १ ॥

शिष्टानि प्रतिपादितानि । कानि ? शिक्षाव्रतानि । कति ? चत्वारि, कस्मात् ? देशावकाशिकमित्यादिचतु:प्रकारसद्भावात् । वाशब्दोऽत्र परस्परप्रकारसमुच्चये । देशावकाशिकादीना लक्षणं स्वयमेवाग्रे ग्रन्थकारः करिष्यति ॥ १ ॥

तत्र देशावकाशिकस्य तावल्लक्षण:—

देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥ २ ॥

देशावकाशिक देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोकप्रदेशेऽवकाशो नियतकालमतस्थान सोऽस्यास्तीति देशावकाशिकं शिक्षाव्रत स्यात् । कोऽसौ ? प्रतिसंहारो व्यावृत्तिः । कस्य ? देशस्य । कथंभूतस्य ? विशालस्य वहो: । केन ? कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादा । कथं ? प्रत्यह प्रतिदिन । केपा ? अणुव्रताना अणूनि सूक्ष्माणि व्रतानि येपा तेपा श्रावकाणामित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ देशावकाशिकस्य का मर्यादा इत्याह,—

गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीमा तपोवृद्धाः ॥ ३ ॥

तपोवृद्धाश्चिरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः। सीम्ना स्मरन्ति मर्यादाः प्रतिपाद्यन्ते। सीम्नामित्यत्र "स्मृत्यर्थदयीशा कर्म" इत्यनेन षष्ठी। केषा सीमाभूताना ? गृहहारिग्रामाणा हारिः कटकं। तथा क्षेत्रनदी दावयोजनाना च दावो वनं। कस्यैतेषा सीमाभूताना देशावकाशिकस्य देशनिवृत्तिव्रतस्य।

एवं द्रव्यावधिं योजनावधिं प्रतिपादयन्नाहः—

संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः॥ ४॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्याद प्राहुः। प्राज्ञः गणधरदेवादयः। किं तदित्याह संवत्सरमित्यादि संवत्सरं यावदेतावत्येव देशे मयाऽवस्थातव्यं। तथा ऋतुरयनं वा यावत्। तथा मासचतुर्मासपक्षं यावत्। ऋक्ष च चन्द्रमुक्त्या आदित्यमुक्त्या वा इदं नक्षत्रं यावत्

एवं देशावकाशिकव्रते कृते सति ततः परतः किं स्यादित्याहः—

सीमन्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते॥ ५॥

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते। कानि ? महाव्रतानि। केन ? देशावकाशिकेन च न केवल दिग्विरत्यापि देशावकाशिकेनापि। कुतः ? स्थूलेतरपचपापसंत्यागात् स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षणपचपापानि च तेषा सम्यक् त्याग। क ? सीमान्ताना परतः देशावकशिकव्रतस्य सीमाभूता ये 'अन्ताधर्मा'गृहादयः संवत्सरादिविशेषाः तेषा वा अन्ताः पर्यन्तास्तेषा परतः यस्मिन् भागे इदानीं तदतिचारान् दर्शयन्नाहः—

प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च॥ ६॥

अत्यया अतिचाराः। पञ्च व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते। के ते इत्याह—प्रेषणेत्यादि मर्यादीकृते देशे स्वय स्थितस्य ततो वहिरिद कुर्विति विनियोगः प्रेषणं। मर्यादीकृतदेशाद्बहिर्व्यापारं कुर्वतः कर्मकरान् प्रति खातकरणादिः शब्दः। तद्देशाद्बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनं। मर्यादीकृतदेशे स्थितस्य बहिर्देशे कर्म कुवता कर्मकरणां स्वविग्रहप्रदर्शन रूपाभिव्यक्तिः। तेपामेव लोष्ठादिनिपातः पुद्गलक्षेपः॥६॥

एव देशावकाशिकरूपं शिक्षाव्रतं व्याख्यायेदानीं सामायिकरूपं तद्व्याख्यातुमाह,—

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥ ७॥

सामयिकं नाम स्फुट शसंन्ति प्रतिपादयन्ति। के ते? सामयिकाः समयमागमं विन्दन्ति ये ते सामायिका गणधरदेवादयाः। किं तत्? मुक्त मोचन परिहरण यत् तत् सामयिक। केषा मोचनं? पंचाघानां हिंसादिपचपापाना। कथं? आसमयमुक्ति वक्ष्यमाणलक्षणसमयमोचन आसमन्ताद्व्याप्य गृहीतनियमकालमुक्तिं यावदित्यर्थः। कथं तेषा मोचनं? अशेषभावेन समास्त्येन न पुनर्देशतः। सर्वत्र च अवधेः परभागे च अनेन देशावकाशिकादस्य भेदः प्रतिपादितः॥ ७॥

आसमयमुक्तिमत्र यः समयशब्दः प्रतिपादितस्तदर्थं व्याख्यातुमाह;—

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥ ८॥

समयज्ञा आगमज्ञाः। समय जानान्ति। किं तत्? मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध बन्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते मूर्धरूहाणा केशाना बन्ध बन्धकाल समयं जानन्ति। तथा मुष्टिबन्धं वासोबन्धं वस्त्रग्रन्थि पयङ्कबन्धनं

चापि उपविष्टकायोत्सर्गमपि च स्थानमूर्ध्वकायोत्सर्ग उपवेशनं वा सामान्येनोपविष्टावस्थानमपि समय जानन्ति ॥ ८ ॥

एवं विधे समये भवत् यत्सामायिकं पंचप्रकारपापात् साकल्येन व्यावृत्तिस्वरूप तस्योत्तरोत्तरा वृद्धिः कर्तव्येत्याहः—

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥ ९ ॥

परिचेतव्य वृद्धि नेतव्य । किं तत् ? सामायिकं । क ? एकान्ते स्त्रीपशुपाण्डुविवर्जिते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलतारहिते शीतवातदेशमशकादिबाधावर्जित इत्यर्थः इत्थंभूते एकान्ते । क ? वनेषु अटवीषु, वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्गिरिगव्हरादिपरिग्रहः । केन चेतव्य ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अविक्षिप्ता धीर्यस्यात्मनस्तेन अथवा प्रसन्नासौ धीश्च तया कृत्वा आत्मना परिचेतव्यमिति ॥९॥

इत्थभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याहः—

व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ॥
सामयिकं बध्नीयादुपावासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

बध्नीयादनुतिष्ठेत् । किं तत् ? सामयिक । कस्या ? विनिवृत्त्या । कस्मात् ? व्यापारवैमनस्यात् व्यापारः कायादिचेष्टा वैमनस्य मनोव्यग्रता चित्तकालुष्यं वा तस्माद्विनिवृत्त्यामपि सत्या अन्तरात्मविनिवृत्या कृत्वा तद्बध्नीयात् अन्तरात्मनो विकल्पस्य विशेषेण विनिवृत्या । कस्मिन् सति तस्या तद्बध्नीयात् ? उपवासे चैकभुक्ते वा ॥ १० ॥

इत्थ भूत तत्किं कदाचित्परिचेतव्यमन्यथा चेत्यत्राहः—

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥ ११ ॥

चेतव्य वृद्धिं नेतव्य । किं ? सामायिकं । कदा ? प्रतिदिवसमपि न पुनः कदाचित् पर्व दिवसे एव । कथं ? यथावदपि प्रतिपादितस्वरूपानतिक्रमेणैव । कथंभूतेन ? अनलसेनाऽऽलास्यरहितेन उद्यतेनेत्यर्थः । तथाऽवधानयुक्तेनैकाग्रचेतसा । कुतस्तादित्थं परिचेतव्यं ? व्रतपचकपरिपूरणकारण यतः व्रताना हि सविरत्यादीनां पंचकं तस्य परिपूरणं परिपूरणत्वं महाव्रतरूपत्वं तस्य कारणं यथोक्तसामायिकानुष्ठानकाले हि अणुव्रतान्यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्यन्तेऽतस्तत्कारणं ॥ ११ ॥

एतदेव समर्थयमानः प्राह:—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं ॥ १२॥

सामयिके सामायिकावस्थाया । नैव सन्ति न विद्यन्ते । के ? परिग्रहाः सङ्गाः । कथंभूताः ? सारम्भाः कृष्याद्यारम्भसहिताः । कति ? सर्वेऽपि " बाह्याभन्तराश्चेतनेतरादिरूपा " वा । यत एव ततो याति प्रतिपद्यते । क ? यतिभावं यतितत्वं । कोऽसौ ? गृही श्रावकः । कदा ? सामायिकावस्थाया । कइव ? चेलोपसृष्टमुनिरिव चेलेन वस्त्रेण उपसृष्टा उपसर्गवशाद्वेष्टितः स चासौ मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १२ ॥

तथा सामायिके स्वीकृतवन्तो ये तेऽपरमपि किं कुर्वन्तीत्याह:—

शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामायिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१३॥

अधिकुर्वीरन् सहेरान्नित्यर्थः । के ते ? सामयिक प्रतिपन्नाः सामायिकं स्वीकृतवन्तः । किं विशिष्टाः सन्तः ? अचलयोगाः स्थिरसमाधयः प्रतिज्ञातानुष्टानापरित्यागिनो वा । तथा मौनधरास्तत्पीडाया सत्यामपि दीनादिवचनानुच्चारकाः । कमधिकुर्वीरन्नित्याह—शीतेत्यादि शीतोष्ण-

दंशमशकाना पीडाकारणा तत्परिसमन्तात् सहनं तत्परीषहस्तं, न केवलं तमेव अपि तु उपसर्गमपि च देवमनुष्यतिर्यक्कृतं ॥ १३ ॥

तं चाधिकुर्वाणाः सामायिके स्थिताः एवं विधं ससारमोक्षयोः स्वरूपं चिन्तयेयुरित्याह,—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥ १४ ॥

तथा सामायिके स्थिता ध्यायन्तु । कं ? भव स्वोपात्तकर्मवशाच्चतुर्गतिपर्यटन । कथभूत ? अशरण न विद्यते शरणमपापपरिरक्षक यत्र । अशुभमशुभकारणप्रभवत्वादशुभकार्यकारित्वाच्चाशुभं । तथाऽनित्यं चतसृष्वपि गतिपु पर्यटनस्य नियतकालतयाऽनित्यत्वादनित्यं । तथा दुःखहेतुत्वाद्दुःखं । तथानात्मानमात्मस्वरूप न भवति । एवं विधं भवमावसामि एव विधे तिष्ठामीत्यर्थः । यद्येव विधः संसारस्तर्हि मोक्षः कीदृश इत्याह—मोक्षस्तद्विपरीतात्मा तस्मादुक्तभवस्वरूपाद्विपरीतस्वरूपतः शरणशुभादि स्वरूपः, इत्येव ध्यायन्तु चिन्तयन्तु सामायिके स्थिताः ॥ १४ ॥

साम्प्रत सामायिकस्यातीचारानाह;—

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥ १५ ॥

व्यज्यन्ते कथ्यन्ते । के ते ? अतिगमा अतिचाराः । कस्य ? सामयिकस्य । कति ? पच । कथ ? भावेन परमार्थेन । तथा हि । वाक्कायमानसाना दुष्प्रणिधानमित्येतानि त्रीणि । अनादरोऽनुत्साहः । अस्मरणमनैकाग्रम् ॥ १५ ॥

अथेदानीं प्रोपधोपवासलक्षण शिक्षाव्रत व्याचक्षाणः प्राह:—

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोपधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्य्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ।

प्रोपधोपवासः पुनर्ज्ञातव्यः । कदा पर्वणि चतु... पर्वणि अष्टम्या च । किं पुनः प्रोपधोपवासशब्दाभि... केषा ? चतुरभ्यवहार्याणा चत्वारि अशनपान... चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषा । किं कस्या ... च तेषा प्रत्याख्यानमित्याह—सदा सर्वकाल । काभिः ... धानवाञ्छाभिस्तेषा प्रत्याख्यान न पुनर्व्यवहारकृत...

उपवासदिने चोपोषितेन किं कर्तव्यमित्याहः—

पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ।

उपवासदिने परिहृतिं परित्यागं कुर्यात् । केषा ? पञ्च... तथा अलक्रियारंभगंधपुष्पाणा अलंक्रिया मण्डन ... दिव्यापारः गन्धपुष्पाणामित्युपलक्षण रागहेतून् ? ... तथा स्नानच अञ्जनं च वा नस्यश्च तेषाम् ॥ १७ ॥

एतेषा परिहार कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठातव्यमाह —

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् । ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥ १८ ॥

उपवसन्नुपवास कुर्वन् धर्मामृत पिबतु ... प्यायकत्वात् तत् पिबतु । काभ्या ? ... सानिलाषः पिबन् न पुनरुपरोधादिवशात् ... धर्मस्वरूपस्तु अन्यतो धर्मामृत पिबन् ... तत् ज्ञानध्यानपरो भवतु ज्ञानपरो वा ...

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ १ ॥
निर्जराच तथाः लोक बोधिदुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ॥ २ ॥

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयलक्षणधर्मध्यानपरः तन्निष्ठः भवतु। किं विशिष्टः [2] अतन्द्रालुः निद्रालस्यरहितः ॥ १८ ॥

अधुना प्रोपधोपवासस्तल्लक्षणं कुर्वन्नाह—

चतुराहारविसर्ज्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः।
स प्रोपधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥ १९ ॥

चत्वारश्च ते आहाराश्चाशनपानखाद्यलेह्यलक्षणाः, अशन हि भक्त-मुद्गादि, पान हि पेयमथितादि, खाद्य मोदकादि, लेह्यं रब्रादि तेषा विसर्जन परित्यजनमुपवासो विधीयते। प्रोपधः पुनः सकृद्भुक्तिधारण-कदिने एकभक्तविधानं यत्पुनरुपोष्य उपवास कृत्वा पारणकदिने आरंभे सकृद्भुक्तिमाचरत्यनुतिष्ठति स प्रोपधोपपासोऽभिधीयते इति ॥ १९ ॥

अथ केऽस्यातीचारा इत्याहः—

ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोपधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥ २० ॥

प्रोपधोपवासस्य व्यतिलघनपचकमतिचारपचक। तदिदं पूर्वार्धप्रति-पादितप्रकार। तथा हि। ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि। कथं भूतानि [1] अदृष्टमृष्टानि दृष्ट दर्शन जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुपावलोकनं मृष्ट मदुनोपकरणेन प्रमार्जन तदुभौ न विद्येते येपु ग्रहाणादिपु तानि तथोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्यादृष्टमृष्टस्यार्हदादिपूजोपकरणस्यात्मपरि-धानाद्यर्थस्य च ग्रहण भवति। तथा अदृष्टममृष्टाया भूमौ मूत्रपुरीपादेरु-त्सर्गो भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रदेशे आस्तरणं सस्तरोपक्रमो भवतीत्ये-

तानि त्रीणि। अनादरास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकादौ हि बुभुक्षा पीडितत्वादनादरोऽनेकाग्रतालक्षणमस्मरणं भवति ॥ २० ॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह;—

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ २१ ॥

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते। कस्मै दानं? तपोधनाय तप एव धन यस्य तस्मै। किंविशिष्टाय? गुणनिधये गुणाना सम्यग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै। तथाऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय। किमर्थं? धर्माय धर्मनिमित्त,। किं विशिष्ट तद्दानं? अनपेक्षितोपचारोपक्रियं उपचार प्रतिदानं उपक्रिया मन्त्रतन्त्रादिना प्रत्युपकरणं ते न अपेक्षिते येन कथं। तद्दानं? विभवेन विधिद्रव्यादिसम्पदा ॥ २१ ॥

न केवलं दानमेव वैयावृत्यमुच्यतेऽपितु:—

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ २२ ॥

व्यापत्तयो विविधाव्याध्यादिजनिता आपदस्तासा व्यपनोदो विशेषेणापनोदः स्फेटन यत्तद्वैयावृत्यमेव। तथा पादयोः संवाहनं पादयोर्मर्दन। कस्मात्? गुणरागात् भक्तिवशादित्यर्थः—न पुनर्व्यवहारात् दृष्टफलापेक्षणाद्वा। न केवलमेतावदेव वैयावृत्य किन्तु अन्योऽपि सयमिना देशसकलव्रतान्त सम्बन्धी यावात् यत्परिमाण उपग्रह उपकारः स सर्वो वैयावृत्यमेवोच्यते ॥ २२ ॥

अथ किं दानमुच्यत इत्यत आह:—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥ २३ ॥

दानमिष्यते । कासौ ? प्रतिपत्तिः गौरवं आदरस्वरूपा । केषा ? आर्याणा सद्दर्शनादिगुणोपेतमुनीना । किंविशिष्टाना ? अपसूनारम्भाणा सूनाः पञ्चजीवघातस्थानानि । तदुक्तम्

खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १२ ॥

खंडनी उलूखल, पेपणी. घरट्ट, चुल्ली—चुल्लकः, उदकुंभः—उदकघटः, प्रमार्जनी—बोहारिका । सूनाश्चारंभाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता येषा तेषा । केन प्रतिपत्तिः कर्तव्या ? सप्तगुणसमाहितेन.

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्यं ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातार प्रशंसन्ति ॥

इत्येतैः सप्तभिर्गुणैः समाहितेन तु दात्रा दान दातव्य। कैः कृत्वा? नव पुण्यैः—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य नवविहं पुण्णं ॥

एतैर्नवभिः पुण्यैः पुण्योपार्जनहेतुभिः ॥ २३ ॥

इत्थ दीयमानस्य फल दर्शयन्नाह,—

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् । अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ २४ ॥

विमार्ष्टि स्फेटयति । खलु स्फुट । किं तत् ? कर्म पापरूप । कथंभूत ? निचितमपि उपार्जितमपि पुष्टमपि वा । केन ? गृहकर्मणा सावद्यव्यापारेण । कोऽसौ कर्त्री ? प्रतिपूजा दान । केषामपि ? अतिथीना न विद्यते तिथिर्येषा तेषा । किं विशिष्टाना गृहविमुक्ताना गृहरहिताना अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—रुधिरमल धावते वारि अलशब्दो

यथार्थे अयमर्थो रुधिरं यथा मलिनमपवित्रं च वारि कर्तृ निर्मलं पवित्रं च धावते प्रक्षालयति तथा दानं पापं विमार्ष्टि ॥ २४ ॥

साम्प्रतं नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं फलं सम्पद्यत इत्याह—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥ २५ ॥

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणतेः प्रणामकरणादुच्चैर्गोत्रं भवति । तथा दानादशनशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहणादिरूपात् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुरागजनितान्तःश्रद्धाविशेषलक्षणायाः सुन्दररूपं भवति । स्तवनात् श्रुतजलध्यादिस्तुतिविधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ २५ ॥

नन्वेवंविधं विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सम्पादयति [illegible]-दार्थमाह —

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ २६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगतं [illegible] संसारिणामिष्टं फलं बहु[illegible] कथंभूतं? छायाविभवं [illegible] अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं [illegible] निक्षिप्तं यथा अल्पमपि वटबीजं बहुफलं [illegible] छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभवः [illegible] २६

तच्चैवंविधफलसम्पादकं दानं चतुर्भेदं [illegible]—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥ २७ ॥

वैयावृत्य दान ब्रुवते प्रतिपादयति च । कथ ? चतुरात्मत्वेन चतुः-प्रकारत्वेन । के ते ? चतुरस्राः पण्डिताः । तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयन्ना-हारेत्याद्याह—आहारश्च भक्तपानादि औषध च व्याधिस्फेटकं द्रव्य तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवल तयोरेव अपि तु उपकरणावासयोश्च उपकरण ज्ञानोपकरणादिः आवासो वसतिकादि ॥ २७ ॥

तच्चतुष्प्रकार दानं किं केन दत्तमित्याहः—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्त्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥ २८ ॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधवैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीषेणादयो दृष्टान्ता मन्तव्याः ।

तत्राहारदाने श्रीषेणो दृष्टान्तः । अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसचयपुरे राजा श्रीषेणो राज्ञी सिंहनन्दिता द्वितीया अनि-न्दिता च । पुत्रौ क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ । तत्रैव ब्राह्मणः सात्यकिनामा, ब्राह्मणी जम्बू , पुत्री सत्यभामा । पाटलिपुत्रनगरे ब्राह्मणो रुद्रभट्टो वटुकान् वेद पाठयति । तदीयचेटिकापुत्रश्च कपिलनामा तीक्ष्णमतित्वात् छद्मना वेद शृण्वन् तत्पारगो जातो रुद्रभट्टेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटितः । सोत्तरीय यज्ञोपवीत परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसचयपुरे गतः । सात्यकिना च त वेदपारग सुरूप च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै दत्ता । सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टा तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽय न भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्ते विषाद वहन्ती तिष्ठति । एतस्मिन् प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रा कुर्वाणो रत्नसचयपुरे समायातः । कपिलेन प्रणम्य निजधवलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिक कारयित्वा सत्यभामायाः सकललोकाना च मदीयोऽय पितेति कथितम् । सत्यभामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्ट भोजन बहुसुवर्ण च दत्वा पादयोर्लगित्वा

पृष्ट—तात ! तत्र शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति ततः किमयं तव पुत्रो भवति न वेति सत्यं मे कथय। ततस्तेन कथितं पुत्रि ! मदीयचेटिकापुत्र इति। एतदाकर्ण्य तदुपरि विरक्ता सा हठादय मामभिगमिष्यतीति मत्वा सिंहनन्दिताग्रमहादेव्याः शरणं प्रविष्टा, तया च सा पुत्री ज्ञाता। एवमेकदा श्रीषेणराजेन परमभक्त्या विधिपूर्वकमर्ककीर्त्यामितगतिचारणमुनिभ्यां दानं दत्तम्। तत्फलेन राज्ञा सह भोगभूमावुत्पन्ना। तदनुमोदनात् सत्यभामापि तत्रैवोत्पन्ना। स राजा श्रीषेणो दानप्रथमकारणात् पारंपर्येण शान्तिनाथतीर्थकरो जातः। आहारदानफलम्।

औषधदाने वृषभसेनाया दृष्टान्तः। अस्याः कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोग्रसेनः, श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्री पुत्री वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवती नामा। एकदा वृषभसेनास्नानजलगर्तायां रोगगृहीतं कुक्कुरं पतितलुठितोऽत्थितं रोगरहितमालोक्य चिन्तितं धात्र्या—पुत्रीस्नानजलमेवात्रारोग्यत्वे कारणम्। ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीतायाः कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौते दृष्टी च शोभने जाते ततः सर्वरोगापनयने सा धात्री प्रसिद्धा तत्र नगरे सजाता। एकदोग्रसेनेन रणपिंगलमंत्री चतुःसैन्योपेतो मेघपिंगलोपरि प्रेषितः। स तं देशं प्रविष्टो विषोदकसेवनात् ज्वरेण गृहीतः। स च व्याधुट्यागतः रूपवत्या च तेन जलेन निरोगीकृतः। उग्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गतः तथा ज्वरितो व्याघुट्यायातो रणपिंगलात्तद्वृत्तान्तमाकर्ण्य तज्जलं याचितवान्। ततो मंत्री उक्तो धनश्रिया भो श्रेष्ठिन्! कथं नरपतेः शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभावं तदा सत्यं कथ्यते न दोषः। एवं भणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उग्रसेनः ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम्। तया च सत्यमेव कथितं। ततो

राज्ञा व्याहूतः श्रेष्ठी, सच भीतः राज्ञ समीपमायातः । राजा च गौरव कृत्वा वृषभसेना परिणेतुं स याचितः । ततः श्रेष्ठिना भणित देव ! यद्यष्टाह्निका पूजा जिनप्रतिमाना करोपि तथा पजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्याश्च मुञ्चसि तदा ददामि । उग्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टराज्ञी च कृता । अतिवल्लभया तयैव च सह विमुक्तानाकार्य क्रीडा करोति । एतस्मिन् प्रस्तावे यो वाराणस्याः पृथिवीचन्द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽतिप्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः । ततस्तस्य या राज्ञी नारायणदत्ता तया मन्त्रिभिः सह मन्त्रयित्वा पृथिवीचन्द्रमोचनार्थं वाराणस्या सर्वत्रावारितसत्कारा वृषभसेनाराज्ञी नाम्ना कारिता, तेषु भोजन कृत्वा कावेरीपत्तन ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्त वृत्तान्तमाकर्ण्य रुष्टया रूपवत्या भणिता वृषभसेने त्वं मामपृच्छन्ती वाराणस्या कथ सत्कारान् कारयसि ? तया भणितमह न कारयामि किन्तु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि कारिता तेषा शुद्धिं कुरु त्वमिति चरपुरुषैः कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनाया· सर्वं कथितम् । तया च राजानं विज्ञाप्य मोचितः पृथ्वीचन्द्र । तेन च चित्रफलके वृषभसेनोग्रसेनयो रूपे कारिते । तयोरधो निजरूप सप्रणाम कारितम् । स फलकस्तयोर्दर्शितः भणिता च वृषभसेना राज्ञी—देवि ! त्व मम मातासि त्वत्प्रसादादिद जन्म सफल मे जात। तत उग्रसेन· सन्मान दत्वा भणितवान् त्वया मेघपिंगलस्योपरि गन्तव्यमित्युक्त्वा स च ताभ्या वाराणस्या प्रेषितः । मेघपिंगलोऽप्येतदाकर्ण्य ममाय पृथ्वीचन्द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्यागत्य चोग्रसेनस्यातिप्रसादित· सामन्तो जात । उग्रसेनेन चास्थानस्थितस्य यत्तो प्राभृतमागच्छति तस्यार्धं मेघपिंगलस्य दास्यामि अर्धं च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता । एवमेकदा रत्नकम्बलद्वयमागतमेकैकं सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्त । एकदा मेघपिंगलस्य

राज्ञी विजयाख्या मेघपिंगलकम्बलं प्रावृत्य प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता। तत्र कम्बलपरिवर्तो जातः। एकदा वृषभसेनाकम्बल प्रावृत्य मेघपिंगलः सेवायामुग्रसेनसभायामागतः राजा च तमालोक्यातिकोपाद्रक्ताक्षो बभूव। मेघपिंगलश्च तं तथाभूतमालोक्य ममोपरि कुपितोऽयं राजेति ज्ञात्वा दूरं नष्टः। वृषभसेना च रुष्टेनोग्रसेनेन मारणार्थं समुद्रजले निक्षिप्ता। तया च प्रतिज्ञा गृहीता यदि एतस्मादुपसर्गादुद्धरिष्यामि तदा तपः करिष्यामीति। ततो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया तस्याः सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम्! तच्छ्रुत्वा पश्चात्ताप कृत्वा राजा तमानेतु गतः। आगच्छता वनमध्ये गुणधरनामाऽवधिज्ञानी मुनिर्दृष्टः। स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्वभवचेष्टित पृष्ट.। कथित च भगवता यथा—पूर्वभवे त्वमत्रैव ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा जातासि। राजकीयदेवकुले सम्मार्जनं करोषि। तत्र देवकुले चैकदाऽपराह्णे प्राकाराभ्यन्तरे निर्वातगर्ताया मुनिदत्तनामा मुनिः पर्यंककायोत्सर्गेण स्थितः। त्वया च रुष्टया भणितः कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जन करोमि लग्नेति ब्रुवाणायास्तत्र मुनिकायोत्सर्गं विधाय मौनेन स्थितः। ततस्त्वया कचवारेण पूरयित्वोपरि सम्मार्जनं कृतम्। प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशे क्रीडता उच्छ्वसितनिःश्वसितप्रदेश दृष्ट्वा उत्खन्य निःसारितश्च स मुनिः। ततस्त्वयात्मनिन्दा कृत्वा धर्मे रुचिः कृता। परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं विशिष्टमौषधदान वैयावृत्य च कृतम्। ततो निदानेन मृत्वेह धनपतिधनश्रियोः पुत्री वृषभसेना नाम जातासि। औषधदानफलात् सर्वौषधर्द्धिफल जातम्। कचवारपूरणात् कलङ्किता च। इति श्रुत्वात्मानं मोचयित्वा वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता। औषधदानस्य फलम्।

श्रुतदाने कौण्डेशो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

कुरुमणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा। तेन च कोटरादुद्धृत्य चिरन्तनपुस्तक प्रपूज्य भक्त्या पद्मनन्दिमुनये दत्तम्। तेन पुस्तकेन तत्राटव्यां

१ कुरुमरि इति ग, कुमार ख।

पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजा कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यान कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति त दृष्ट्वा नित्यमेव पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि। एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः। तपो गृहीत्वा कोण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानस्य फलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धम्मिल्लनामा। ताभ्या पथिकजनाना वसतिनिमित्त देवकुल कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथम वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः। ताभ्या च धमिल्लपरिव्राजकाभ्या निःसारित स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दशमशकशीतादिक सहमानः स्थितः प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्ध कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहाया स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रत गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्त गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्पर युद्ध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरक गतः। वसतिदानस्य फलम् ॥ २८ ॥

यथा वैयावृत्य विदधता चतुर्विध दान दातव्य तथा पूजाविधानमपि

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ २९ ॥

आदृत आदरयुक्तो नित्य परिचिनुयात् पुष्ट कुर्यात् । किं ? परिचरण पूजा। किंविशिष्ट ? सर्वदुःखनिर्हरण नि शेषदुःखविनाशक । क ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवाधिदेवस्तस्य चरण पाद: तस्मिन् । कथ भूते ? कामदुहि वाञ्छितप्र० । तथा कामदाहिनि कामविध्वसके ॥ २९ ॥

पूजामाहात्म्य किं क्वापि केन प्रकटितमि त्याशङ्क्याह —

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ ३० ॥

पूर्वभट्टारकाः केचित् किल पूजां कृत्वा कारयित्वा च व्याख्यानं कृतवन्तः कोटरे धृत्वा च गतवन्तश्च। गोविन्देन च बाल्यात्प्रभृति तं दृष्ट्वा नित्यं पूजा कृता वृक्षकोटरस्यापि। एष स गोविन्दो निदानेन मृत्वा तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत्। तमेव पद्मनन्दिमुनिमालोक्य जातिस्मरो जातः तपो गृहीत्वा कौण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोऽभूत्। इति श्रुतदानफलम्।

वसतिदाने सूकरो दृष्टान्तः। अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भकारो देविलनामा नापितश्च धमिल्लनामा ताभ्यां पथिकजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम्। एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दत्ता धमिल्लेन च पश्चात् परिव्राजकस्तत्रानीय धृतः ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां निःसारितः स मुनिर्वृक्षमूले रात्रौ दंशमशकशीतादिकं सहमानः स्थितः। प्रभाते देविलधमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा विन्ध्ये क्रमेण सूकरव्याघ्रौ प्रौढौ जातौ। यत्र च गुहायां स सूकरस्तिष्ठति तत्रैव च गुहायामेकदा समाधिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य स्थितौ। तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूकरो धर्ममाकर्ण्य व्रतं गृहीतवान्। तत्प्रस्तावे मनुष्यगन्धमाघ्राय मुनिभक्षणार्थं स व्याघ्रोऽपि तत्रायातः। सूकरश्च तयो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः। तत्रापि तौ परस्परं युद्ध्वा मृतौ। सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायेण शुभाभिसन्धित्वात् मृत्वा सौधर्मे महर्द्धिको देवो जातः। व्याघ्रस्तु मुनिभक्षणाभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वान्मृत्वा नरकं गतः। वसतिदानस्य फलम् ॥ २८ ॥

यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह —

---

१ कृतवन्त इति ग. पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे स्थापितं इति ख. २ गम्भीर वसति इति ग

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ २९ ॥

आदृत. आदरयुक्तो नित्य परिचिनुयात् पुष्ट कुर्यात् । किं ? परिचरण पूजा। किंविशिष्ट ? सर्वदुःखनिर्हरण नि.शेषदुःखविनाशकं । क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको वन्द्यो देवाधिदेवस्तस्य चरणः पाद. तस्मिन् । कथ भूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामाविध्वंसके ॥ २९ ॥

पूजामाहात्म्य किं क्वापि केन प्रकटितमित्याशङ्क्याह:—

अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ ३० ॥

भेको मण्डूकः प्रमोदमत्तो विशिष्टधर्मानुरागेण हृष्टः अवदत् कथितवान् । किमित्याह—अर्हदित्यादि, अर्हतश्चरणौ अर्हच्चरणौ तयोः सपर्या पूजा तस्या महानुभाव विशिष्टं माहात्म्य । केषामवदत् ? महात्मना भव्यजीवाना । केन कृत्वा ? कुसुमेनैकेन । क्व ? राजगृहे ।

अस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिक. श्रेष्ठी नागदत्तः श्रेष्ठिनी भवदत्ता । स नागदत्त श्रेष्ठी सर्वदा मायायुक्तत्वान्मृत्वा निजप्राङ्गणवाप्यां भेको जात । तत्र चागतामेकदा भवदत्ताश्रेष्ठिनीमालोक्य जातिस्मरो भूत्वा तस्या समीपे आगत्य उपर्युत्लुत्य चटित । तया च पुनःपुनर्निर्धाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च ततस्तया कोऽप्ययं मदीयो इष्टो भविष्यतीति संप्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनि पृष्ट । तेन च तद्वृत्तान्ते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासौ धृत । श्रेणिकमहाराजश्चैकदा वर्धमानस्वामिन वैभारपर्वते समागतमाकर्ण्य आनन्दभेरीं दापयित्वा महता विभवेन त वन्दितु गतः। श्रेष्ठिन्यादौ च गृहजने वन्दनाभक्त्यर्थं गते स भेकः प्रागणवापीकमल पूजा-

निमित्तं गृहीत्वा गच्छन् हस्तिना पादेन चूर्णयित्वा मृतः। पूजानुराग-वशेनोपार्जितपुण्यप्रभावात् सौधर्मे महर्द्धिकदेवो जातः। अवधिज्ञानेन पूर्वभववृत्तान्त ज्ञात्वा निजमुकुटाग्रे भेकचिह्न कृत्वा समागत्य वर्धमान-स्वामिन वन्दमानः श्रेणिकेन दृष्ट.। ततस्तेन गौतमस्वामी भेकचिह्नेऽस्य किं कारणमिति पृष्टः तेन च पूर्ववृत्तान्तः कथितः। तच्छ्रुत्वा सर्वे जनाः पूजातिशयाविधाने उद्यताः सजाता इति ॥ ३० ॥

इदानीमुक्तप्रकारस्य वैयावृत्यस्यातीचारानाहः—

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ ३१ ॥

पंचैते आर्यापूर्वार्धकथिता वैयावृत्त्यस्य व्यतिक्रमाः कथ्यन्ते। तथा हि। हरितपिधाननिधाने हरितेन पद्मपत्रादिना पिधान झंपनमाहारस्य। तथा हरिते तस्मिन् निधान स्थापनं। तस्य अनादरः प्रयच्छतोऽप्यादरा-भाव। अस्मरणमाहारादिदानमेतस्या वेळायामेवंविधपात्राय दातव्यमिति दत्तमदत्तमिति वास्मृतेरभाव। मत्सरत्वमन्यदातृदानगुणासहिष्णुत्व-मिति ॥ ३१ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामि-
विरचितोपासकाध्ययनटीकायां
चतुर्थः परिच्छेद ।

सल्लेखना-प्रतिमाधिकारः पंचमः ।



अथ सागारिणाणुव्रतादिवत् सल्लेखनाप्यनुष्ठातव्येत्याह[1]:—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १ ॥

आर्या गणधरदेवादयः सल्लेखनामाहुः । किं तत् ? तनुविमोचन शरीरत्यागः । कस्मिन् सति ? उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवकृते । निःप्रतीकारे प्रतीकारागोचरे । एतच्च विशेपण दुर्भिक्षजरारुजाना प्रत्येकं सम्बन्धनीय। किमर्थ तद्विमोचन ? धर्माय रत्नत्रयाराधनार्थं न पुनः परस्य ब्रह्महत्याद्यर्थं ॥ १ ॥

सल्लेखनाया भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः कर्तव्योऽत आहः—

अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ २ ॥

सकलदर्शिन· स्तुवते प्रशसन्ति । किं तत् ? तपःफलं तपसः फल तपःफल सफल तप इत्यर्थः । कथभूत सत् ? अन्तःक्रियाधिकरणं अन्ते क्रिया सन्यास तस्या अधिकरण समाश्रयो यत्तपस्तत्फलं । यत एवं, तस्माद्यावद्विभव यथाशक्ति समाधिमरणे प्रयतितव्यं प्रकृष्टो यत्नः कर्तव्य ॥ २ ॥

तत्र यत्न कुर्वाण एव कृत्वेद कुर्यादित्याहः—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥ ३ ॥

---

१ ना च कि स्वल्पा कदाचानुष्ठातव्येत्याह इति ग.

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निश्शेषम् ॥ ४ ॥ युगल ।

स्वय क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजन परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय त्यक्त्वा । क ? स्नेहमुपकारके वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धं । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्ध । सग पुत्रस्त्र्यादिक ममेदमहमस्येत्यादिसम्बध परिग्रह बाह्याभ्यन्तर । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । कि तत् ? महाव्रतम् कथभूत ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्त निःशेष च पच प्रकारमपि । किं कृत्वा ? आलोच्य । कि तत् ? एनो दोष । कि तत् ? सर्व कृतकारितानुमत च । स्वय हि कृतं हिंसादिदोष, कारित हेतुभावेन, अनुमतमन्येन क्रियमाण मनसा श्लाघितं । एतत्सर्वमेनो निर्व्याज दशालोचनादोषवर्जित यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्त—

आकंपिय अणुमाणिय जंदिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छन्न सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥ इति ।

एव विधामालोचना कृत्वा महाव्रतमारोप्यैतत् कुर्यादित्याहः—

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ ५ ॥

इदानीं सल्लेखनां कुर्वाणस्याहारत्यागे क्रम दर्शयन्नाह·—

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥ ६ ॥

स्निग्ध दुग्धादिरूप पान विवर्धयेत् परिपूर्ण दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परित्याज्य । क ? आहार कवलाहाररूप । कथं ? क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपानं कजिकादिशुद्धपानीयरूप वा । किंकृत्वा ? हापयित्वा । कि ? स्निग्ध च स्निग्धमपि पानक । कथ ? क्रमशः । स्निग्ध हि परिहाप्य कजिकादिरूप खरपान पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानीयरूप खरपान पूरयेदिति ॥ ६ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ ७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कथ ? शक्त्या स्वशक्तिमनतिक्रमेण स्तोकस्तोकतरादिरूप । पश्चादुपवासं कृत्वा तनुमपि त्यजेत् । कथ ? सर्वयत्नेन सर्वस्मिन् व्रतसयमचारित्रध्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्य तेन । किं विशिष्ट· सन् ? पचनमस्कारमना· पचनमस्काराहितचित्त· ॥ ७ ॥

अधुना सल्लेखनाया अतिचारानाह·—

जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥ ८

जीवित च मरण च तयोराशसे आकाक्षे, भयमिहपरलोकभय इहलोकभय हि क्षुत्पिपासापीडादिविषय परलोकभय—एवविधदुर्धरानुष्ठानाद्विशिष्ट फल परलोके भविष्यति न वेति । मित्रस्मृति· बाल्याद्यवस्थाया सहक्रीडितमित्रानुस्मरण । निदान भाविभोगाद्याकाक्षण । एतानि पचनामानि येषा ते तन्नामान सल्लेखनाया पचातिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः समादिष्टा आगमे प्रतिपादिता ॥ ८ ॥

एवंविधैरतिचारै रहिता सल्लेखना अनुतिष्ठन् कीदृश फल प्राप्नोत्याह:-

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः॥ ९ ॥

निष्पिबति आस्वादयति अनुभवति वा कश्चित् सल्लेखनानुष्ठाता। किं तत्? निःश्रेयसं निर्वाणं। किंविशिष्टं? सुखाम्बुनिधिं सुखसमुद्रस्वरूपं तर्हि सपर्यन्तं तद्भविष्यतीत्याह—निस्तीरं तीरात्पर्यन्तान्निष्क्रान्तं कश्चित्पुनस्तदनुष्ठाता अभ्युदयमहमिन्द्रादिसुखपरंपरां निष्पिबति। कथंभूतं? दुस्तरं महता कालेन प्राप्यपर्यन्तं। किंविशिष्टः सन्? सर्वैर्दुःखैरनालीढः सर्वैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरनालीढोऽसंस्पृष्टः। कीदृशः सन्नेतद्द्वयं निष्पिबति? पीतधर्मा पीतोऽनुष्ठितो धर्म उत्तमक्षमादिरूपः चारित्रस्वरूपो वा येन॥ ९॥

किं पुनर्निःश्रेयसशब्देनोच्यत इत्याह,—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥ १० ॥

निःश्रेयसमिष्यते। किं? निर्वाणं। कथंभूतं? शुद्धसुखं शुद्धं प्रतिद्वन्द्वरहितं सुखं यत्र। तथा नित्यं अविनश्वरस्वरूपं। तथा परिमुक्तं रहितं। कैः? जन्मजरामयमरणैः जन्म च पर्यायान्तरप्रादुर्भावः जरा च वार्द्धक्यं, आमयाश्च रोगाः मरणं च शरीरादिप्रच्युतिः। तथा शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तं॥ १०॥

इत्थंभूते च निःश्रेयसे कीदृशाः पुरुषास्तिष्ठन्तीत्याह,—

विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखं

निःश्रेयसमावसन्ति निःश्रेयसे तिष्ठन्ति। के ते इत्याह—विद्या केवलज्ञानं दर्शनं केवलदर्शनं शक्तिरनन्तवीर्यं, स्वास्थ्यं

प्रल्हादोऽनन्तसौख्य, तृप्तिर्विषयानाकाक्षा, शुद्धिर्द्रव्यभावस्वरूपकर्ममलरहितता, एता युजान्ति आत्मसम्बन्धाः कुर्वन्ति ये ते तथोक्ताः । तथा निरतिशया अतिशयाद्द्वियादिगुणहीनाधिकभावान्निष्क्रान्ताः । तथा निरवधयो नियतकालावधिरहिताः । इत्थभूता ये ते निःश्रेयसमावसन्ति । सुख सुखरूप निःश्रेयस । अथवा सुखं यथा भवत्येवं ते तत्रावसन्ति ॥ ११ ॥

अनन्ते काले गच्छति कदाचित् सिद्धाना विद्याद्यन्यथाभावो भविष्यत्यतः कथ निरतिशया निरवधयश्चेत्याशकायामाहः—

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥१२॥

न लक्ष्या न प्रमाणपरिच्छिद्या । कासौ ? विक्रिया विकारः स्वरूपान्यथाभावः । केषा ? शिवाना सिद्धाना । कदा ? कल्पशतेऽपि गते काले । तर्हि उत्पातवशात्तेषा विक्रिया स्यादित्याह—उत्पातोऽपि यदि स्यात् तथापि न तेषा विक्रिया लक्ष्या । कथंभूतः उत्पातः ? त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः त्रिलोकस्य सम्भ्रान्तिरावर्त्तस्तत्करणे पटुः समर्थः ॥ १२ ॥

ते तत्राविकृतात्मानः सदा स्थिताः किं कुर्वन्तीत्याह,—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥ १३ ॥

निःश्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते धरन्ति । का ? त्रैलोक्यशिखामणिश्रिय त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रभागस्तत्र मणिश्रीः चूडामणिश्रीः ता । किंविशिष्टाः सन्ता इत्याह—निष्किट्टेत्यादि किट्ट च कालिका च ताभ्या निष्क्रान्ता सा छविर्यस्य तच्चामीकार च सुवर्ण तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान आत्मस्वरूपं येषा ॥ १३ ॥

एव सल्लेखनामनुतिष्ठता निःश्रेयसलक्षण फल प्रतिपाद्य अभ्युदयलक्षणं फल प्रतिपादयन्नाह.—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥ १४ ॥

अभ्युदय इन्द्रादिपदावाप्तिलक्षण फलति अभ्युदयफल ददाति। कोऽसौ ? सद्धर्म सल्लेखनानुष्ठानोपार्जित विशिष्ट पुण्यं। कथभूतमभ्युदयं ? अद्भुत साश्चर्यं । कथभूत तदद्भुत अतिशायितभुवन यत । कै कृत्वा ? पूजार्थाज्ञैश्वर्यै ऐश्वर्यशब्दः पूजार्थाज्ञाना प्रत्येक सम्बध्यते । किंविशिष्टैरेतैरित्याह—बलेत्यादि बल सामर्थ्य परिजनः परिवार. कामभोगौ प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्ठा अतिशयेन बहवो येषु। एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरतिशयितभुवनमित्यर्थः॥ १४ ॥

साम्प्रत योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशङ्क्याह —

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १५ ॥

देशितानि प्रतिपादितानि। कानि ? श्रावकपदानि श्रावकगुणस्थानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः । कति ? एकादश । कै ? देवैस्तीर्थंकरै । येषु श्रावकपदेषु खलु स्फुटं संतिष्ठन्तेऽवस्थिति कुर्वन्ति । के ते ? स्वगुणाः स्वकीयगुणस्थानसम्बद्धा गुणा । कै सह ? पूर्वगुणै पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणै सह । कथभूता ? क्रमविवृद्धा सम्यग्दर्शनमादि कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्ध्या क्रमेण विशेषेण वर्धमाना ॥ १५ ॥

तदेव दर्शयन्नाह —

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥ १६ ॥

दर्शनमस्यास्तीति दर्शनिको दर्शनिकश्रावको भवति। किंविशिष्टः ? सम्यग्दर्शनशुद्ध सम्यग्दर्शन शुद्ध निरतिचार यस्य असंयतसम्यग्दृष्टि । कोऽस्य

विशेष इत्यत्राह—ससारशरीरभोगानिर्विण्ण इत्यनेनास्य लेशतो व्रताशस-
भवात्ततो विशेषः प्रतिपादितः । एतदेवाह—तत्त्वपथगृह्यः तत्त्वाना
व्रताना पथा मार्गा. मद्यादिनिवृत्तिलक्षणा अष्टमूलगुणास्ते गृह्याः पक्षा
यस्य । पंचगुरुचरणशरणः पचगुरवः पंचपरमेष्ठिनस्तेषा चरणाः शरणम-
पायपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १६ ॥

तस्येदानीं परिपूर्णदेशव्रतगुणसम्पन्नत्वमाहः—

निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१७॥

व्रतानि यस्य सन्तीति व्रतिको मतः । केषा ? व्रतिना गणधरदेवा-
दीना । कोऽसौ ? नि शल्यः सन् योऽसौ धारयते । कि तत् ? निरतिक्रम-
णमणुव्रतपचकमपि पचाप्यणुव्रतानि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः । न
केवलमेतदेव धारयते अपि तु शीलसप्तक चापि त्रिःप्रकारगुणव्रतचतुः-
प्रकारशिक्षाव्रतलक्षण शीलम् ॥ १७ ॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्व श्रावकस्य प्ररूपयन्नाहः—

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥१८॥

सामयिक समयेन प्राक्प्रतिपादितप्रकारेण चरतीति सामयिकगुणो-
पेत । किंविशिष्ट ? चतुरावर्तत्रितय. चतुरो वारानावर्तत्रितय यस्य
एकैकस्य हि कायोत्सर्गस्य विधाने 'णमो अरहताणस्य थोसा-
ने'श्चाद्यन्तयो. प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति एकैकस्य हि कायोत्सर्गविधाने चत्वार
आवर्ता॥ तथा तदाद्यन्तयोरेकैकप्रणामकरणाच्चतुःप्रणामः। स्थित ऊर्ध्वकायो-
त्सर्गोपेत । यथाजातो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाचिन्ताव्यावृत्त. । द्विनिषद्यो द्वेनि-
षद्ये उपवशेने यस्य देववन्दना कुर्वता हि प्रारभे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः
कर्तव्य । त्रियोगशुद्ध त्रयो योगा मनोवाक्कायव्यापाराः शुद्धा सावद्यव्यापा-
ररहिता यस्य । अभिवन्दी अभिवन्दत इत्येव शीलः । कथ ? त्रिसध्य ॥१८॥

साम्प्रत प्रोषधोपवासगुणव्रत श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाहः—

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥ १९ ॥

प्रोषधेनानशनमुपवासो यस्यासौ प्रोषधानशनः । किमनियमेनापि यः प्रोषधोपवासकारी सोऽपि प्रोषधानशनव्रतसम्पन्न इत्याह—प्रोषधनियमविधायी प्रोषधस्य नियमोऽवश्यभावस्तं विदधातीत्येवंशीलः । क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोश्चतुर्दश्योर्द्वयोश्चाष्टम्योरिति । किं चातुर्मास्यादौ तद्विधायीत्याह—मासे मासे । किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्य तद्विधाने आत्मसामर्थ्यमप्रच्छाद्य । किं विशिष्टः ? प्रणधिपरः एकाग्रतागतः शुभध्यानरत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्ररूपयन्नाहः—

मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥२०॥

सोऽयं श्रावकः सचित्तविरतिगुणसम्पन्नः यो नात्ति न भक्षयति । कानीत्याह मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोंपलाः करीराश्च वंशकिरणाः कन्दाश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च तान्येतानि आमानि अपक्वानि यो नात्ति । कथंभूतः सन् ? दयामूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्यर्थः ॥ २० ॥

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुणं श्रावकस्य व्याचक्षाण प्राह.—

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥२१॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुण श्रावकस्य दर्शयन्नाह —

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ २२ ॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी। किं कुर्वन्? पश्यन्। किं तत्? अङ्ग शरीरं। कथभूतमित्याह—मलेत्यादि मल शुक्रशोणित बीज कारण यस्य। मलयोनिं मलस्य मलिनताया अपवित्रत्वस्य योनिः कारण। गलन्मल गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात्। पूतिगंधि दुर्गन्धोपेत। बीभत्स सर्वावयवेषु पश्यता बीभत्सभावोत्पादक ॥ २२ ॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुण श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाह —

सेवाकृपिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥ २३ ॥

साम्प्रतमब्रह्मविरतत्वगुण श्रावकस्य दर्शयन्नाहः—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥ २२ ॥

अनङ्गात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तते स ब्रह्मचारी । किं कुर्वन् ? पश्यन् । किं तत् ? अङ्गं शरीरं । कथंभूतमित्याह—मलेत्यादि मल शुक्रशोणितं बीज कारण यस्य । मलयोनिं मलस्य मलिनतायाः अपवित्रत्वस्य योनिः कारण । गलन्मल गलन् स्रवन् मलो मूत्रपुरीषस्वेदादिलक्षणो यस्मात् । पूतिगंधि दुर्गन्धोपेत । बीभत्स सर्वावयवेषु पश्यता बीभत्सभावोत्पादकं ॥ २२ ॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुण श्रावकस्य प्रतिपादयन्नाहः—

सेवाकृपिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥ २३ ॥

यो व्युपारमति विशेपेण उपरत॰ व्यापारेभ्य आसमन्तात् जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात् ? आरम्भतः । कथभूतात् ? सेवाकृपिवाणिज्यप्रमुखात्, सेवाकृपिवाणिज्याःप्रमुखा आद्या यस्य तस्मात् । कथभूतात् ? प्राणातिपातहेतो. प्राणानामतिपातो वियोजनं तस्य हेतोः कारणभूतात् । अनेन स्नपनदानपूजाविधानाद्यारंभादुपरतिर्निराकृताः तस्य प्राणातिपातहेतुत्वाभावात् प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्सभवात् । वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा सभवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्ट प्राणिपीडाहेतोरेव तदारम्भात् निवृत्तस्य श्रावकस्यारम्भविनिवृत्तत्वगुणसम्पन्नतोपपत्तेः ॥ २३ ॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तिगुणं श्रावकस्य प्ररूपयन्नाहः—

बाह्येषु दशसु वस्तुपु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोपपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥ २४ ॥

तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं तदश्नातीति भैक्ष्याशनः । किं कुर्वन् ? तपस्यन् तपःकुर्वन् । किं कृत्वा ? परिगृह्य गृहीत्वा । कानि ? व्रतानि । क्व ? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे । किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा । किं तत् ? मुनिवनं मुन्याश्रमं । कस्मात् ? गृहतः ॥ २६ ॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञः सन्नेव मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह, -

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥ २७ ॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति । किं कुर्वन् ? निश्चिन्वन् । कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमेवारातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मस्य बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥ २७ ॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं ।

परि समन्तात् चित्तस्थः परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्माद्विरतः श्रावको भवति। किंविशिष्टः सन् ? स्वस्थो मायादिरहितः। तथा सन्तोषपरः परिग्रहाकाक्षाव्यावृत्त्या सन्तुष्टः। तथा निर्ममत्वरतः। किं कृत्वा ? उत्सृज्य परित्यज्य। किं तत् ? ममत्व मूर्च्छा। क ? बाह्येषु दशसु वस्तुषु। एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तूना दृश्यते।

क्षेत्र वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।
शयनासनं च यान कुप्यं भाण्डमिति दश॥

क्षेत्र सस्याधिकरण वडोलिकादि। वास्तु गृहादि। धनं सुवर्णादि। धान्य व्रीह्यादि। द्विपद दासीदासादि। चतुष्पदं गवादि। शयनं खट्वादि। आसनं विष्टरादि। यानं डोलिकादि। कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयकादि। भाण्ड श्रीखण्डमंजिष्ठाकास्यताम्रादि॥ २४॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुण श्रावकस्यप्ररूपयन्नाहः—

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥२५॥

सोऽनुमतिविरतो मन्तव्यः यस्य खलु स्फुट नास्ति। का सौ ? अनुमतिरभ्युपगम। क ? आरभे कृष्यादौ। वा शब्द. सर्वत्र परस्परसमुच्चयार्थः। परिग्रहे वा धान्यदासीदासादौ। ऐहिकेषु कर्मसु वा विवाहादिषु। किंविशिष्ट समधीः रागादिरहितबुद्धिः ममत्वरहितबुद्धिर्वा॥ २५॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणयुक्तस्य श्रावकस्य दर्शयन्नाह.—

तथा भैक्ष्याशनो भिक्षाणा समूहो भैक्ष्य तदश्नीतीति भैक्ष्याशनः । किं कुर्वन् ? तपस्यन् तपःकुर्वन्। कि कृत्वा ?परिगृह्य गृहीत्वा। कानि ? व्रतानि। क्व ? गुरूपकण्ठे गुरुसमीपे । किं कृत्वा ? इत्वा गत्वा। किं तत् ? मुनिवनं मुन्याश्रमं । कस्मात् ? गृहत ॥ २६ ॥

तपः कुर्वन्नपि यो ह्यागमज्ञ सन्नेव मन्यते तदा श्रेयो ज्ञाता भवतीत्याह, -

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥ २७ ॥

यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुव निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्ट ज्ञाता स भवति । किं कुर्वन् ? निश्चिन्वन् । कथमित्याह—पापमित्यादि—पापमेवारातिः शत्रुर्जीवस्यानेकापकारकत्वात् धर्मस्य बन्धुर्जीवस्यानेकोपकारकत्वादित्येवं निश्चिन्वन् ॥ २७ ॥

इदानीं शास्त्रार्थानुष्ठातुः फलं दर्शयन्नाह—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावं ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥२८॥

येन भव्येन स्वय आत्मा स्वय शब्दोऽत्रात्मवाचकः नीतः प्रापितः । कमित्याह—वीतेत्यादि. विशेष इतो गतो नष्ट कलंको दोषो यासा ताश्च ता विद्यादृष्टिक्रियाश्च ज्ञानदर्शनचारित्राणि तासा करण्डभाव त भव्य आयाति आगच्छति । कासौ ? सर्वार्थसिद्धिः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणार्थाना सिद्धिर्निष्पत्ति कर्त्री । कयेवायाति ? पतीच्छयेव स्वयम्वरविधानेच्छयेव । क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु ॥ २८ ॥

रत्नकरण्टक कुर्वतश्च मम यासौ सम्यक्त्वसम्पत्तिर्वृद्धिं गता सा एतदेव कुर्यादित्याह,—

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ २९ ॥

मा सुखयतु सुखिनं करोतु। कासौ ? दृष्टिलक्ष्मीः सम्यग्दर्शनसम्पत्तिः। किंविशिष्टेत्याह-जिनेत्यादि जिनाना देशतःकर्मोन्मूलकाना गणधरदेवादीनां पतयस्तीर्थकरास्तेषा पदानि सुबन्ततिङन्तानि पदा वा तान्येव पद्मानि तानि प्रेक्षते श्रद्दधातीत्येवं शीला। अयमर्थः—लक्ष्मीः पद्मावलोकनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु जिनोक्तपदपदार्थप्रेक्षणशीलेति। कथभूता सा ? सुखभूमिः। सुखोत्पत्तिस्थान। केव ? कामिन कामिनीव यथा कामिनी कामभूमिः कामिन सुखयति तथा मा दृष्टिलक्ष्मीः सुखयतु। तथा सा मा भुनक्तु रक्षतु। केव ? सुतमिव जननी। किंविशिष्टा ? शुद्धशीला जननी हि शुद्धशीला सुतं रक्षति नाशुद्धशीला दुश्चारिणी। दृष्टिलक्ष्मीस्तु गुणव्रतशिक्षाव्रतलक्षण शुद्धसतशीलसमन्विता मा भुनक्तु। तथा सा मा सम्पुनीतात् सकल-दोषकलङ्क निराकृत्य पवित्रयतु। किमिव ? कुलमिव गुणभूषा कन्यका। अयमर्थ —कुल यथा गुणभूषा गुणाऽलङ्कारोपेता कन्या पवित्रयति श्लाघ्यता नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूषा अष्टमूलगुणैरलङ्कृता मा सम्यक्पुनीतादिति ॥२९ ॥

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतम्
सम्यग्ज्ञानमहांशुभि प्रकटित सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः ससृत्सरिच्छोषको
जीयादेष समन्तभद्रमुनिप श्रीमान प्रभेन्दुर्जिनः ॥ १ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिताया समन्तभद्रस्वामीविर-
चितापासकाध्ययनटीकाया
पंचम परिच्छेद ।

१ निम्न इति ख २ श्रीमत्प्रभचन्द्र इति ग.

रत्नकरण्डस्य पद्यानां वर्णानुसारिणी सूची ।



अक्षार्थाना परिसख्यानं	६६	आहार परिहाप्य	९०
अज्ञानतिमिरव्याप्ति	१२	इदमेवेदृशमेव	९
अतिवाहनातिसंग्रह-	४६	उच्चैर्गोत्रं प्रणते	८१
अद्य दिवा रजनी वा	६९	उपसर्गे दुर्भिक्षे	८९
अनात्मार्थं विना रागैः	७	ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्	६२
अनुमतिरारम्भे वा	९८	एकान्ते सामयिकं	७४
अन्तः क्रियाधिकरणं	८९	ओजस्तेजोविद्या	३१
अन्न पानं खाद्यं	९६	कन्दर्पं कौत्कुच्यं	६५
अन्यविवाहाकरणा-	४६	कर्मपरवशे सान्ते	९
अन्यूनमनतिरिक्तं	३५	कापथे पथि दुःखानां	१०
अभ्यन्तर दिगवधे	६२	काले कल्पशतेऽपि च	९३
अमरासुरनरपतिभि	३२	क्षितिगतमिव वटबीजं	८१
अर्हच्चरणसपर्या	८७	क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं	६५
अल्पफलबहुविघातान्	६७	क्षुत्पिपासाजरातङ्क-	४
अवधेर्बहिरणुपापप्रति-	६१	खरपानहापनामपि	९१
अशरणमशुभमनित्य	७६	गृहकर्मणापि निचितं	८०
अष्टगुणपुष्टितुष्टा	३१	गृहतेष्वनगाराणा	३७
आपगासागरस्नान-	२५	गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो	३९
आप्तेनोत्सन्नदोषेण	४	गृहहारिग्रामाणा	७१
आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य	८	गृहिणा त्रेधा तिष्ठन्त्यणु-	४१
आरम्भसङ्गसाहस-	६४	गृहितो मुनिवनमित्वा	९८
आलोच्य सर्वमेनः	८९	ग्रहणविसर्गास्तरणान्य-	७८
आसमयमुक्ति मुक्त	७३	चतुरावर्तत्रितयश्चतु	९५
आहारौषधयोरपि	८१	चतुराहारविसर्जन-	७८

चौरप्रयोगचौरार्था-	४४
छेदनबन्धनपीडन-	४३
जन्मजरामयमरणै	९२
जीवाजीवसुतत्त्वे	३७
जीवितमरणाशंसे	९१
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं	२६
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो	१२
तावदञ्जनचौरोऽङ्गे	१२
तिर्यक्क्लेशवणिज्या-	६३
त्रसहतिपरिहरणार्थं	६७
दर्शनाच्चरणाद्वापि	११
दर्शनं ज्ञानचारित्रात्	२८
दानं वैयावृत्यं	७९
दिग्वलयं परिगणितं	६०
दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च	५९
देवाधिदेवचरणे	५१
देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्	३३
देशयामि समीचीनं	२
देशावकाशिकं वा	७१
देशावकाशिकं स्यात्	७१
धनधान्यादिग्रन्थं	४६
[illegible] च	[illegible]
[illegible]	[illegible]
न तु परदारान् गच्छति	५५
नमः श्रीवर्द्धमानाय	२
[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]
[illegible]	३०
[illegible]	[illegible]
नियमो यमश्च विहितौ	[illegible]
निरतिक्रमणमणुव्रत-	९५
निःश्रेयसमधिपन्ना	९३
निःश्रेयसमभ्युदयं	९१
निहितं वा पतितं वा	४४
पञ्चाणुव्रतनिधयो	४७
पञ्चानां पापानां	६१
पञ्चानां पापानां	७७
परमेष्ठी परंज्योति	७
परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुध-	६४
परिवादरहोभ्याख्या	४४
पर्वण्यष्टम्यां च	७७
पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि	९६
पापमरातिर्धर्मो	९९
पापोपदेशहिंसा	६३
पूजार्थाज्ञैश्वर्यै	९३
प्रत्याख्यानतनुत्वात्	६१
प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं	३६
प्राणातिपातवितथ-	४१
प्रेषणशब्दानयनं	७२
बाह्येषु दशसु वस्तुषु	९७
भयाशास्नेहलोभाच्च	२८
भुक्त्वा परिहातव्यो	६६
भोजनवाहनशयन-	६८
मकराकरसरिदटवी	६०
मद्यमांसमधुत्यागैः	५१
मलबीजं मलयोनिं	९७
मातङ्गो धनदेवश्च	६१
मूर्धरुहमुष्टिवासो	७३
मूलफलशाकशाखा	[illegible]
मोहतिमिरापहरणे	[illegible]

यदनिष्टं तदव्रतयेत्	६८	सकलं विकलं चरणं	४०
यदि पापनिरोधोऽन्य-	२७	सङ्कल्पात्कृतकारित-	४२
येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या	९९	सग्रन्थारम्भहिंसाना	२६
रागद्वेषनिवृत्ते	३९	सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	३
लोकालोकविभक्ते.	३६	सम्यग्दर्शनशुद्धा	३०
वधबन्धच्छेदादे	६४	सम्यग्दर्शनशुद्ध	९४
वपोपलिप्मायाशावान्	२५	सम्यग्दर्शनसम्पन्नम्	२७
वाक्कायमानमाना	७६	सामयिके सारम्भा	७५
विद्यादर्शनशक्ति-	९२	सामयिक प्रतिदिवसं	७४
विद्यावृत्तस्य सभूति	२९	सीमान्ताना परत	७२
विषयविषतोऽनुपेक्षा	६९	सुखयतु सुखभूमि	९९
विषयाशावशातीतो	८	सेवाकृषिवाणिज्य-	९७
व्यापत्तिव्यपनोद	७९	सवत्सरमृतुरयन	७२
व्यापारवैमनस्यात्	७४	स्थूलमलीकं न वदति	४३
शिवमजरमरुजमक्षय-	३३	स्नेहं वैर सङ्गं	८९
शीतोष्णदशमशक-	७५	स्मयेन योऽन्यानत्येति	२६
शोकं भयमवसाद	९०	स्वभावतोऽशुचौ काये	१०
श्रद्धान परमार्थानाम्	३	स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव-	११
श्रावकपदानि देवं	९४	स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य	१०
श्रापेणवृषभसेने	८२	हरितपिधाननिधाने	८८
श्वापि देवोऽपि देव श्वा	२८	हिंसानृतचौर्य्येभ्यो	४०

टीकोद्धृतपद्यानां सूची ।



अब्भुवागरणे चैव	७८	निर्जरा च तथालोक-	७८
अचालस्पर्शका नारी	५७	पडिगहमुच्चट्ठाणं	८०
अह उड्ढतिरियलोए	३६	मइलकुचेली दुम्मनी	१९
आकंपिय अणुमाणिय	९०	विग्गहगइमावण्णा	५
खण्डनी पेषणी चुल्ली	८०	येनाज्ञानतमो विनाश्य	१००
णोकम्म कम्महारो	५	श्रद्धातुष्टिर्भक्ति	८०
णोकम्मं तित्थयरे	५	समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं	१
तवचारित्तगुणीण	३७	स श्रीरत्नकरण्डकामलरवि	१००
		स्याद्वादकेवलज्ञाने	३५



प्रस्तावनाका शुद्धिपत्र ।



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	२	गेरुसोप्पे	गेरुसोप्पे
,,	२५	पहले	१ पहले
२१	१६	सामायिक	सामयिक
२६	११	विहित	विहीन
२८	२४	कुलको	फलको
३२	२	मूलगुण	मूलगुणा.
,,	२२	व्याचक्षाणा	व्याचक्षाण
३५	२३	परिग्हह	परिग्रह
३९	२६	हो सकते	हो सकते हैं
४२	४	६३६	६३४
,,	१५	३८	३७
४३	७	७२	७३
,,	२३	१०२	१०३
४६	१९	अहो मुखे	अहोमुखे
,,	२९	स्तोयेन	स्तेयेन
४७	२५	पद्यके	पद्यको
४९	२८	यस्मैते	यस्यैते
५६	१२	प्रकार	अक्सर
५७	२५	जैनहितेच्छु	खंडेलवाल जैनहितेच्छु
६०	१८	४८	४७
[illegible]	२७	भेयानन्त	मेयानन्त
,,	[illegible]	योऽद्धे	योऽद्धे
[illegible]	११	सैद्धान्तक	सैद्धान्तिक
[illegible]	७	बनाई हुई	बनाई हुई 'एकत्वसप्तति'में
[illegible]	१५	करने	कराने

स्वामी समन्तभद्रका शुद्धि-पत्र।

——:०:——

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	जो गुणादि प्रत्ययको	जो ठीक होनेपर गुणादि-प्रत्ययको
५	३	उत्वलिका	उत्कलिका
६	१२	कि	किया है
,,	२४	नामा	नाम्ना
८	२२	सुष्टु	सुष्ठु
,,	२८	भवात्	भयात्
१०	१२	यही	प्राय यही
,,	२१	युक्त्यनुशासन	स्वयम्भूस्तोत्र
१४	१६	हो	हुआ हो
१७	१८	*	× } (दूसरा फुटनोट पहले
,,	२६	×	* } छपना चाहिये था।)
१८	१९	कविनूतन	कविर्नूतन
,,	२४	मतिव्युत्पत्ति	मतिर्व्युत्पत्ति
१९	२२	निश्चयात्मक	निश्चायक
२३	९	सरस्वति	सरस्वती
,,	१८	थूर्णीचकार	थूर्णीचकार
३२	५	मा रन	कोई मा वन
४४	१–२	कलिकालमें	कलिकाल
४५	२२	आचायस्य	आचार्यस्स
४६	११	उत्तीर्ण	उत्कीर्ण
४७	१८	अनेक	उनके
५०	११	जिनेक्गुणसस्तुति	जिनेन्द्रगुणसंस्तुति
,,	१४	अलघ्यवीर्य	अलघ्यवीर्या
,,	१६	गरल विष	गरल (विष)
	२४	ददातीति	ददतीति
५४	१	सी	श्री
[illegible]	२४	पुण्यसवचम्पू	पुण्यास्रवचम्पू
६६	२८	फल	फला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	१५	कर्मफलको	कर्ममलको
७८	१८	तषो	तृषो
७९	११	सिवाय	सिवाय,
८२	१७	दुःखोंकी	दुःखोंको
८४	१	सहनकर	सहनका
"	१७	विद्यते	खिद्यते
८८	२१	समन्तभद्रका	समन्तभद्रको
९०	७	प्रवत्ति	प्रवृत्ति
९६	२०	मुनिपरालिये	मुनिपरलिये
"	२२	ऊपरसे	ऊपर
१०२	११	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्ड्रेन्दु
"	२१	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्डरेन्दु
"	२२	इन्द्रपुर	इन्दुपुर
"	२३	में	(श्लोक ११) में
१०५	२२	उसका	उनका
१०६	१७	पुण्ड्रेन्द्र	पुण्ड्रेन्दु
११७	१४	इसका	इनका
१२५	२	उसे समंतभद्रके	समंतभद्रको उसके
१२८	२३	साधारण	साधारण लक्षणं
१३३	१३	वाराहमिहिरो	वराहमिहिरो
१३५	१७	शककालममास्य	शककालमपास्य
"	१८	यंवनपुरे	यवनपुरे
१३६	११	तु	च
"	१२	मेचकाः ॥ ३२ ॥	मेचकः ॥ ३९ ॥
"	२२	भिन्न	भिन्न हैं
१४०	१७	स्वरूपसे	स्वस्वरूपसे
१४६	२	कोशंप्रयोंमें	कोशग्रंथोंमें
"	२०	पैरिचय	परिचय
"	२१	१ टीकाशः—	टीकाशः...
"	२२	२	१

इस पृष्ठकी [cut] १ की टिप्प[cut] १४० वें पृष्ठ[cut] टिप्पणीका [cut] अंश है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४२	२२	जैनेन्द्रसज्ञं	जैनेन्द्रसंज्ञं
१५८	१४	शिलालेखमें	शिलालेखोंमें
,,	२१	गृद्धपिच्छ	गृध्रपिच्छ
१५९	१६	सं० ९४	सं० ४९
१६१	१	दोनों	उन दोनों
१६४	१८	३६१	४६१
१६६	१३	मिथ्या	वह मिथ्या
,,	२३	कौण्डकुन्दान्वय	कोण्डकुन्दान्वय
,,	,,	अभयणदि	अभ[य]णंदि
१६७	१७	उल्लेग	उल्लेग भी
१६८	१	पवयणभक्ति	पवयणभत्ति
१७७	२	१३३	१२३
१८२	८	भद्रबाहुस्स	भद्दबाहुस्स
१८९	११	१७ सं०	१७ से
,,	२१	श्रुतावतार	इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार
१९३	८	योगे	पोगे
१९४	८	उदपिमिदद्	उदयिमिदद्
१९६	१	भद्रबाहुका	भद्रबाहु द्वितीयका
२१८	१२	नं० ३५०	नं० २५
२२८	३	प्रस्तावना प्रकरण	प्रस्ताव या प्रकरण
२३२	२	श्रीमत्स्वामीसमतभद्र	श्रीमत्स्वामिसमतभद्र
२३३	२६	सिद्धस्य	सिद्धस्य
२३४	२०	विरचयत ।	विरचयता
२३५	४	माहात्म्यमतीन्द्रिय	माहात्म्यमतीन्द्रियं
,,	१३	स्मिति	किमिति

नोट—बिन्दु, विसर्ग और विराम चिह्नादिकी कुछ ऐसी ही साधारण अशुद्धियोंको यहाँ देनेकी ज़रूरत नहीं समझी गई जो पढ़ते समय सहज ही में मालूम पड़ जाती हैं।

सटीकरत्नकरण्डकस्य शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठ
३	१०	वदन्ति प्रतिपादयन्ते	विदन्ति प्रपद्यन्ते
२	४	वौद्धमत इव	वौद्धादिमत इव
६	७	कदात्	कदाचित्
७	४	यस्यासौ	यस्यासौ परज्योति
८	१०	यतस्तस्य	यतस्तत्त्वस्य
१०	८	मुक्तिसाधकलक्षणेन	मुक्तिसाधकत्वलक्षणेन
,,	१६	प्रशंसा	अङ्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा
१२	१०	यष्टागाना मध्ये क. केन गुणेन	यष्टगुणाना मध्ये कः केन गुण
,,	१५	गतां	गता
२५	४	ऽष्टागोपेतत्वम्	ऽष्टागोपेतत्वम् युक्तमेव
,,	६	त्रीणि भवन्ति	त्रीणि मूढानि भवन्ति
,,	१०	न पपु	न पुन
२६	१६	मानित्व	मानित्वं गवितत्व
२७	६	स्मय	स्मय
,,	१०–११	सम्पत्या किमपि	सम्पत्या किं प्रयोजन ? न किमपि
,,	११	विशिष्टतरादतत्	विशिष्टतरायास्तत्
,,	१२	कि	तथाप्यन्यसम्पदा किं
,,	१४–१५	प्रयोजनाभावस्तत्समयस्य	प्रयोजनाभावतस्तत्स्मयस्य
२८	७	एव तत	यत एव, तत
,,	८	न पूर्वा द्वितीया	अपूर्वाऽद्वितीया
,,	११	[illegible]	न चानुतिष्ठता
,,	१७	[illegible]	प्रत्याकांक्षा
,,	[illegible]	[illegible]	मोक्षमार्गे प्रचक्षते

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२९	५	तस्य च	तच्च
,,	१७	यश्च	यतश्च
३०	२	गृहस्थोऽपि	गृही गृहस्थो यो
,,	१४	तद्विपरीतता तदपकृष्टता	तद्विपरीतादपकृष्टता
,,	१६	इत्य (तोऽ) पि	इतोऽपि
,,	२४	दुष्कले उत्पत्ति	दुष्कलता दुष्कले उत्पत्ति
३१	२	व्रजन्ति	न व्रजन्ति
,,	१२	परविभवेनात्मनो	पराभिभवेनात्मनो
३२	३	चक्रस्य रत्नं	चक्ररत्न
,,	७	संख्याता	सख्यातानि रत्नानि
,,	९—१०	मस्तकानि तेषु शिखराणि मुकुटानि तानि चरणेषु येषा	मुकुटानि तेषु शेखरा आपीठा.। तानि चरणानि येषां
३३	३	समाराध्यपरिक्षण येषां दर्शनस्य वा शरण	×
,,	५	कथम् अजर न विद्यते रुजा	कथभूत अजरं न विद्यते जरा वृद्धत्व यत्र । अरुजं न विद्यते रुक्
३४	२	लक्षणस्य वा	लक्षणस्य चारित्रलक्षणस्य वा
३५	८	तदविकारार्थं विदित्वा	तदविकार्थं विदित्वात
,,	१२	यत्र—	तत्र—
,,	१३	अनन्तदेवानुधर्मत्वे-नाभिप्रेत । भेदानन्यैव	अतस्तदेवात्र धर्मत्वेनाभिप्रेत। तस्यैव
३६	३	तत्	तस्य
,,	८	विषयस्याख्यान	विषयस्याख्यान प्रतिपादन
,,	१२	धर्म्यं शुद्ध	धर्म्यं शुद्ध
,,	१२	दर्शनाद प्रात्यादिक धर्म्य	सद्दर्शनादि प्रात्यादिक धर्म्य
३७	१३	[illegible]	[illegible] रक्षा च
३८	६	यत्र तत्र । न कर्मणि	यत्र कर्मणि
३९	९	चारित्राधिकार	चारित्राधिकार

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
३९	२	व्याख्यासुराह	व्याचिख्यासुराह
,,	२०	प्रकृष्टतर	एव प्रकृष्टप्रकृष्टतर
४०	१४	ममम्यजाना-	सम्यक् जाना-
४१	१	तावद्व्रत	तावच्चरणं
,,	१३	प्राणानामिन्द्रियादिकमति	प्राणानामिन्द्रियादीनामति
,,	१०	मूर्च्छेभ्य	मूर्छाभ्यः
,,	१५	मूर्च्छा च	मूर्च्छ्यते
,,	१८	तर्हि	स हि
,,	२१-२२	उपात्तायाश्च	उपात्ताया अनुपात्तायाश्च
४२	१७	सुन्दरमन्येन	सुन्दरमनेन
४३	७	स्थूलवधादव्युपरते	स्थूलवधाद् व्युपरते·
,,	१७	स्थूलश्चासौ	स्थूलमृषावादवैरमण स्थूलश्चासौ
,,	१८	वदन्ति किं तत्	यन्न वदन्ति
,,	२२-२३	सत्य परस्य विपदेऽपकाराय	सत्यमपि परस्य विपदेऽपकाराय
४५	४	न्यायादनपेतप्रकारेण	न्यायादन्येन प्रकारेण
,,	५	स्वाल्पमूल्यानि महाघ्र्याणि	स्वल्पमूल्यानि महार्घाणि
,,	,,	द्रष्याणीति	द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति
४६	६	मुखादिप्रवेशे	मुखादिप्रदेशे
,,	७	विपुलतृपश्च	विपुलतृट् च
४७	४	लोभातिगृद्धिवृत्त्यर्थं	लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं
,,	९	तत्कृपाणकेन	तत्क्रयाणकेन
,,	२१	किं	किं न
४९	२०	अनुवृहणाद्गुणा	अनुवृंहणाद्गुणा
,,	,,	गुणव्रतान्याया	गुणव्रतान्यार्याः
५०	९	अह	अतोऽह
,,	,,	सूक्ष्मनतिपाप	सूक्ष्ममपि पाप

पृष्ठं	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६१	१६–१७	प्रत्याख्थान हिसाविल्पेन	प्रत्याख्यान हि सविकल्पेन
,,	१९	द्रव्यरूपादीना	द्रव्यरूपाना
,,	,,	भावरूपाणा	भावरूपाणा तेषां
,,	,,	नत	न पुन·
६३	१२	विशेनेणतिक्रमणनि	विशेषेणातिक्रमणानि
६४	१६	द्वेषादपि रागाद्वा	द्वेषादपि तु रागाद्वा
,,	२०	श्रुतिरभीना	श्रुतिरवधीनां
६५	२–३	लोभानाविष्ट	लोभाद्याविष्ट
,,	[illegible]	दुष्कृटो	दुष्कटो
,,	१०	तेषामरंभ	पवनश्च तेषामारंभ
,,	१८	मारणमन्य	मारणमन्यस्य
६६	२०	पचेन्द्रियो	पाचेन्द्रियो
६७	१	पचेन्द्रिणा	पाञ्चेन्द्रियो
,,	५	अगहीर्तिपरिहरणार्थे	अगर्हितपरिहरणार्थं
,,	१०	प्रमादस्य	प्रमादस्तस्य
,,	१[illegible]	अशकानि	अशुक्लानि
	,,	नवनीतनिम्ब–	नवनीत निम्ब–
६८	११	[illegible]	भोगोपभोगमङ्गागत
,,	१८	[illegible]	तत्र परिमित काले तत्कार
६९	१०–११	परित्र[illegible]दोषा- [illegible]	परित्रा[illegible] दोषापनय- नार्थं । [illegible]
,,	१८	[illegible]	तृषाद्यनुभवं
,,	,,	[illegible]	व्यतिक्रमा
७०	१–२	[illegible]	[illegible]
,,	६	[illegible]	[illegible]
७१	१३	[illegible]	[illegible]
,,	१०	[illegible]	[illegible]
,,	२०	[illegible]	[illegible]
७२	[illegible]	[illegible]	[illegible]

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
[illegible]	[illegible]	[illegible]तुरयन	सवत्सरमृतुमयन
,,	[illegible]	[illegible]	भुक्त्या
,,	[illegible]	[illegible]	सीमान्ताना
[illegible]	[illegible]	[illegible]	सामयिकं
,,	[illegible]	[illegible]	परभागे अपरभागे च
[illegible]	[illegible]	[illegible]	पण्ड
,,	[illegible]	[illegible]	कस्या सन्या ? गिनिवृत्याम्
,,	[illegible]	[illegible]	विकल्पन्य विशेषेग निवृत्या
,,	[illegible]	[illegible]	वेन्यत्राह
[illegible]	[illegible]	[illegible]	हिंमाविन्यादीना
,,	[illegible]	[illegible] ।	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	एवं [illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	×
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
,,	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible] यावात्	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible] ?	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

पृष्ठं	पंक्तिः	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८७	५	वन्द्यो	वन्द्यो देवो
८८	१४	दत्तमदत्तमिति	आहार्यवस्तुष्विद दत्तमदत्त-मिति
८९	६	देवकृते	देवाचेतनकृते
,,	११	अन्त क्रिया	अन्तक्रिया
९३	२	आत्ममम्वन्धा	आत्मसम्बद्धा
,,	१०	परिच्छिया	परिच्छेया
,,	२२	आत्मस्वरूपं	आत्मा स्वरूप
९४	८	एतैर्भूयिष्ठा	एतेभूयिष्ठा
९५	३	पथा	पथानो
,,	९	सन्निति	सन्तीति
,,	१०	नि शल्य	नि शल्यो मिथ्यानिदानमाया-शल्येभ्यो निष्क्रान्तो नि शल्यः
,,	२०-२१	एककस्य हि कायोत्सर्ग-विधाने चत्वार आवर्ता	चत्वार आवर्ता
,,	२६	प्रोपधोपवासगुणव्रत	प्रोपधोपवासगुण
९६	२,८	प्रणधिपर	प्रणिधिपर.
९७	१७-१८	निराकृता तस्य	निराकृता तस्या
९८	५	दृश्यते	दर्श्यते
,,	१९	लक्षणयुक्तत्व	लक्षणगुणयुक्तत्व
,,	२३	कोपीन	कौपीन
९९	१	तदश्नीतीति	तदश्नातीति
,,	१०	पापमेवाराति	पापमधर्मोऽराति
,,	११	धर्मस्य	धर्मश्च
१००	८	केव (	= 2

माणिकचंद्र-दिगम्बर-जैन-ग्रंथमाला ।

१ लघीयस्त्र्यादिसंग्रह—(१ भट्टाकलंकदेवकृत लघीयस्त्रय, अनन्तकीर्तिकृत तात्पर्यवृत्तिसहित, २ भट्टाकलंकदेवकृत स्वरूपसम्बोधन, ३–४ अनन्तकीर्तिकृत लघु और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि) पृष्ठसंख्या २२४ । मूल्य ।≈)

२ सागारधर्मामृत—पं० आशाधरकृत, स्वोपज्ञभव्यकुमुदचन्द्रिका टीकासहित । पृष्ठसंख्या २६० । मूल्य ।।।)

३ विक्रान्तकौरवीय नाटक—कवि हस्तिमल्लकृत । पृ० १७६ । मू० ।≈)

४ पार्श्वनाथचरित—श्रीवादिराजसूरिप्रणीत । पृ० २१६ । मू० ।।)

५ मैथिलीकल्याण—कविवर हस्तिमल्लकृत नाटक । पृ० १०४ । मू० ।)

६ आराधनासार—आचार्यदेवसेनकृत मूल प्राकृत और पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेवकृत संस्कृतटीका । पृष्ठसंख्या १३२ । मू० ।)॥

७ जिनदत्तचरित—श्रीगुणभद्राचार्यकृत काव्य । पृ० १०० । मू० ।)॥

८ प्रद्युम्नचरित—परमार राजा सिन्धुलके दरबारी और महामहत्तर श्रीपर्पटके गुरु आचार्य महासेनकृत काव्य । पृ० २३६ । मू० ।।)

९ चारित्रसार—श्रीचामुण्डरायमहाराजरचित । पृ० १०८ । मू० ।≈)

१० प्रमाणनिर्णय—श्रीवादिसूरिकृत न्याय । पृ० ८४ । मू० ।-)

११ आचारसार—श्रीवीरनन्दि आचार्यप्रणीत । पृ० १०४ । मू० ।≈)

१२ त्रिलोकसार—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथा और माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकृत संस्कृतटीका । पृ० ४८० । मू० १।।।)

१३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह—(१ श्रीनागसेनमुनिकृत तत्त्वानुशासन, २ श्रीपूज्यपादस्वामीकृत इष्टोपदेश पं० आशाधरकृत संस्कृतटीकासहित, ३ श्रीइन्द्रनन्दिकृत नीतिसार, ४ मोक्षपंचाशिका, ५ श्रीइन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार, ६ श्रीसोमदेवप्रणीत अध्यात्मतरंगिणी, ७ श्रीविद्यानन्दप्रणीत पात्रकेसरीस्तोत्र सटीक, ८ श्रीवादिराजप्रणीत अध्यात्माष्टक, ९ श्रीअमितगतिसूरिकृत द्वात्रिंशतिका, १० [illegible]कृत वैराग्यमणिमाला, ११ श्रीदेवसेनकृत तत्त्वसार (प्राकृत), १२ [illegible]कृत श्रुतस्कन्ध, १३ ढाढसी गाथा (प्राकृत), १४ पद्मसिंहमुनिकृत ज्ञानसार) पृष्ठसंख्या १८४ । मू० ।।।≈)

[illegible] अनगारधर्मामृत—पं० आशाधरकृत स्वोपज्ञभव्यकुमुदचन्द्रिकाटीकासहित । पृष्ठसंख्या [illegible] । मूल्य ३।।)

१५ युक्त्यनुशासन—श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिकृत मूल और विद्यानन्दस्वामिकृत संस्कृतटीका। पृ० १९६। मू० ॥।-)

१६ नयचक्रसंग्रह—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत नयचक्र, २ माइल्ल धवलकृत नयचक्र, ३ श्रीदेवसेनसूरिकृत आलापपद्धति) पृष्ठसंख्या १९८। मू० ॥।≶)

१८ षट्प्राभृतादिसंग्रह—(१ श्रीमत्कुंदकुन्दस्वामीकृत षट्पाहुड और उसकी श्रुतसागरसूरिकृत संस्कृतटीका, २ श्रीकुन्दकुन्दकृत लिंगप्राभृत, ३ शीलप्राभृत, ४ रयणसार और ५ द्वादशानुप्रेक्षा संस्कृतछायासहित) पृष्ठसंख्या ४९२। मू० ३)

प्रायश्चित्तसंग्रह—(१ इन्द्रनन्दियोगीन्द्रकृत छेदपिण्ड प्राकृत छायासहित, २ नवतिवृत्तिसहित छेदशास्त्र, ३ श्रीगुरुदासकृत प्रायश्चित्तचूलिका, श्रीनन्दिगुरुकृतटीकासहित, ४ अकलंककृत प्रायश्चित्त) पृष्ठ २००। मू० १≶)

१९ मूलाचार—(पूर्वार्ध), श्रीवट्टकेरस्वामिकृत मूल प्राकृत, श्रीवसुनन्दिश्रमणकृत आचारवृत्तिसहित। पृ० ५२०। मू० २॥)

२० भावसंग्रहादि—(१ श्रीदेवसेनसूरिकृत प्राकृत भावसंग्रह छायासहित, २ श्रीवामदेवपण्डितकृत संस्कृत भावसंग्रह, श्रीश्रुतमुनिकृत भावत्रिभंगी और ४ आस्रवत्रिभंगी) पृ० ३२८। मू० २।)

२१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह—(१ श्रीजिनचन्द्राचार्यकृत सिद्धान्तसार प्राकृत, श्रीज्ञानभूषणकृत भाष्यसहित, २ श्रीयोगीन्द्रदेवकृत योगसार प्राकृत, ३ अमृताशीति संस्कृत, ४ निजात्माष्टक प्राकृत, ५ अजितब्रह्मकृत कल्याणालोयणा प्राकृत, ६ श्रीशिवकोटिकृत रत्नमाला, ७ श्रीमाघनन्दिकृत शास्त्रसारसमुच्चय, ८ श्रीप्रभाचन्द्रकृत अर्हत्प्रवचन, ९ आप्तस्वरूप, १० वादिराजश्रेष्ठीप्रणीत ज्ञानलोचनस्तोत्र, ११ श्रीविष्णुसेनरचित समवसरणस्तोत्र, १२ श्रीजयानन्दसूरिकृत सर्वज्ञस्तवनसटीक, १३ पार्श्वनाथसमस्यास्तोत्र, १४ श्रीगुणभद्रकृत चित्रबन्धस्तोत्र, १५ महर्षिस्तोत्र, १६ श्रीपद्मप्रभदेवकृत पार्श्वनाथस्तोत्र, १७ नेमिनाथस्तोत्र, १८ श्रीभानुकीर्तिकृत शंखदेवाष्टक, १९ श्रीअमितगतिकृत सामायिकपाठ, २० श्रीपद्मनन्दिरचित धम्मरसायण प्राकृत, २१ श्रीकुलभद्रकृत सारसमुच्चय, २२ श्रीशुभचन्द्रकृत अंगपण्णत्ति प्राकृत, २३ विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतार, २४ शल्याकाविवरण, २५ पं० आशाधरकृत कल्याणमाला)। मू० १॥)

२२ नीतिवाक्यामृत—श्रीसोमदेवसूरिकृत मूल और अज्ञातपण्डितकृत संस्कृतटीका, विस्तृत भूमिका सहित। पृ० सं० ४६८। मू० १॥।)

२३ मूलाचार—(उत्तरार्ध) श्रीवट्टकेरस्वामीकृत मूल प्राकृत और श्रीवसुनन्दि आचार्यकृत आचारवृत्ति। पृ० ३८०। मू० १॥)

मिलनेका पता—**जैनग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय**, हि० हीराबाग, बम्बई नं० ४.